

To aid your studies during lockdown.

Contributed by :-

**Amrit, Anjali, Ankit, Preerna, Rishabh,
Swati, Tripti, Yamshi**

**A & U Tibbia College,
New Delhi**



COLLECTION OF VARIOUS

- > HINDUISM SCRIPTURES
- > HINDU COMICS
- > AYURVEDA
- > MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with
By

Avinash/Shashi

Icreator of
hinduism
server

विषय-सूची

प्रथम अध्याय : आनुषेद परिचय (विषय प्रवेश)

1. आनुषेद का विवेचन
2. आनुषेद का इतिहास
3. आनु : संक्षण
4. आनु के भेद
5. आनु के चर्चाएँ
6. भ्रष्टाण आनुषेद
7. नवाग्रह आनुषेद में काव्य-चिकित्सा सर्वोपरि

द्वितीय अध्याय : दोष धातु मल-प्राकृत वैकृत अवस्था

1. दोष विवेचन-निराळि, घुलाति, गुण, कर्म, भेद
2. दूष विवेचन-निराळि, घुलाति, गुण, कर्म, भेद
3. मल विवेचन
4. दोष धातु मल-धृदि : कारण, संक्षण, य चिकित्सा
5. धातु निरोद्धर विकार : चिकित्सा सूत्र
6. दोष दूष सम्पूर्छना : प्रक्रम एवं चिकित्सा सूत्र
7. दोषों का ग्रन्थग्रन्थ गमन य चिकित्सा सूत्र
8. दोषों की चिकित्सा गमिष्ठी

तृतीय अध्याय : ओज विवेचन

1. ओज : ऊर्ध्वाधा, प्रकाश, स्पान य गुण
2. ओज दूष धृदि के संयोग एवं कारण
3. ओज विकृति भेद
4. ओज दूष की चिकित्सा
5. ओज दूष जन्म व्याधियाँ
6. ओज : व्याधिशामित्र

चतुर्थ अध्याय : श्लोकम् विवेचन

1. श्लोक : परिग्रह एवं ग्रन्थार
2. श्लोक शृण्टि : विवाह, नवाग्रह य चिकित्सा
3. श्लोक का व्याधि चिकित्सा में महत्व

65-75

65

67

75

पंचम अध्याय : काव्य चिकित्सा विवेचन

1. 'काव्य'-निराळि, घुलाति, गर्भाति, ग्राह्य
2. काव्य के भेद - सत्र, ग्राह, ग्रहाति के अनुलाभ
3. चिकित्सा : निराळि, घुलाति, ऊर्ध्वाधा, पर्वत एवं भेद
4. चिकित्सा में ग्रन्थार चिकित्सार के कारण्य
5. चिकित्सा में व्याधि देने साध्य सूत्र
6. शेष चिकित्सा
7. चिकित्सा से साध्य
8. चिकित्सा जन्म विवेचन
9. उत्तराम : द्विविध एवं पद्धतियाँ
10. चिकित्सा में दोष, दूष, देश, काल, वर्जि एवं ग्रहाति का सूत्रम् चिकित्सा
11. चिकित्सा युलाप : ऊर्ध्वाधा, भेद
12. आनुषिक मत से चिकित्सा युलाप
13. अविचित्रत्य युलाप
14. काव्य चिकित्सा : ग्राह, परिग्रह, काव्य देश एवं घटक
15. आनुषेदीय काव्य चिकित्सा का चिकित्सा याता में चोगदान

76-153

76

78

85

100

101

102

102

103

103

103

129

133

135

135

135

148

158-198

षष्ठम अध्याय : व्याधि विवेचन

1. व्याधि : निराळि, घुलाति, ऊर्ध्वाधा, पर्वत एवं भेद
2. अब व्याधि भेद-उद्दिष्टित देश, निराळर्वार देश, वलायतीन देश
3. व्याधि सांकेत्य
4. व्याधि हेतु, प्रसादाय साधन
5. व्याधि नायकान शिद्धांत
6. रक्षान्वय एवं ग्रन्थार चिकित्सा एवं चिकित्सा सूत्र
7. व्याधुप्राणि में दोषों की कारणता एवं संबंध

सप्तम अध्याय : गिवान पंचक विवेचन

199-200

1. नैष्ठिक एवं सौकृतिक व्याधि हेतु

199

2. सौकेन्द्र व्यापि हंगु : चर्चा, लक्षण, प्रकार	200
3. बीबन्डुले का विद्युत में समाझो	209
4. विद्युत के बारे	210
5. दोष उत्तरार्थ हंगु	211
6. दूरीकर, हृष के विकास	217
क्षम्भ अध्याय : सम्माप्ति विवेचन	221-225
1. सम्भाल : परिचय	221
2. सम्भाल में	222
नवम अध्याय : क्रियाकाल विवेचन	226-238
1. क्रिया काल चरित्र	226
2. एक्टिव ज्ञान	227
3. क्रियाकाल का महत्व	234
4. क्रियाकाल व विकास	236
5. योग-व्याधि-टप्पय प्रायद्वारा विकित्ता	236
दशम अध्याय : योग-रोगी परीक्षा	239-250
1. योग रोग - विद्युत पंचक	239
2. योग रोग - विविध पर्यावरण	241
एकादश अध्याय : आप दोष विवेचन	251-267
1. अस्त्रोदीर्घ	251
2. अन : परिचय	251
3. अन-विभिन्न विवेचन - लक्षण	253
4. अन्यथा विकास गृह, विकास व योग	258
264	
द्वादश अध्याय : आदाण विवेचन	268-281
1. आदाण : दीम्पल, यंद के महत्व	268
2. आदाण उकार	271
3. विभिन्न आदाण, कारण व संहिता	272
4. आदाण विकास गृह व विकास	278

प्रयोगश अध्याय : उपद्रव व अरिष्ट विवेचन	282-293
1. उपद्रव : वीक्षण	282
2. विभिन्न रोगों के उपद्रव	283
3. अरिष्ट : वीक्षण	284
4. अरिष्ट लक्षण व उकार	284
5. विभिन्न रोगों के अरिष्ट	286
चतुर्वेदी शास्त्राय : चिकित्सा में सहायक अंग	294-332
1. व्याधि शीर्षत्व : चरित्र उकार व इनु के कारण व वर्षक उकार	294
2. रसायनिक यह : उकार	295
3. विकार अनुदर्देशक वा अनुदाद कार्य ग्रहित्वेष (मरुदूत, स्वयम्भूत, रसायन)	300
4. विकार उत्तरान्वयन विकित्ता	305
5. औषध संवत तंत्रोद्देश विवेचन	306
6. अनुदान विवेचन	311
7. योग-व्याधि व बहार, उकार	313
8. विभिन्न रोगों वे यथ	317
9. अन्यथा-वैद्योपिक आहार	318
10. अलाहृदाक अनुदूर्देश औरीय	321
11. अवर्द्ध अनुदूर्देश उकार	322
पंचदश अध्याय : विभिन्न चिकित्सा पद्धतियाँ	333-393
1. योग विकित्ता (Yoga Therapy)	334
2. प्राकृतिक विकित्ता (Naturopathy)	358
3. दूहारो विकित्ता (Unani Chikitsa)	368
4. सिद्ध विकित्ता (Siddha Chikitsa)	378
5. होम्योपैथी (Homeopathy)	382
6. एलोपैथी (Allopathy)	383
7. रेकी विकित्ता (Reiki Therapy)	385
8. चुम्पहोर विकित्ता (Magnetic Therapy)	386
9. रंग विकित्ता (Colour Therapy)	386

१०. संगीत चिकित्सा (Music Therapy)	387
११. गुणिप चिकित्सा (Aroma Therapy)	388
१२. एक्यूप्रेशर एवं एक्यूपूंचर (Accupressure & Acupuncture)	388
१३. हास्य चिकित्सा (Laughing Therapy)	391
१४. प्राणिक चिकित्सा (Pranic Therapy)	391
१५. छाली चिकित्सा (Clapping Therapy)	392
१६. हाय्पोहॉप चिकित्सा (Hypnotism Therapy)	392
१७. बायोकेमिक चिकित्सा (Biochemic Therapy)	393
	394-395

संदर्भ ग्रन्थ सूची

ग्रन्थ सूची

संकेताक्षर (Abbreviations)

अ.स.सू.	- अटार्ड संबंध सूत्र स्थान
अ.स.सा.	- अटार्ड संबंध गांतेर स्थान
अ.स.नि.	- अटार्ड संबंध निदान स्थान
अ.स.थि.	- अटार्ड संबंध चिकित्सा स्थान
अ.स.क.	- अटार्ड संबंध कदम स्थान
अ.स.ड.	- अटार्ड संबंध उत्तर स्थान
अ.इ.सू.	- अटार्ड इरप सूत्र स्थान
अ.इ.सा.	- अटार्ड इरप गांतेर स्थान
अ.इ.नि.	- अटार्ड इरप निदान स्थान
अ.इ.थि.	- अटार्ड इरप चिकित्सा स्थान
अ.इ.क.	- अटार्ड इरप वर्तन स्थान
अ.इ.उ.	- अटार्ड इरप उत्तर स्थान
का.स.सू.	- कारपर सौहित्र सूत्र स्थान
का.स.थि.	- कारपर सौहित्र चिकित्सा स्थान
का.स.पि.	- कारपर सौहित्र चित्र स्थान
गो.सा.	- गोमद्भगवद्गीता
च.सू.	- चारक सौहित्र सूत्र स्थान
च.नि.	- चारक सौहित्र निदान स्थान
च.थि.	- चारक सौहित्र चिकित्सा स्थान
च.पि.	- चारक सौहित्र विनान स्थान
च.सि.	- चारक सौहित्र चित्रित स्थान
च.शा.	- चारक सौहित्र शारीर स्थान
च.इ.	- चारक सौहित्र हानिप स्थान

ग.स.क.	- गरक संहिता करण स्थान
च.ट.	- चक्रादत
च.यो.	- पालगल योग सूत्र
पे.स.	- भेल संहिता
पे.र.	- धैवग्य रत्नावली
पा.प्र.	- भाव प्रकाश
पा.नि.	- माधव निदान
यो.र.	- योग रत्नाकर
वै.जो.	- वैद्य जीवनम्
शा.स.पू.र.	- शार्हभर संहिता पूर्व खण्ड
शा.स.म.छ.	- शार्हभर संहिता मध्यम खण्ड
शा.स.ड.ख.	- शार्हभर संहिता उत्तर खण्ड
हु.स.	- हुकुम संहिता सूत्र स्थान
हु.पि.	- हुकुम संहिता निदान स्थान
हु.गा.	- हुकुम संहिता शारीर स्थान
हु.वि.	- हुकुम संहिता चिकित्सा तन्त्र
हु.ड.त.	- हुकुम संहिता उठात तन्त्र
हु.स.	- हारीव संहिता
ह.प.	- हव योग प्रदोषिका

*** निम्नानुसूता ***

प्रथम अध्याय

आयुर्वेद परिचय

"न जनु कश्चिद्दमः पूर्वव्याप्तेव जापते।
अतो मृत्युर्वार्यः स्वातिक्तनु रोगो नियापते॥"

(शा.स.पू.र. 5/53)

अथात् संसार में कोई भी जीव अमर नहीं है, एवं मृत्यु का नियापत्त अंभव नहीं है परंतु आयुर्मान जीव में चिकित्सा के द्वारा योगों का नियापत्त किया जा सकता है।

बस्तुतः प्राणियों में विभिन्न प्रकार के योगों की उत्तरति आदि काल से होती आ रही है एवं योग नियापत्त के लिए चिकित्सक भी निःसंतर प्रयत्नरत्नत हैं। उत्तम स्वास्थ्य को बहुआयामी अवधारणा आयुर्वेदीय चिकित्सा विज्ञान में प्रत्युत्त योग गई है जो उत्तरत ही व्यापक है। आयुर्वेदीय चिकित्सा के द्वारा भिन्न (चिकित्सक) का उद्देश्य न केवल चिकित्सा द्वारा योगी को योग मुक्त करना होता है, अंतर्नु ननु योग को पूर्ण स्वास्थ्य लाभ का अवसर प्रदान करना भी चिकित्सक का कार्य है।

वेद एवं आयुर्वेद

इस लोक में उपलब्ध ग्रंथों में तत्त्वसे वेद व प्राचीन ग्रंथ 'वेद' है जो संख्या में चार है-

- | | |
|-----------|-------------|
| 1. ऋग्वेद | 2. यजुर्वेद |
| 3. सामवेद | 4. अथर्ववेद |

इनमें से ऋग्वेद य अथर्ववेद में आयुर्वेद विग्रहक ज्ञान प्रचुरता से प्राप्त होता है। वेद ग्रंथों में भी आरोग्य की कामना को गई है। आयुर्वेद अनादि य राजधर्म है। इसे अयुर्वेद का 'रपांहु' या 'पैषम वेद' भी कहा गया है। क्योंकि आयुर्वेद आयु का विज्ञान य आयु का पुनर्वत्तम वेद है।

1. इह ऋग्वेद गायेगाकृष्णीय वेदस्य ।
2. यजुर्वेदगौतम्यवेदः ।
3. तायागुरः पुष्टिनो वेद विद्यामः ।

(पु.ग. 116)

(प.म. 30/23)

(प.म. 1/43)

आयुर्वेद का इतिहास

प्राणीन काल में धर्म, अर्थ, कला य सोको (पुरुषार्थ चतुष्टय) की प्राप्ति य आगे जीवन की विकासमान से महार्पि भारद्वाज ने भगवान इन से आपुर्येद या इन प्रदान करने हिए प्रार्थना की। प्राणिमात्र के दुःखों को दूर बनाने य वन्हें आरोग्य लाभ प्रदान करने उद्देश्य से महार्पि भारद्वाज ने भगवान इन से इस ज्ञान को प्राप्ति की।

आदि गुरु ग्रहण ने एक लाख शूलक में अष्टाङ्ग आयुर्वेद की रचना कर उसका उपचार दश प्रवापति को दिया। दश प्रवापति से अधिकारी कुमारों ने तथा अष्टिनी कुमारों से भक्त इंद्र ने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया। महर्षि भारद्वाज ने इंद्र से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करने वाले लोक में अपने शिष्यों चरक, सुशूल एवं काश्यपादि को प्रदान किया। इस प्राप्त आयुर्वेद के ज्ञान उपदेश की भृत्यग्रा का निर्वाह प्राचीनकाल से आज तक आवार्यों द्वारा निर्धार्य रूप से चल रहा है।

आयखेंद्र का प्रयोग

आषाढ़ चारक ने आश्वेद के मध्य से प्रवेश किया।

- स्वस्य मनुष्य के स्वास्थ्य को बनाए रखना।
 - योगी प्रथा के योग का सिद्धान्त बताएँ।

आवार्य सुकृत ने भी आमुर्देव के चहों दो प्रयोजन बताये हैं, परंतु उन्होंने प्रथम गों
से ज्ञान देने के योग मुक्ति राष्ट्र द्वितीय, स्वास्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य का रक्षा करने का
प्रयोजन बताया है। इन्हों द्वेष्यों को पूर्ण देने आवार्य सुकृत ने प्रथम रोगों के
चिकित्सा का वर्णन पद्धति उत्तर चंद्र में स्वास्थ्य संरक्षण के लिए रसायन-याज्ञिकण का
वर्णन किया है।

आपार्ण चरक एवं वागभट्ट ने प्रधन स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य संरक्षण के उद्देश्य से रसायन एवं वान्यवर्तन का उल्लेख चिकित्सा से पहले किया है। चरक संहिता का अध्ययन "दोषज्ञायामीय अध्ययन" ४ य आषाङ्ग हृदय का प्रथम अध्ययन "आपार्णवामीयाध्याय" ५ के हर में वर्णित किया गया है औ दोषज्ञीवन को कामना के उद्देश्य से किया है।

आयु : लक्षण

जारी, इंडिया, मन, एवं आत्मा जै संस्कृत को आगे कहते हैं। वहाँ इंडिया शब्द से आधुनिक व अध्यनोद्दित दोनों पा हो प्रह्लण किया जाता है।

- | | | |
|----|---|---------------|
| 1. | पर्याप्त विद्युत उपलब्ध करना। | (प.पृ. 1/15) |
| 2. | प्रोटोकॉल समाप्त नहीं होना। | (प.पृ. 20/20) |
| 3. | इस उपलब्धी के प्रति अधिक लक्षण विद्युत उपलब्ध करना। | (प.पृ. 1/22) |
| 4. | प्रकारों की विविधता के बावजूद उपलब्ध करना। | (प.पृ. 1/1) |
| 5. | अपेक्षा ज्ञात विद्युत उपलब्ध करना। | (अ.पृ. 1/12) |
| 6. | सही उपलब्ध करना। | (प.पृ. 1/12) |

आयुर्वेद परिचय

धारा लेना, पहलक झटकना, मन के कठावों को गति देना, प्रेरणा, धारणा, इंटिय
रेंजर्स, रसायन में जन का अन्तर बढ़न, एक औंच से दूसरे विवरण को दूसरे छापा प्रहरण
करना, डक्टर, हंडर, गुण, दुष्कृति, विषय, चेंगना, धूमि, शुद्धि, सूति एवं अहंकार, ये अद्वितीय
के लक्षण हैं जो जीवित होने पर सर्व प्राणियों में जावे जाते हैं जब वही भ्रातुर् के लक्षण
प्राप्त हो गए हैं।

आप के पर्याप्त

भर्ती जोड़िया निकाय, लगातार एवं चेतावना दर्ज किए गए हैं।

भारी-जो खांस को यहने उसी द्वेष अपर्णा उल्लिख जो खांस करता है।

जीवित-जी प्राप्ति की प्रक्रिया करता है।

नित्यान-जो सर्वश प्रति थान चलता रहता है। सर्वमें नित्य नये नये पारंपरीन होते हैं एवं आपु नित्य चलाती रहती है। ये जीवन्तर्देश इनसे मृत्यु होते हैं किं दुष्टप्रयर वहो होते हैं। यह जीवन् या आप का नित्य होने का संकेत है।

अनुदृष्ट-आपु जो संवेद पर दृष्ट अपर शरीर में या द्राव से जड़ बना रहा है। एक अपर को शोषण द्वारा जीव को खाल करता है अनुष्पृष्ठ है।

आप के प्रेह

आर्यां चारक ने यात्रा के प्रस्तुत अध्याय में यात्रु के विज्ञ चार भैंड बहलाये हैं-

1. शिव अम 2. अद्वितीय 3. उत्तम 4. द्वितीय

इन चार प्रधार को आमु के तिर हिल (पाप), जाही (अरप्प), इसका मान (प्रमाण) एवं आयुर्वेद का स्वत्र दिस शत्र में बताना गया है उसे ही "आमुर्वेद" कहा जाता है।

- हित आमु के लक्षण-ग्राहकों को भट्टरं चलने वाले, पर उन को इच्छा न रखने वाले, सत्यवादी, शांतिरम्भी, विद्यारथी, सत्यवधार रहनेवाले, धर्म, अर्थ, प्रगति इन तीनों को सम्पर पर करने वाले, पूर्णों को पूर्ण फलनेवाले, शृंखलार, शांतिरम्भी, पूर्णों को सेवा करने वाले, राजा, ईश्वर, नद, मातृविधायिणों वाले भारत करने वाले, अपदाप एवं विद्या को ज्ञाननेवाले स्मरण शठिकुल पूर्णों को आमु 'हितामु' कहलाती है।

काय-चिकित्सा

2. अहिंसा के संशण-हित आयु वो विषरीग पुरुषों की आयु 'अहिंसा' कहलाती है।
3. सुखायु के संक्षण-'लो मनुष्य झारेंरिक या भानसिक दोगों रो आक्रान्त नहो है, यिंद्र बत मुख है, कार्य बतने में समर्थ है, गल, चीरं, धीरं, यश, पुरुषार्थ एवं पराक्रमशोत है, ज्ञान, विज्ञान एवं इन्हिय बल से मुख य अति समर्पित है, जिसके सभी इच्छाएं बर्त पूरे हो जाते हैं, जो अपनी इच्छानुसार भवन करने काला है, ऐसे पुरुष की आयु 'सुखायु' कही जाती है।
4. दुःखायु के लक्षण-सुखायु से भिन्न मनुष्यों की आयु को दुःखायु बताते हैं।

आषाढ़ आयुर्वेदः

आयुर्वेद के मुख्य प्रयोजनों की पूर्वि के ठारेय से अष्टा जी ने आषाढ़ आयुर्वेद का उत्तरेत किया था यो निम्न प्रकार है-

1. आचार्य चरक मतानुसार
2. कर्म चिकित्सा
3. रसायनक
4. विकार वैयोगिक प्रशान्ति
5. भूतिया
6. शैवानामधूत्य
7. रसायन
8. घटोकरण
2. आचार्य सुश्रुत मतानुसार
1. रस तंत्र
2. रसायन तंत्र
3. घटोकरण
4. वैयोगिक
5. शैवानामधूत्य
6. अष्टाद तंत्र
7. रसायन तंत्र
8. घटोकरण

1. वा राजनीतिकार्यमें देशभक्तिकार्यमें	मानवतों विवरणों
2. राजनीतिकार्यमें, राज्य वर्त्यार्थिकार्य, राज्यार्थ, राज्यार्थ, विवरणोंके विवरणमें	(प्र. १०/२४)
3. भूतिया, शैवानामधूत्य, राज्य वर्त्यार्थिकार्य, राज्यार्थ, विवरणोंके विवरणमें	(प्र. १०/२५)

(प्र. १०/२५)

आयुर्वेद चिकित्सा

भूतिया

रसायन

घटोकरण

आचार्य चार्यभूत मतानुसार

1. काय चिकित्सा
2. ऋष्यों चिकित्सा
3. रस तंत्र
4. दुर्दा चिकित्सा
5. ग्रह चिकित्सा
6. जड़ोंकार भूत्य
7. जग चिकित्सा
8. वृप् चिकित्सा

आषाढ़ आयुर्वेद में आचार्य चरक ने चिकित्सा की प्रथान्तर देते हुए जग चिकित्सा को प्रथम चार्णत किया है तथा आचार्य चुकुप ने रस तंत्र को प्रथान्तर देते हुए रस तंत्र को प्रथम चार्णत किया है। शेष अन्हों का बदल देने वालों आचार्यों ने दूस हो जब से किया है। इस बदल से यह स्पष्ट है कि चरक संहिता काय चिकित्सा (Medicine) प्रथम इव चुकुप संहिता रस्य (Surgery) प्रथम संहिता है।

आचार्य चार्यभूत ने अषाढ़ इनमें इन अन्हों ने 'भूतिया' के लिए 'ग्रह चिकित्सा', 'शानाकर्य तंत्र' के लिए 'ऋष्यों चिकित्सा', विवरणोंका दूस आद तंत्र के लिए 'दुर्दा चिकित्सा', रसायन के लिए 'जग' तथा घटोकरण के लिए 'वृप् चिकित्सा' शब्द का प्रयोग किया है किंतु नूल भाष्यमें एक ही है।

आषाढ़ आयुर्वेद के विभिन्न अन्हों वर्ष वर्ष निष्ठ प्रकार है-

1. कायचिकित्सा (General Medicine)

'कायचिकित्सा' वाप सर्वानुसंधितानां व्याधीनां व्यारक्तिष्ठौपांचादा-परमारकुष्ठेहातिसारादीनामुपशमनार्थम्।'

(कु. सू. १४)

आयुर्वेद के जित अंग में सर्वद्वारा गत रोगों जैसे ज्वर, रक्तप्रवाह, शोष, उमाद, अपराग, युष, प्रमेह, अतिरक्त आदि के शमन करने के विविध उपायों का वर्णन किया गया हो उसे 'काय चिकित्सा' कहते हैं।

2. रसायन चिकित्सा

(कु. सू. १५)

— ६५ —

आयुर्वेद के आद्यों अत्यन्तों में 'काष चिकित्सा' सर्वश्रेष्ठ है। आधुनिक पिण्डितगण इसमें ग्लोबल General Medicine से काष चिकित्सा का ग्रहण किया जा सकता है,

२. शास्त्रीय तंत्र (General Surgery)

‘तत्र शाल्ये नाम विविधतुणकाष्ठपापणपौशुलीहलोटास्थिवालनखपूयास्त्रावृद्धवृणाल्पंभृशत्त्वेद्वर्णार्थं, यंवस्त्रशक्तागतिप्रिणिधानवृणविनश्चयार्थच।’

(स. संख १८)

आयुर्वेद के विसं अंग में अनेक प्रकार के तृण (धात), काढ (लकड़ी), पत्थर, घूल के बग, हौंह, मिट्टी, हड्डी, केश, नज, पृथ (Pus discharge), दूषित द्रव्य, अन: शल्प एवं गंभीरत्य (मृत गर्भ) आदि को निकालने का ज्ञान, यंत्र, रास्त, क्षात्र, अंगि क्रम करने का ज्ञान हाथा इन्हों को आय, पच्चमान तथा चक्रावस्थाओं का निश्चय किया जाता है उसे 'शल्प तंत्र' कहते हैं। आयुर्विक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार इसका General Surgery से सम्बन्धित स्थापित किया जा सकता है।

३. शालाक्ष्य तंत्र (E.N.T.)

‘शालाक्यं नामो ध्वंजत्रुगताना’ श्वरणनयनवदनष्टाणादिसंभिताना
स्थापीनामप्यस्मान्यम् ॥

(मु. नं. 1/8)

(पु. पू. 187) अमुर्वद के निम्न अंग में जातु के लक्षण भाग में स्थित जहान, नेत्र, मुख, नासिका अंगों में होनेवाले धौंपत्रों को साल्टे के डधार्यों का बर्णन किया गया हो तथा शाल्वक्रम पंथों के वर्णन तथा प्रयोग करने वाले विधिय का वर्णन किया गया हो तदे "शाल्वक्रम तंत्र" कहते हैं। अमुर्वदिक चिकित्सा में शाल्वत Ear, Nose एवं Throat संबंधि दोषों के बर्णन एवं दर्दीय विकल्प से दर्शाया तंत्र का प्रारूप किया जा सकता है।

4. अगद तंत्र (Toxicology & Jurisprudence)

‘अगवदन्व नाम सपंकौट्लूतापृष्ठकादिदृष्टिविषयक्त्रिनार्थं विविधविषयं गंगेष्वप्तुमार्थं च’।

(स. संख. १४)

(पु. नं० १४३)
न, कांट, लूटा (मकड़ी), पूर्ण आदि के काटने से डत्कन विष लक्षणों को दर्शाने के सहित दृष्टि अवैक प्रकार के दृष्टिगतिक, कृतिग्रंथ एवं संयोगज विषों से डत्कन विषाङ्गों के प्रभाव का जिस रासायन में वर्णन हो डॉस 'अगद तंत्र' कहते हैं। अगद तंत्र से अधिक विषाङ्ग विज्ञान में वर्णित Toxicology and Jurisprudence किया जाता है।

5. भूतविद्या (Science of Devils, Giants, Evil spirits, Demons etc.)

‘भूतविद्या नाम देवामूर्तीपर्वत्यक्षरक्षः पितृपिशाचनाग्रहाद्युपसृष्टचेतसं
शान्तिकर्मविलिङ्गारणादित्योपासनार्थीय ।’

(नं. संख्या १४)

आपुर्वेद के नियम अंग में ईश, दैत्य, भूधर्म, यज्ञ, ग्रहस्त, चिटार, पिण्डाच, नाशादि ब्रह्मों से पीटिता चित याते रहींगों को जीति के लिए जीति चाट, जीति प्रदान, हवन आदि ग्रह द्योष शामक क्रियाओं का वर्णन किया गया हो ठगे भूरिदार कहते हैं। भूत पिण्ड का वर्णन Devils, Giants, Evil Spirits and Demon इन्द्रादि से संबंधित science से निलक्षण है।

6. कौमार भूत्य (Paediatrics)

'कौमारभृत्यं नाप कुपारभरणधारीश्चो दोषसंगोथनार्थं दुष्टलन्वय्यहसपुत्रानांच व्याधीनामपशमनार्थम् ॥'

(प. प्र. 1/8)

आयुर्वेद के जिस अंड़ू में धातवों के पोषण, धात्रों के द्रुत्यके दोनों के संशोधन के उपाय तथा दूषित दुन्पचान एवं ग्राहों से डरने व्यापिकों की चिकित्सा का बनने हो उसे कौमार भूत्य कहा जाता है। आयुर्वेदिक चिकित्सा रिझान में यांत्रिं पैदेट्रिक्स से कौमार भूत्य की तुलना की जा सकती है।

7. रसायन तंत्र (Geriatrics)

‘रसायनतत्त्वं नाम चयःस्थापितमावृप्तेषु धार्वलकर्णेणापहरणस्तपर्यञ्ज ॥’

(त. च४ १९)

युवावस्था को अधिक सन्तुष्ट हक यन्मध्य राजने के उपाय, आम, धारण हाई, बल की चूटि राजने के उपाय तथा शर्हर की स्वास्थ्यवर्क रेग्राइटेपक शक्ति (Natural Immunity) को चूटि के डपायों का नियंत्रण में बदल हो दसे रखायन तंत्र कहते हैं। रखायन तंत्र में आधिकारिक चिकित्सा विज्ञान में संबंधित Geriatrics का प्रबन्ध करते हैं।

८. वाजीकरण हंत्र (Aphrodisiacs)

'याजीकरणतन्वं नामात्पदुष्ट क्षीणविशुष्करेतसामाप्यायनप्रसादोपचयजनम्
निपत्ति प्राप्यजनार्थं च।'

(स. सूत्र 1/8)

अल्प, दूष, क्षीण, एवं नुक्ख योर्प वाले मनुष्य के योर्प को पुण्डि, शोधन, धूँदि एवं उत्तेजित तथा स्वास्थ जौगांव में मैथून के समय हर्ष यद्यपि ये चिकित्सा वालों का वर्णन इह शास्त्र में लिया जाता है उसे शारीकरण तंत्र फहते हैं। बाजानीकरण तंत्र का वर्णन आधुनिक चिकित्सा विगत के Achrodisiacs के वर्णन के समान है।

आयुर्वेद में काय चिकित्सा का प्राधान्य

आयुर्वेद के इन आठ अन्तों में काय चिकित्सा प्रमुख है, पर्योक्ति इसमें शीत और हो जित्रूत एवं गहन है। काय चिकित्सा के अन्तर्गत सहीर में होने वाली समस्त व्याधियों का चिकित्सा कर सकता है। आयुर्वेदिक चिकित्सा में भी विभिन्न व्याधियों की चिकित्सा उच्चनं 'Internal Medicine' नामक शास्त्र के अन्तर्गत प्राप्त होता है।

काय चिकित्सा एवं Internal Medicine में साम्य

काय चिकित्सा एवं Internal Medicine में अल्पविकल्प सम्म्य है। आयुर्वेद मतानुकूल शास्त्र में 13 व्याधि के स्रोतस वर्णित हैं एवं उन्हीं स्रोतों की दुष्टि के अनुसार व्याधियों के नियन्त्रण एवं उन्हें चिकित्सा का बर्णन काय चिकित्सा में ग्राह होता है। यथा—प्राणकृति खोलने की व्याधियाँ—झास रोग (Bronchial Asthma), कास रोग (Cough) आदि, रेतकृति खोलने की व्याधियाँ—ग्रहणी (Sprue) रोग, अतिरार (Diarrhoea), प्रवाहिति रोग (Dysentery) आदि।

इन्हीं प्रकार Modern Medicine में विभिन्न systems की दुष्टि के अनुसार व्याधियों का बर्णन ग्राह होता है। Respiratory system की व्याधियों में अस्थमा रोग, Bronchial Asthma, Pneumonia, आदि। Digestive system की व्याधियों में Diarrhoea, Dysentery, Sprue आदि।

मनुष्य: दोनों ही विधियों में बर्णन की दुष्टि से काफी साम्य है किंतु चिकित्सा की दृष्टि में आयुर्वेद में चिकित्सा है। Modern Medicine में किसी भी रोग की चिकित्सा विभिन्न ग्रंथियों में एक ही प्रकार की औषधि (Medicine) से की जाती है यथा—ज्वर (Fever) में Paracetamol हर गंभीर को दो जाती है एवं विभिन्न Infectious Diseases में Antibiotics का प्रयोग होता है जिसमें रोगानुसार तो विभिन्नता है परंतु रोगी के अनुसार विभिन्नता नहीं है। किंतु आयुर्वेद में चिकित्सा सिद्धांतों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में दोष, उत्तम, द्रव्यग्रंथि, दोष, अतिरार, अतुर तथा व्यव आदि को ध्यान में रखकर रोगी की विष-भित्र प्रकृति के गंभीरों में ज्यर की चिकित्सा भी विष-भित्र सिद्धांतों के अनुसार होती है।

व्याधि एवं चिकित्सा की दुष्टि से आयुर्वेद का 'भूत रास्य' तथा 'लोक पुरुष' एवं विद्वान् अवस्था महावृत्त है। "या पिण्डं तत् व्रह्मण्डे" के सिद्धांत पर आधारित आयुर्वेद पद भाष्यालयक [पंचगामाभूत+अव्यक्त योग (आत्मा)] पुरुष वो कल्पना करता है एवं युवा: लग्नोऽन्तिपरात्मसांयोगो भारि जीवितम् द्वाप धूमणशीष आयुर्वेदिका उपर्युक्त करता है।

पवृष्य एवं उत्तरके पर्यावरण के धोय घस रहे Interaction के आधार पर ही मनुष्य

आयुर्वेद पर्यावरण

का स्थान्त्रण निर्भी करता है। इसे से दोनों वैश्वान्यर्थ व्यापि उत्तरत होती है। मनुष्य एवं पर्यावरण के Interaction के दोनों मुद्रा विन्दु हैं—

1. अग्नोन्द्रित्वर्थ संदेश
2. प्रज्ञाप्रय
3. काल (परिकाल)

इन्हीं दोनों का अविदेश, होनेवाले या मिलनावाले गंभीर का उन्मुख जरूर है।

मनुष्य द्वारा संकेत का पर्यावरण दोनों योगात पद्धति (पंचगामाभूत) ने जाने हैं। मनुष्य द्वारा दो भागों की वृद्धि एवं धब्बे की स्थान में उत्पन्न भागों (पर्यावरण भागों) द्वारा "सर्वेदामर्य भाष्यान्वयं सामान्यं वृद्धिकरणम्" द्वारा "क्षमाद्विविन्देव उन्मुक्तिपदम्"। इस घटकोंका साधान्य-विशेष लिङ्गान के अनुसार वास्तविकत्व में दृष्टा या सकता है। यही आयुर्वेदीय चिकित्सा का अधिक नूत्र है।

वैदिकान समय में अनेक चिकित्सा पद्धतियाँ, यथा Unani, Siddha, Magnetic Therapy, Accupressure & Reiki इन्हीं इन्हें द्वारा दो विकित्सा पद्धति ने आयुर्वेद का सम अनुष्ठानक व दोनोंका विकित्सा का बर्णन द्वारा होता है यद्यों भी चिकित्सा या नहीं।

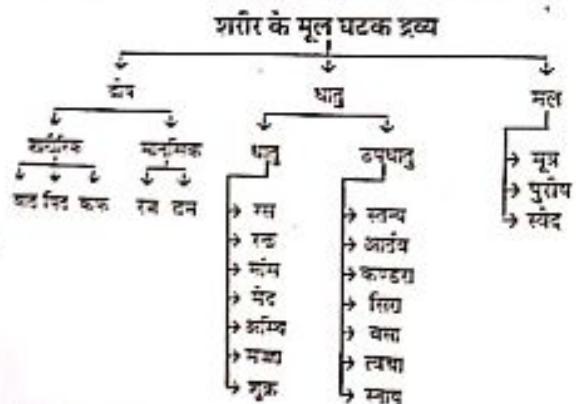
(आयुर्वेद नामां एवं नन दोनों में सम्बद्ध मनुष्य जीव ही निर्देश द्वारा है। अतः ये समस्त सिद्धांत आयुर्वेद एवं काय चिकित्सा का अन्य विकित्सा चर्चाओं से वैदिक्य प्रदर्शित करते हैं।

*** निम्नलिखित ***

द्वितीय अध्याय

दोष-धात्-मल-प्राकृत व वैकृत अवस्था

अनुरूप दृष्टि में दोष (सार्वत्रिक व मानसिक), धातु, वस्त, आत्मा, ईश्रिय व कृति के दृष्टिकोण से देखने गहरे हैं। स्वस्यमावस्था में प्रिंटीग, धातु एवं वस्त के सार्वत्रिक दृष्टि करने वाले हैं इनलिए इनको सर्वांग का मूल कारण कहा जाता है। अनुरूप दृष्टिकोण के तिर छिपा सर्वांग के साथ ही दोष-धातु-वस्त, अंग, अंगभूत, उद्भव, वस्त्रम्, यन्त्र आदि का दृष्टि ज्ञान अर्थात् है। दोष-धातु-वस्त एवं उद्भव है। वस्तुः दोष कर्त्ता उद्भव, दृष्टि (प्रकृति) युग्म प्रयत्न एवं यज्ञ दृष्टिकोण ही है। अऽति-दृष्टि-कर्त्ता दोष भी है, धातु भी है एवं वस्त भी है। अऽति-दृष्टि-कर्त्ता एवं वस्तु की उद्भवन्, विषयी एवं विकास के तिर उठतर्हाई होते हैं। उचित आहार, नियन्त्रण व चार्यवर्ग वैदेश ने ऐ उचितकृत रहकर देहपुरी, सर्वांग वस्त, ईश्रिय वस्त एवं मनोवस्त इनका करने हृषि बन्दुक जैसन को तुम्हारी विनियोगी रखते हैं। वातावर्द्ध प्रयोगों को "ज्ञानम्" दृष्टि धारण-विनाय व उद्भवर्पर्य को "दृष्टि दृष्टिकृतम्" कहते हैं।



१. देवदत्तकुमारी की संरक्षण
 २. श्रीकृष्ण का वापसी देवदत्तकुमारी की संरक्षण
 ३. (पुनर्जन्म २१०)
 ४. देवदत्तकुमारी की संरक्षण

ページ 15-1

(四四 11)

द्वाष विद्युत

३५

‘शरीर तृष्णनीति दोषाः’ अर्थात् ये दोष या भलुओं को दूरित करे उसे दोष नहीं हैं।

15

• १८५ •

१. राजीविक दोष
 २. सर्विक दोष

सार्वजनिक इंसान द्वारा ही बदल दिया जाता

प्राचीन देशों के - यह वांछा

विशेष-आवाजों ने जड़ों-जहाँ पर रुद्र की चमुर्द दोष या वै किंतु रुद्र दोष नहीं है। स्पौदक रुद्र याकृष्णि दोषों में दूसरे होने के बावजूद रुद्र याकृष्णि दोष है, याकृष्णि दोष से जहाँ। अतः यहाँ भी रुद्र की दोष याकृष्णि दोष है वह गीति कथ्य में भी क्रौंकों दोष याकृष्णि कहने वाला है जो स्वयं दूष होने के बावजूद उल्लङ्घन करते थे याकृष्णि का निवारण करते।

बायोट्रॉफ फ़ल्स असिल-पूर्व-मेन के ही उत्तरीय भाग में एवं प्राकृत अवस्था में रहने वाले शरीर का विद्युत (Neuro-humoral functions), अवृद्धि (Catabolic functions) एवं विस्तार (Anabolic functions) आदि क्रियाओं के द्वारा उसे प्रकार यतीर का धारण करते हैं जिसके पश्चात अन्य क्रियाएँ करने (Diffusing power), पूर्ण अपने आदान करने (Assimilating power) एवं चंचल अन्य वित्तान करने (Creating power) द्वारा बगत का धारण करते हैं।

पंच महाभूत एवं त्रिदोष

आपुर्व नक्षत्रार नमम् इम् शब् भौतिक है। अतः विदेश भी इस्य होने से संबंधित हैं। विदेश की उत्तरी में देवदहारा निम्न रूप से सड़भागों होते हैं-

अनुवाद - विष्णु महाप्रसाद -

अखिल नहायत -

अल + पुर्यो नहाभू -

- पात्र रिंग करकोहः सारी दौर यस्तः ।
यस्तः पुरानोहः राज दूष दूष ॥ (पृष्ठ 157)
 - सारानन्दं दृष्टिकर्त्तुम् दैवतं दृष्टिकर्त्तव्यम् एवं दृष्टिकर्त्तुम् दैवतानन्दम् ॥ (पृष्ठ 157 वा चक्रचनि)
 - दिवानामास्त्रोहः देवदृष्टिकर्त्तव्यम् ॥ दैवतानं दृष्टिकर्त्तव्यम् दिवानामास्त्रम् ॥ (पृष्ठ 213)

जिदीको को हात्या में पृथक्-पृथक् महाभूत करना है, लैकिन प्रत्येक महाभूत का क्षम्य उसी में रहता है। जिस महाभूत को अधिकता रहती है उसी का व्यवस्था किए जाते हैं।

दोषों को विभिन्न संज्ञा

विदेश भाषा-वर्णना में शरीर का धारण करते हैं अतः "धातु" कहलाने हैं, विवरण-वर्णना में शरीर को दृष्टिगत करके ऐप ढापन करते हैं अतः "दोष" कहलाने हैं। शरीर को ब्रह्मदं करने के कारण इन्हें "मल" भी कहते हैं। प्रायः उनके विवरण-वर्णना ही सभी के में जाने के कारण विकितस्ता क्षेत्र में इन्हें-अधिकतर त्रिविदेश ही कहा जाता है।

दोस्रे केविभूत स्थानः

यद्यपि इंटरेंट सर्वेतोलालड होते हैं किंतु भी शहर में इनके विशिष्ट स्थान हैं। नोट्स से चौंच कर का लॉग ब्रॉवर व इंटरेंट के चौंच परिच का ददा इंटरेंट से ज़ेर करक का विशिष्ट स्थान है। इन स्थानों पर अब दोपों से भी चौंच दरवाज़ होने पर स्वतन्त्र दोप का कुछ न कुछ अनुभव होता है।

दोषों के लक्षण

उत्तेज दोष का दृष्टि (धातु, उपजातु व नलों) के साथ आक्रम-आक्रमणीय अवस्था है। दोष इन दूर्लभों ने आक्रिय रहने पर भी इनके विरिष्ट आक्रम हैं। आक्रम धूतु यज्ञ का, उत्तेज व रक्त विच का द्वया रक्त, योग्य, उत्तेज, नवा, गुरु, मूर्त व पुरुष वक्त के आक्रम हैं।

विद्युत-बंद आहार-विहार या अंगमध व्याक्रम या आश्रयी में से एक को बृद्धि या दूषकरण है जो हो दूसरे को बृद्धि या दूषकरण है जैसे दूष गूँह को चढ़ाता है वह व्याक्रमी करने को भी चढ़ाता है ऐसे वो करने को चढ़ावेणा वह मैट्र करने भी चढ़ावेणा पानु अंगमध ऐसे व्याक्रम इसके लक्षण हैं। जलांक धारा ये मलों को बृद्धि संतरण से होती है ऐसे दूर्वास में करने वृद्धि व वात दूष होता है लक्षणमें से अस्थि धारा दूष होता है ऐसे वात को बृद्धि होता है।

नान एवं रज्जु दोष की प्रक्रिया

परमाणु दोनों रासायनिक दोष व दोनों मानविक दोष योग उत्तम करते हैं किंतु भी योगसंबद्धता की दृष्टि से रासायनिक दोनों में 'यात्र' व मानविक दोनों में 'रख' दोष की प्रथमता होती है।

1. राजनीतिक सम्बन्धों के दृष्टिकोण से विवरण देना। इसके लिए विवरण देना। 2. विवरण देने के लिए विवरण देना। (प्रश्नपत्र 5/24)
 (प्रश्नपत्र 12)

यात्र की प्रधानता का कारण

- नित लांच करने वाले गहिर हैं दशा पानु दर्शन में याति गहिर छोड़ते हैं, इन्हें बदल ही अनन्त उत्तम से गहिर उत्तम होता है दर्शन वहाँ से लेना चाहिए है वहाँ से जलता है। इसमें उत्तम उत्तमिति से दर्शु उत्तमों को उत्तमकर वहाँ से उत्तम है वहाँ वर्ण होता है। इनमें उत्तम बदल दोष नित दर्शन करने की अनन्त प्रेरणा से दर्शन में कहीं भी से जलता है।
 - उत्तम होने से, नवाच के मूलपद्म लोटीनों में उत्तम कर उत्तमिति में रोग ढारण करने से, उत्तमिति को लोटीका बदलपद्म होने से, नवाच उत्तमिति होकर अन्य लोटीनों को भी उत्तमिति करने से दशा उत्तम-उत्तम होती को उत्तम करने के बदल उत्तम-उत्तम दोषों से बदल उत्तम दोष है।

रख दौष की प्रधानता का कारण

रद मुक्त प्रवर्द्धक व चतुर होता है। इस प्रकार बलेन दोनों में 'चतुर' परिवर्तित होने से प्रधान है इसी प्रकार बलेन दोनों में 'प्रवर्द्धक' व 'चतुर' होने में 'चतुर' दोब प्रधान है। प्रकृतित हुए दोनों में दैवताद्वय यज्ञ यज्ञ शमन्त चतुर होता है। अतः बलेन दोनों होने से यज्ञ होने के प्रयत्न का कालन है। यज्ञ दैवताद्वय प्रधान होता है।

1. शारीरिक दोष
यह तीन होते हैं-

 1. जल
 2. पित्त
 3. कफ

१ बत्त दोप

निराकृ-‘या योग सम्बन्धमें’ यात्रुं ते ‘कर्ता’ राह चढ़ा है इसका जीविताव है दृष्टसाह, गाँव, इकाइया, सूचन, हिस्स, तात्पर्य प्रतीक।

स्वरूप-अनुरूप एवं अमृत। अमृत होते हुए ऐसा कर्म के द्वारा जीवता है। यह रोगी गुण इधर होते ही समर्पित कर्मों का प्रत्यक्ष है एवं प्रेरक रूप है।

बाबू के मणि-प्रकृत यात्रे के गुणों की तीन भागों में चांटा जा सकता है-

1. भौतिक गुण
 2. ज्ञानीय गुण
 3. वित्तीय गुण

१. वात के भौतिक गुण- याता दोष में वायु महाभूत के गुणों के अतिरिक्त अन्य नहान्दूरों के गुण भी चाह जाते हैं।

(1) रुक्ष, (2) शोत, (3) लय, (4) सूक्ष्म, (5) चल, (6) विशद्,
 (7) चर, (8) पत्त्व, (9) दारण, (10) अनवस्थित एवं (11) योगवाही, ये शब्द के
 प्राकृतिक ग्रन्थ हैं।

2. वात के प्राकृतिक गुण-‘त्रिगुणात्मक’ मूल प्रकृति से, सूष्टि के उत्पत्ति क्रम से उत्पन्न वायुवाहाभूत के प्राकृतक वायु में ‘सत्त्व’ एवं ‘रूप’ गुण अत्यधिकारा में रुदा ‘रुद’ गुण अधिक होता है। अतः रुद्य वाहू होना चार का प्राकृतिक गण है।

3. वात के नैतर्यिक गुण-'आयु' आकाश के बाद दूसरा महाभूत है। उसमें जलन्तरिक गुण 'स्त्री' को रहता ही है साथ ही 'आकाश' महाभूत का गुण 'शब्द' भी रहता है। अब: वात के नैतर्यिक गुण 'शब्द' व 'स्पर्श' हैं।

वायु के प्रकार का सं

1. दृष्टिकोण (कार्य करने की जटातारिक व मानसिक प्रवृत्ति), उच्चशास, नि:शास, चंदा (भाष्यिक, धार्मिक, मानविक), खातुओं में सम्बन्धित, गतिशील मत्तों (मृत्, पुण्य, अवैद) का डिविड समय पर सम्पूर्ण निष्कासन आदि अविभूत दात के प्राकृत कर्म हैं।
 2. इसके अतिरिक्त शहर रूपों यंत्र को धारण करना, मन का नियमन, मन व दृष्टियों को अपने विषयों में संगाना, शान को आधा तक पहुंचाना, सर्व धातु व स्तरों यंत्र रखना करना, नरों का नियंत्रण, आदि यथा प्रेरण, स्थूल व सूक्ष्म संग्रहों का नियंत्रण करना, यसेंद्र या शोषण, गर्भवृत्ति या नियाणि, गर्भ

 1. (I) एवं दूसरे तथा: युगम संतोषित विदातः यदः । (प.ग. 1/59)
 - (II) वृष्ट्यापुरुषं वृष्ट्यापुरुषवायः पर्वते वायुज्ञाना भवद्वन्नः। (प.ग. 12/4)
 - (III) वायुज्ञानं वृष्ट्यापुरुषं वृष्ट्यापुरुषवाय विदातः । (प.ग. 8/48)
 2. एवं वृष्ट्यापुरुषः । (गु.गि. 1/8)
 3. तीव्रवृष्ट्यापुरुषं वृष्ट्यापुरुषः वृष्ट्यापुरुषः । पूर्ववृष्ट्यापुरुष वृष्ट्यापुरुषः ॥ (प.ग. 1/28)
 - उत्तरवृष्ट्यापुरुषः वृष्ट्यापुरुषवायिनः । वृष्ट्यापुरुषं वृष्ट्यापुरुषः । क्षम्यविद्यवद्वन्नः ॥ (प.ग. 18/60)

दोष-धूत-मल-याकृत य चैकृत अन्यम्भा

गिरजाघर अद्वितीय के प्राचीन जर्मनी ।

3. यात् को प्राचीनों की आत् का मौखिक व विषयता जहा है तब सम्बन्धित विषय को 'प्राप्त' रूप से उल्लिखित किया है तब 'प्राप्त' भी कहा है।

द्वात्र के लिखित स्थान

पर्यावरण, कट्टि, मरिन (सूख की अवस्थाएँ), योजना, बूँदेशन (Large intestine) जैसे अधिक चमकारीलियत वाले के स्थान हैं। इनमें पर्यावरण जहाँ जो विनिष्ट स्थान है। पर्यावरण को यहाँ विनिष्ट स्थान करने का उद्देश्य है कि पर्यावरण अविनियोगी की ढार्हिता का स्थान है यहाँ चार्ट बायो के विकास को सुनियंत्रित कर दिया जाये तो उच्चांग गतिशील वाले विकार न्यूक्लिनिक हो जाते हों जाते हैं।

वात के प्रकार

1. प्रान वायु
 2. उद्धान वायु
 3. समान वायु
 4. व्यान वायु
 5. अपान वायु

1. प्राण वायु-‘हृदि प्राण’। आपुर्विक सतों किंवा विहृन के अनुलेप नमस्त स्थारीक एवं मानिलक किंवितों का मूल कारण Nervous System है। यद्यपि यात्र अव्यक्त है किंतु यात्र के कर्म Nervous System के कार्यों से साधारणता दर्जी है। दसवीं Cranial Nerve “Vagus Nerve” के कर्म “प्राण वायु” के कार्यों से ज़ादरूप रहते हैं।

‘प्राण वायु’ का मुख्य स्थान हृदय है तथा Cardiac Plexus का निर्वाचित Sympathetic Nervous System की Thoracic Nerve Fibres तथा Vagus Nerve Fibres से होता है। अतः Cardiac Plexus शतों रुचना य फ्रिगा विज्ञान को पूर्ण से

- प्रातुरलवयवादः प्रातुरक्षेत्रे लग्नवर्णवाच्यम् विश्वामित्रेण च कामा, सामीदेवयन्तु वैदेवतः।
सामीदेवयन्तु वैदेवतोः, वैदेवतोः, वैष्णवै प्राप्तवृक्षिः। (पृष्ठ 128)
 - प्रातुरजुवाने प्रातुरवृक्षं वैदेवतम्।
 - प्रातुरवृक्षं चारोऽप्राप्तवृक्षिः ।
प्रातुरवृक्षं चारोऽप्राप्तवृक्षिः ।
 - प्रातुरवृक्षं चारोऽप्राप्तवृक्षिः । वैष्णवै लग्नवर्णवाच्यवाच्यवाच्यम्, वैदेवतेष्वाच्यवाच्यम्। वैष्णवै विश्वामित्रेण च कामा, सामीदेवयन्तु वैदेवतः। (पृष्ठ 208)
 - प्रातुरजुवाने प्रातुरवृक्षं वैदेवतम्।

'प्राण याय' का स्थान प्राप्ति होता है।

प्राण वायु के स्थान-हृदय, मुख, शिर, जिहा, नासिका, कर्ण या कण्ठ तथा उड़न प्राण वायु के स्थान हैं। हृदय प्राण वायु का मुख्य स्थान है।

प्राण वास के कर्म-शास्त्र वाय निष्प शर्ग सम्भादित करती है-

- मन एवं बुद्धि का नियंत्रण।
 - प्रोट्रेन (धूकना), धारणा (छोकना), डरगार आदि कर्म।
 - स्थास प्रक्रिया-डच्चवास (Expiration) एवं निःशास (Inspiration) वा संचलन। पुंखुस्त्र (Lungs) के प्रथान कार्य प्राण वायु द्वारा सम्पादित होते हैं।
 - अन्न (ज़हार का नियन्त्रण)।
 - देह को धारण करना।
 - प्राण वायु सभी इंद्रियों को अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने में प्रबृत्त करती है। यथा-
 - गंग्य ज्ञान-Olfactory Nerve (1st Cranial Nerve) द्वारा।
 - रुप ज्ञान-Optic Nerve & Occulomotor Nerve (2nd & 3rd Cranial Nerve) द्वारा।
 - शब्द ज्ञान-Auditory Nerve (8th Cranial Nerve) द्वारा।
 - रस ज्ञान-Glossopharyngeal Nerve (9th Cranial nerve) द्वारा।
 - स्वर्य ज्ञान-स्वचा त्रियन् nerves द्वारा होता है।
 - तेरह प्राणों (अग्नि, सौम्य, वायु, सत्त्व, रज, तम, पंच ज्ञानेन्द्रिय, भूतात्मा एवं मन) का अवलम्बन करना।

प्राण वायु विकृति जन्य रोग-प्राण वायु की विकृति से थास, हिंका, हृद रोग आदि मानसिक रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

2. उदान यायु-Vocal cords के कंपन भादि कार्य Recurrent laryngeal nerve के द्वारा होते हैं। ऊर्ध्व ज़ुगल भासक फार्म Facial nerve, Trigeminal nerve, Trochlear nerve & Hypoglossal nerve द्वारा सम्प्रवित होते हैं। Larynx (स्वर चेत्र) तथा ऊर्ध्व ज़ुगु प्रदेश के कार्य उदान यायु के कर्म से गमनागत रखते हैं।

१. शारीर प्राणशय गृहीत, काढक विद्युताप नवीकरा, ३ दिवाने शक्तिपूर्णता शक्तिपूर्णता होती हो ॥ (प्र॒ अ॑, २८/६)
 २. नाभिप्रथम प्राणशयन, स्फुटक इष्टप्राणशयनदृष्टि विविधिविविधी चतुर्षि प्रियगुणपूर्णम् ।
 ३. धौलिकाप्राणशयनं पूर्व चुरुचुराति केलं, ३ दिव्यप्राणदृष्टिप्राणी जीवं प्र ज्ञानशयनः ॥ (प्र॒ अ॑, ५८०-५१)

ठदान यात्रा के स्थान-त्रा (यथा), कजट हथा जर्मिप ये ठदान यात्रा के स्थान हैं। वहां पर्यटक यात्रा का अधिक समाचार है।

द्वारा यात्र के कर्म-द्वारा यात्र तित्रु कर्म समाप्ति करती है-

1. भाषण, गान आर्टिं यांगो की प्रवृत्ति।
 2. प्रसर, चंडा करना, नारिका, कान्ड आर्टि की चेष्टावें ठदान आयु ढाग सम्बादित होती है।
 3. कर्ज अनुगत अंगों को राहि प्रदान करना।
 4. यत् धर्म् स्वरप्रवालिं एवं उक्तों का संचार करना।

उदान वापु विकृति जन्य रोग-क्रम्यं चतुरात् येण उदान वापु चैव विकृति मे होते हैं। कर्षय चतुरात् रोगोः में शिखरोदय, नेत्र रोग, कर्ण एवं काँचिका रोग, उदानरोग एवं मुखरोग विद्येषः उदानवात् को विकृति मे होते हैं।

३. सपान वासु-सनात वासु कोटि में विचरण करते हुए निज कार्य सम्पादित करते हैं-

- अन्य को ग्रहण करना।
 - अन्य को पचाना।
 - आहार के रस एवं किंडु भाग को पृथक करना।

कोष्ठ के अंगों को गति Meissner Billroth's Plexus एवं Motor Nerves के द्वारा नियंत्रित होती है। इन दोनों Plexus का संरचना Vagus एवं Sacral Nerves से होता है। Digestive Juices (पाचक रसों) का स्रावण Vagus Nerve के द्वारा होता है। अतः इन Nerves के कार्य स्वतन्त्र बन्ने के कारण से समान्तर रखते हैं।

समान वायु के स्थान-जापि, आवाराव एवं कुराव दे सनान वायु के प्रमुख स्थान हैं। जापि समान वायु का विशेष स्थान है।

सामग्र आम के कर्मी-समाज पाप निवारण कर्म समर्पित करती है-

- अपने को छाहना कर देता है।
 - भोजन का सार-किंह भग्न में विभाजन करते हैं।
 - आठारों दौसा करता है।

- | | | |
|----|---|--------------|
| 1. | ઉદ્યમાં પુરુષ રહ્યાં નાખ્યું; કાચ એવ પણ કરતાં કરી શકતું હશે | (પણ. 28/7) |
| 2. | બૃદ્ધ વૃદ્ધ પ્રાણીઓ, માટેનો નિર્ભાગીયતાં ઉદ્યમાં કાચ રહ્યું; તર્ફ રહ્યોં ના | (પણ. 5/33) |
| 3. | સેતુ પણિત હોતાં રહ્યોં હિતાંનાં | (ચુનિ. 1/14) |
| 4. | પાછાં પૂર્ણ, પ્રાણીઓ કાચ એવ પણ કરી કિયા | (સા.અ. 12/5) |
| 5. | કર્ણનું લાગુણીં પોતાં કરીની ચ હિતાંના | (ચુનિ. 1/15) |
| 6. | અસ્ત્રાંગાં પણ એવાં ના હિતાંનાં હાર્યાં રહ્યોં હિતાંનાં કિસ્યાં નિઃ | (ચુનિ. 1/16) |

4. ज्यान वायु-ज्यान वायु समस्त शरीर में विघरण करते हुए रक्त संचयन का कार्य सम्पादित करता है। Sympathetic nerve-thoracic nerve को क्रियाशीलता बढ़ने पर Blood Circulation बढ़ता है। Parasympathetic nerve-Vagus nerve को हिचासीता बढ़ने पर Blood Circulation की गति मंद हो जाती है। ये कार्य Autonomous Nervous System द्वारा नियंत्रित होते हैं। अतः इनकी क्रियाएँ ज्यान वायु के कर्ने से सम्बन्धित रखती हैं।

स्वासु वासु का स्थान-सम्पूर्ण शरीर' व्यान वायु का स्थान है।

समाज वायर का कर्पॉ-आत वायर निम्न कर्प सम्बादित करती है-

१. रस घातु का समाप्त शरीर में प्रवाहण करना।
 २. रक्त का संवेदन करना।
 ३. ब्यौद व अंगुओं का निकलना।
 ४. संधियों वरे गति व चेष्टा का नियामन करना।
 ५. दर्खेष्य (क्षय को ओर फेलना), मांसपेशियों की प्रसारण क्रिया, तथा अवधेष्य (नोचे की ओर गति), मांसपेशियों की संकुप्तन क्रिया सम्पादित करना।
 ६. निमेष (पतल क्षेत्र करना)
 ७. दर्खेष्य (पतल क्षेत्र) आदि वर्ग व्याय वालु हैरा सम्पादित होते हैं।

प्राचीन ज्यातु नव्य सोंग-ज्यार, रडपिंग, अंगिसार, मुख्या व ग्रामीणीये-

- (1) अस्त्रायाम् विशेषाद्यापि विशेषाद्यापि विशेषाद्यापि विशेषाद्यापि । अतायुगे परमात्मा स्वप्नोऽनि विशेषाद्यापि ॥ (प.पि. 283)
 - (2) विशेषाद्यापि विशेषाद्यापि विशेषाद्यापि विशेषाद्यापि विशेषाद्यापि । एवं प्रह्लादि पश्चिमिक्षेषणां पूर्वाति च ॥ (अ.ग. 128)
 - (3) विशेषाद्यापि विशेषाद्यापि विशेषाद्यापि विशेषाद्यापि । विशेषाद्यापि विशेषाद्यापि विशेषाद्यापि ॥ (पु.पि. 1/17)
 - (4) विशेषाद्यापि विशेषाद्यापि विशेषाद्यापि । विशेषाद्यापि विशेषाद्यापि ॥ (प.पि. 5/33)
 - (5) विशेषाद्यापि विशेषाद्यापि । विशेषाद्यापि विशेषाद्यापि ॥ (प.पि. 15/36)
 - (6) विशेषाद्यापि विशेषाद्यापि । विशेषाद्यापि विशेषाद्यापि ॥ (अ.ग. 126)
 - (7) विशेषाद्यापि विशेषाद्यापि । विशेषाद्यापि विशेषाद्यापि ॥ (प.पि. 287)
 - (8) विशेषाद्यापि विशेषाद्यापि । विशेषाद्यापि विशेषाद्यापि ॥ (प.पि. 12)

શ્રી ગ્રંથામણે હાજર હોય સહેતો હૈ।

5. अपान वायु-मन, मृत, मुक्त के स्थान को क्रियारूप एवं अधिक मांगेशीर्यों (Voluntary muscles) द्वारा सम्बद्धि होती है जिनका नियंत्रण Peripheral nerves करती है। शींग प्रदेश (Pelvis) में खिल गयी गंभीर, मुदा, यमन आदि अनेकितक क्रियारूप (Involuntary Actions), Autonomous Nervous System द्वारा नियंत्रित होती है। Hypogastric Plexus वर्ष Pelvic Plexus में निकली दुई Nerves 1st Sympathetic nerve के साथ तथा Lumbar, Sacral Plexus से निकलने वाली Nerves 2nd Parasympathetic nerve के साथ जितकर, उन अंगों की अधिकितक क्रियाओं का नियंत्रण करती है। ये भवनन कर्त्तव्य अवसरपत्र के कर्म से नमानता रखते हैं।

अपान शायु के स्थान-गुदा, घटडांड, चुरन, नूत्रिदेव, चैन्त, नारिप, उरु एवं चंकड़ग आदि अपान शायु के स्थान हैं।

अपावृत बाय के क्रमों-अपावृत बाय जिन कर्त्ता सम्मानित करती है-

१. नूप, पुरीप, चुक्र, आंतर्व एवं गर्भ का उचित समय पर रहाते से बाहर निकलना।
 २. मल, पुरीप, चुक्र, आंतर्व एवं गर्भ का घेंग न होने पर इनको भारण करना अतिव दूषक के माना जाता है।

अपान वासु विकृति जन्य रोग-अस्तन वासु विकृत होने पर मृत्युराप एवं गुदा में
होने वाले गम्भीर रोगों को उल्जन कर तक़ादी है।

बात दोष वृद्धि के लाहाण^१-रातों में यात दोष वृद्धि से निम सहज उत्पन्न हो सकते हैं-

1. प्राण वायु की वृद्धि
(i) रक्त की कमी (Loss of Power)
(ii) प्रलय (Delirium)
(iii) दोषता (Inability to work)
(iv) भ्रम (Vertigo)
(v) अविद्या (Insomnia)

2. उदान वायु वृद्धि
 - (i) यानों की कर्फशता (Hoarseness of voice)
 - (ii) मुख एवं नेत्र का फातापन (Dark Circles around eyes)
3. सपान वायु वृद्धि
 - (i) उमा पदार्थों के सेवन की इच्छा होना (Desire to eat warm / hot substances)
4. व्यान वायु वृद्धि
 - (i) लक्ख रौशनता (Dry Skin)
 - (ii) कृशण (Decreased body weight)
 - (iii) बंधों का फ़ड़कना (Throbbing sensation)
5. अपान वायु वृद्धि
 - (i) हल्के पैर का फटना (Cracking of soles)
 - (ii) मल वा ग़ा़दा वा शुष्क होना (Hard Stool)

बात दोष क्षय के लक्षणः

स्तरों में बात दोष के क्षय (अल्पता) होने की स्थिति में निम्न लक्षण पैदा हो सकते हैं-

1. प्राण वायु क्षय
 - (i) प्रसन्नता का अभाव (Loss of happiness)
 - (ii) ज्ञान की कमी (Lack of knowledge)
 - (iii) चुन्दि का योह (Confusion)
2. उदान वायु क्षय
 - (i) अल्पभावन (Feeble Voice)
3. सपान वायु क्षय
 - (i) मंदाग्नि (Poor Appetite)
4. व्यान वायु क्षय
 - (i) सवल भृत्यों में मंदता (Inertness, diminished body functions)
 - (ii) अंगों का ढीलापन (Looseness of body parts)

निम्न प्राणदोषों के क्षय वा अल्पता वाले लक्षण। व्यानदोषों का सौन्दर्य वायुवायापात्रः ॥ (अद्यात्मा १५/३३)

5. अपान वायु क्षय
 - (i) मलाग्नेप (Constipation, Oliguria, Amenorrhoea etc.)
 - (ii) पित दोष

निरूक्त-पित रात्र 'तत्र संहारे' धातु से बनता है जिसका अर्थ 'दहन' अथवा 'ठण्डा' कहता है।

स्वरूप-पीत वर्ण गुरु रूप। पित ही अग्नि है इसको 'अन्तराग्नि' कहते हैं ज्योतिक दहन, याहन, प्रकाशन, तापन, वयन आदि क्रियावं नित के द्वारा सम्पादित होती है। अग्नि ही देह के अंतर्गत निवास करती हुई कुरित अवयव अनुरूपत अवस्था में रोग अथवा आरोग्य प्रदान करती है।

पित के भीतरिक गुण^१-पित अग्नि नहापूरा का प्रतीतिवैष्ट रूप है एवं इसमें अग्नि के गुणों को अधिकता होती है। ऊज्ज्वल, श्विध, तारजन, द्रव, चट्ठ, सर, लक्ष, लम्फ, विश्व, पूर्णि, पीत, नील तथा अम्ल (विद्यमायन्त्रा में) पित के भीतरिक गुण हैं।

पित के प्राकृतिक गुण^२-अग्नि के प्रतीतिवैष्ट पित में 'सत्त्व' व 'रज' प्राकृतिक गुण होते हैं।

पित के नैसर्गिक गुण-अग्नि नहापूरा में उसके अन्तर्वे गुण 'रुच' के साथ उल्कामा एवं चायुमहापूर्त के रूप व सर्व गुण भी सिद्धनाम रहते हैं। अतः पित के रूप, सर्व एवं रूप ये नैसर्गिक गुण हैं।

प्राकृत पित के कर्म-प्राकृत पित रात्रों में नित कार्य सम्पादित करता है-

1. दर्शन (देखना)
2. पर्णि (भोजन पाक)
3. ऊप्ता (हातों का स्वाभाविक उपयोग बनाये रखना)
4. धूत् (धूप)
5. तृप्ता (पान)
6. शरीर की मुद्रा
7. प्रभा (फैंटि)
8. मानसिक प्रसन्नता

1. अग्नेवतीर्णी विश्वासः कुरितुर्विष्ट गुणावती कोटि। (च.ग. 12/11)
2. (i) स्त्रोताग्नेवतीर्णी वा दृष्टवस्त्रे लोक चतुर्। (च.ग. 1/60)
 - (ii) पित तीर्णी दृष्ट तृप्ति भीति तपेति च। उसे बहुताम पैष विद्यम चासामेव च। (मु.ग. 21/91)
3. गाय रथो वृद्धोऽग्निः। (मु.ग. 23/12)
4. दार्दं परिवर्ष्य च धूत् धूप्य देवदर्तवप्। प्रपद्यतां पैषा च तित्वर्णीविवरकम्। (च.ग. 18/50)
5. ग्र. - 3.

- 9 भारताशास्त्रिक (गोपा)
 - 10 बुद्धि (धृति)
 - 11 रूपी
 - 12 शौर्य, वराहाम
 - 13 भक्ति चाक

रसायन शास्त्र में जैव रसायनिक (Bio-Chemical), जैव भौतिकीय (Bio-Physical) या विरचकीय क्रियाओं (Katabolic functions) के सम्बद्धन में पित के गुणों का महत्वपूर्ण योगदान है। क्रिय (Enzyme) संबंधी क्रियाएँ भी पित के द्वारा ही सन्पर्कित होती हैं।

डॉ. फे.एन. डहुणा ने अपने अनुसरांगान कार्यों से त्रिदोष की सम य विषम अवस्थाओं का लापन करने का प्रयास किया तथा याता दोष को Acetylcholine, पिता दोष को Catecholamine तथा कफ़ होष को Histamine के रूप में जारीर में शामिल किया।

पित द्वारा के विशिष्ट स्थान¹-स्येद, रस, लसीका, रुधिर, आमाशय पित के ब्रह्मण
स्थान है इनमें भी अलगाशय विशेष रूप से पित का स्थान है। यकवाशय एवं आमाशय के
बच्चे वें ऐसा का स्थान अत्रिपति है।

पिता टोप के भेद-^१-आजार्य चतुक ने फैयल यात्रा दोप के चांच भेद अतापे हैं, पिता एवं करन के नहो। आजार्य सुखुम ने पिता के पांच भेद अतापे हैं जो स्वान एवं कर्म की भित्ति में नित प्रकार हैं-

- 1 पापक विधि
 - 2 दंडक विधि
 - 3 शासक विधि
 - 4 अपर्याप्तक विधि
 - 5 भ्रातृवध विधि

१) पात्रक दिन

आमादार में रहने वाला पायक पिस आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से Pancreatic Juice, Gastric Juice का Pepsin, Intestinal Juice का Trypsin तथा Insulin Hormone गे गहराये रखता है। ये रामस्त Juices or Enzymes पोषण के मुख्य प्रकार तात्पर Carbohydrates, Proteins & Fats हे एवं प्रसारे या प्राप्ति

समर्पित करते हैं। प्राचीन रित ही जटग्रन्थ रूप है जो यथो द्रुकार के ग्रन्थ हैं, भोजन के प्रयोग से पृष्ठ पर्वत करते हैं।

पाचक पिण के स्थान - आमलाय (अधीभाग), वर्कलाय के मध्य स्थान प्रहोड़ी शुद्धित शुद्धांत्र (Small intestine including Duodenum) तथा अन्तलाय (Pancreas) पाचक पिण के द्वय स्थान हैं।

पात्रक भिन्न के कर्म-पात्रक या द्वितीय पात्र मानविय कहा है-

- 1 यार प्रकार के अवलोकन-अधिकार, पीड़ि, सौन्दर्य एवं गुरुदेव जैसे चरित्र।
 - 2 अमृत या पावन करके देंप, रत्न, मल तथा मूर्ति को अवलोकन-अनुग्रह करके अप्रे कर विशेषण करता।
 - 3 पावक वित्त अन्य स्थानों पर वित्त के अन्य भेदों को, तत्त्व भावानुग्रहों एवं पंचभूतानुग्रहों को अपने स्थान पर रखता हुआ अन्यों द्वारा उदान कर अनुप्राप्त करता रहता है।
 - 4 पावकानुग्रह ही पिण्डि, ऊप्पा, बद्ध, वर्ण, स्वरूप्य, दस्तावेज़, उपचा, ओज तथा प्राण का कारण है एवं इनका चीयन करता है।
 - 5 समावस्था में आरोप्य तथा विवृत होने पर [विश्व, तोहम, चंद] शरीर में दोष एवं पावकानुग्रह सांत होने पर मृत्यु हो जाती है।
 - 6 धातु पाप होने से धीरों हुए धातुओं को मूर्ति के लिये धूधा, चिचाता, डरकर होती है। यह पावक वित्त के सहयोग से ही संभव होता है।
 - 7 आहार एवं धातुओं का पाप होने से शरीर का स्वास्थ्यविकास दाय डायता होता है।

पाचक पित्त विकारी जन्य रोग

अग्निगांय, अष्टमित, ग्रहणो रोग, अजीवन आदि रोग पायथराय्ये के विकृत होने पर उत्पन्न हो राखाहे हैं।

२) रेफल पितृ

रेफल व स्टोमा में विनियोग तथा खोल घर्ष का बना होता है। इनमें रेफल पितृ जाते हैं। Haemopoietic substances रेफल विनियोग में शामिल होते हैं। Vitamin B₁₂, Vitamin C, Iron, Protein आदि अमाग्रहकों से जुड़े होते हैं। और एक्स्ट्राइटिक फैक्टर्स में जुड़े होते हैं। एक्स्ट्राइटिक फैक्टर्स में दो प्रकार की वर्गीकरण होती है। अन्तर्बोधक वर्ग और अन्तर्बोधक कला में उत्पादन होता है। अन्तर्बोधक फैक्टर्स में अन्तर्बोधक वर्ग विनियोग करने वाले अवयव असेट्रिट वर्ग (absorb) वर्ग में सम्भव होते हैं। अन्तर्बोधक वर्ग का विनियोग करने वाले अवयव अन्तर्बोधक कला वर्ग में सम्भव होते हैं।

Intrinsic factors व Extrinsic factors अन्तर्बोधक, अन्तर्बोधक वर्ग में होते हैं इनमें रेफल पितृ का स्थान है। Haemopoietic substances रेफल विनियोग में शामिल होते हैं।

रेफल पितृ का स्थान

रेफल (Liver) वर्ध स्टोमा (Spleen) रेफल पितृ के स्थान हैं किंतु अन्तर्बोधक में अन्तर्बोधक वर्ग का स्थान बदलता है।

प्रारंभिक में रेफल का विनियोग रेफल वर्ध स्टोमा में होता है तथा अप्रारंभिक में रेफल का विनियोग Red bone marrow में होता है।

रेफल पितृ के कार्य

- अप्रारंभिक वर्ध वर्ध रेफल विनियोग करता।
- रेफल पितृ अन्तर्बोधक में अधिकतर होकर अप्रारंभिक वर्ध रेफल का विनियोग करता है।
- प्रारंभिक वर्ध, पुरुष, त्वचा, केंद्र एवं नेत्रों का रेफल करता।
- प्रारंभिक (Small Intestine) में विनियोग रेफल पितृ, मूत्र एवं पुरुष का विनियोग होता है। अप्रारंभिक वर्ध की स्थान में वर्ध 'मेलानिन' त्वचा में विनियोग रेफल (Melanin) वर्ध (त्वचा) को विशिष्ट घर्षण करता है।

३) आपारेटिक पितृ

पैमाने में गर्वनोजन पितृ आपारेटिक पितृ कहलाता है जिसका कार्य देखना है। रेटिना (Retina) में Rods तथा Cones का स्वर होता है जिसमें प्रकाश संवेदकों

- एक्स्ट्राइटिक विनियोग अन्तर्बोधक वर्ग। यह अप्रारंभिक वर्ध। (मुख 21)
- बीजीय वर्ध वर्ध अन्तर्बोधक वर्ग। (प्रारंभिक वर्ध वर्ग) में विनियोग होता है। (मुख 21)
- अन्तर्बोधक वर्ग वर्ग। (प्रारंभिक वर्ध वर्ग) में विनियोग होता है। (मुख 21)
- विनियोग वर्ग। (प्रारंभिक वर्ध वर्ग) में विनियोग होता है। (मुख 21)

रेटिना (Photosensitive Pigment) Photosensitive pigment होता है। इसके द्वारा Photochemical reaction में उत्पादन का विनियोग होता है जो कि Oxyhaemoglobin को विनियोग करता है। विनियोग वर्ध में विनियोग अन्तर्बोधक वर्ग में होता है। विनियोग वर्ध में विनियोग अन्तर्बोधक वर्ग में विनियोग होता है।

आपारेटिक पितृ का अपारेटिक पितृ का विनियोग है।

आपारेटिक पितृ के कार्य—अपारेटिक पितृ वर्ध वर्ग में विनियोग करता है।

- वर्ध वर्ग के वर्ध का विनियोग होता।

- वर्ध वर्ग की विनियोग का विनियोग होता।

आपारेटिक पितृ के विनियोग—आपारेटिक पितृ में आपारेटिक पितृ के विनियोग दो विनियोग हैं—

- चाहुं विनियोग—यह वर्ध वर्ग की विनियोग का विनियोग होता है।

- युद्ध विनियोग—यह अपारेटिक पितृ को दो विनियोग करता है जो विनियोग में विनियोग वर्ग में विनियोग होता है।

आपारेटिक पितृ विनियोग अवृद्धि विनियोग

दूसरी ग्रंथांशी विनियोग अवृद्धि विनियोग दो विनियोग में होते हैं।

४) सापाक पितृ

सापाक पितृ हृदय में अपारेटिक वर्ध वर्ग, दो प्रारंभिक अवृद्धि विनियोगों को विनियोग करता है। अपारेटिक वर्ध में सापाक पितृ Haemoglobin वर्ध Oxygen का विनियोग करता है जो अपारेटिक वर्ध विनियोगों का विनियोग करता है जिसमें अपारेटिक वर्ध, दो प्रारंभिक अवृद्धि विनियोग होता है। Pituitary gland वर्ग Adrenal gland के Secretions भी हृदय व अपारेटिक वर्ग विनियोगों को विनियोग करते हैं अतः सापाक पितृ के वर्ध अपारेटिक वर्ग में इनसे संबंधित होते हैं।

सापाक पितृ के स्थान—हृदय सापाक पितृ का स्थान है।

सापाक पितृ के कार्य—सापाक पितृ विनियोग दो विनियोग करता है।

(1) प्रेपा, युद्ध एवं अधिकार अवृद्धि विनियोगों को दूने करता

- एक्स्ट्राइटिक विनियोग अवृद्धि विनियोग, विनियोग वर्ग। (मुख 21/22)
- ग्रंथ विनियोग। (मुख 21/22)
- हृदय विनियोग वर्ग विनियोग वर्ग। (प्रारंभिक वर्ध विनियोग वर्ग) में विनियोग होता है। (मुख 21/22)
- एक्स्ट्राइटिक विनियोग वर्ग विनियोग वर्ग। (मुख 21/22)
- ग्रंथ विनियोग वर्ग विनियोग वर्ग। (मुख 21/22)
- प्रेपा विनियोग वर्ग विनियोग वर्ग। (मुख 21/22)

- (2) प्रभा बनाये रखना
 - (3) इनियों की निर्मलता बनाये रखना
 - (4) शौच एवं धूप आदि भावों को प्रकट करना
 - (5) हर्ष एवं ज्ञाप को उभिज्वलित करना
 - (6) प्रसन्नता एवं मोह आदि को अनुभूति करना

हो चक्की है—

- (1) यान्तरिक विकृतियाँ—भय, क्रोध, मोह आदि।
 - (2) हृदय की विकृतियाँ—रक्तावृत बात (Hypertension), हृदय रोग आदि।
 - (3) अन्तर्स्वार्थी ग्रंथियाँ (Endocrinial glands) के विकार—यथा पोष्युप्रदाता (Pituitary gland), अधिवृक्त ग्रंथि के रोग साधक पित की विकृति आदि हैं।

५) भारत सिन

अचार्य शुभ्रुन ने त्वचा के बाहर सार को "मवधासिनी" कहा है जो सब वर्णों के प्रकट करती है दाढ़ी पांच प्रकार की छाया को प्रकाशित करती है। आपुनिक जिजार में त्वचा के *Epidemias* के *Malpighian Layer* में Pigments होते हैं जिनमें Melanin शामिल है। त्वचा का वर्ष इन्होंना पर आश्रित होता है। अर्थ: Melanin के कर्म भागिक पित में संबंधित रहते हैं।

भावक पिता का स्थानः

त्यक्ता भावक निष्ठा का समाप्त है।

भावना पित के बापों—भावना पित मिस्टर एडवर्ड

- (1) न्यून कर्तव्य प्रदान करना
 (2) गोप्ता के दायरण का नियमन करना
 (3) उच्च कार्यकारी वर्ग
 (4) न्यून के मध्यके में आने वाले चारिपक, अधिक, अवगति, सैप आदि का अधिकार बनाना

आनन्द पिता विकति जन्म रोग

पिंडित लक्ष्मण रोग, पिंडित वैद्या, ज्ञानवाच, पिंडित वैद्या की विद्याति से उत्पन्न हो सकते हैं।

पितृ यज्ञ के लक्षण

पिंजरा से बड़ी चालि में जहार में विन लक्षण प्रकट होते हैं—

- i) पाचक पित की वृद्धि
 - 1) तुल्जा [Thirst]
 - 2) शीतकामिता [Desire for cold things]
 - ii) रंजक पित की वृद्धि
 - 1) पीतालभासता [Yellowish texture of skin]
 - 2) चीत भल, सूत्र, नेत्र [Yellowish Stool, Urine & eyes]
 - iii) आलोचक पित वृद्धि
 - 1) पीतनेत्रता [Yellowish eyes]
 - iv) साधक पित वृद्धि
 - 1) निद्रास्पता [Insomnia]
 - 2) मूर्च्छा एवं बलहानि [Syncope & loss of Vigour]
 - 3) इन्द्रिय दौर्बल्य [Deficient Sensory Perceptions]
 - 4) भ्रम [Vertigo]
 - v) भाजक पित की वृद्धि
 - 1) संताप [Raised body temperature]
 - 2) घास [Burning Sensation]

पितृ धर्म के लक्षण³

मिल दोष के भूय के कारण शरीर में निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं—

- १) पाचक पित्त क्षय
 1) मंदार्थ [Poor appetite]

1. शिक्षाद्यो पीड़ावधार्य होता; तोतावधार्यापर्यन्त एक पूर्ण बलाद्युपर्यन्तप्राचय पासे । (मु. मु. 15/13)
2. ० पिताद्ये मन्देष्टाग्नि निष्पत्ता । (मु. मु. 15/7)
- ३) निषेधाद्येनसः होते उपचारि । (म. इ. म. 11/16)

- ii) रेतक पित हाय
 - 1) पान्हु [Anaemia]
 - iii) आत्मोत्तेक पित हाय
 - 1) मैल्वटि [Diminished Vision]
 - 2) अरहनि [Inability to see]
 - iv) साथक पित हाय
 - 1) निष्पत्ति [Loss of Lusture]
 - v) धारक पित हाय
 - 1) नदोन्हता [Decreased body temperature]

iii) कफ दोष
निश्चयक— (1) “केन जहां फलति इति कफः।” (सु. सू. 21/8)
जहां से विद्युतके दृष्टिकोण है उत्ते कफ कहते हैं। जल का कार्य संयोग करना है अतः
जहां प्रवृद्धि की ‘शूलका’ या ‘कफः’ कहा है।

(2) "सितं प्राप्तं लक्ष्मीने" इस भावु के साथ "मानिन्" प्रत्यय लगाने से इलेखा बदल दिया है। इसका अर्थ है नितन, संयोग व आतिकृत्व। शारीर में इन क्रियाओं के कार्यों को बदल देने वाले हैं।

प्राचीन भारतीय संस्कृत

कक्षान्तर होने पर 'बत' कहलाता है। इसी को शरीर में 'ओज' कहते हैं। कफ विद्युत होने पर 'बत' बदलता है। अस्त्रीय वायर बदलता है। अस्त्रीय है।

संस्कृत हम जो कहते हैं

- (१) भौतिक गुण—लिंग, शैल, गुरु, मधुर, स्थिर, पिच्छल, लवण, श्वेत
मंद इव गतिका ये कक्ष के भौतिक गुण हैं।

(२) प्राकृतिक गुण—कक्ष दोनों गुण प्रधान होता है।

(३) अस्थायीक गुण—प्राकृति अवस्था में कक्ष मधुर रस तथा विकृत अवस्था
हो सकता है।

प्राचीन रहा

मनुष को दिव तमं प्राप्तिः असौ ॥

- यहाँ तक की विशेषता है कि इसमें निम्नलिखित वाक्यों की वर्णना की गयी है—

 1. भारतीय सभा द्वारा निर्धारित करने वाली वाक्यों में— वर्षा वर्षा स य वाप्तीविद्वान् ॥ (प्र.पु. 17/117)
 2. गुरुवर्षावृद्धिवर्षा वर्षा विद्वान् ॥ (प्र.पु. 1/60)
 3. ८ वर्षों के विद्वान् व दीर्घ वृद्धि वर्षा । वर्षा वृद्धिवर्षा वर्षा वाप्तीविद्वान् ॥ (प्र.पु. 18/53)
 4. वृद्धि वर्षावृद्धिवर्षा वाप्तीविद्वान् ॥ (प्र.पु. 11/3)
 5. वर्षा वर्षा वाप्तीविद्वान् ॥ वर्षा वर्षा वृद्धिवर्षा वर्षा वाप्तीविद्वान् ॥ वर्षा वर्षा वाप्तीविद्वान् ॥ (प्र.पु. 12/15)

- (1) स्नेहन
 - (2) वर्धन
 - (3) विषयता (इडला)
 - (4) गौवता
 - (5) पृथक (मैथुन शक्ति)
 - (6) चल, क्षमा एवं धैर्य
 - (7) उदारता, उत्साह
 - (8) संधियों को विकला करना
 - (9) लर्पण-पूरण-योग्यता
 - (10) ब्रह्मण एवं उच्चतम्-ये कक्ष के प्राप्ति करने हैं।

— ते विशिष्ट आनं

उरु-प्रदेश (Chest). काला, हिंग, चट्टोन, पर्वतीयि, दीवा, रस, मेंद, एवं अन्यान्य कफ के प्रमुख स्थान हैं। आचार्य सुकृत, घटक एवं वाम्पट ने 'आम्बलाद' कहे कफ का विशिष्ट स्थान कहा है तथा काशकरन ने 'इदूद' को कफ का विशिष्ट स्थान घोषणा है।

काह के भेद

आचार्य नानापट्टे ने स्थान एवं कर्म को भिन्नता के अधार पर कक्ष के दो खंड बनाये हैं—

- (1) वर्णेदक कफ (2) अवतन्त्रक कफ
 (3) शोधक कफ (4) रुदक कफ (5) रसेयक कफ

(3) वायरा -

खलदक कपा

बहुलोदका जंगल का स्थान

क्लैदक काह को स्थान अनुसार ८४
प्रोटो-हिन्दू कर्त्ता सम्बद्धित करती है—

- | | |
|--|------------------------|
| (1) अल का कटोदक करना | (अ. मु. 207) |
| अ. गिरेंडी पर्यावरण के लिए हमें सबसे पहले हमें अपने जीवों को कटोदक करना। एवं करो। यह पर्यावरण के लिए बहुत अचूक है; किन्तु इसका अहंकार है; किन्तु इसका अहंकार है; | (अ. वि. 503 वा समुद्र) |
| भास्त्रायामात्रा संतोष को देक। गोदान लेत्य-कटोदक। | (अ. वि. 12/16) |
| ० अगमानाकामा तु ग्राम कोट इकट्ठो। इट्टोपर्यावरण कोट भूत्यं ग्राम। | (अ. वि. 15/4) |
| ० अगमानाकामा होत्याकाश्च गोदान चंद्राकर्मकुरुत्यं करो। | (अ. वि. 21/14) |

क्षाय-चिकित्सा

- (2) अन को मृद बनाना
- (3) पिण्ड स्व आहार का संधार कर हृदय के समान महीन एवं प्रतला चक्र
सुखपूर्वक पदाने योग्य बनाना
- (4) अन्य स्थान तिथि रतेष्टा को अपने उदाक कर्म से अनुग्रहीत करना
बतेदाक कफ विकृति जन्य रोग
बतेदाक कफ को विकृति से बंदाइन, हल्लास, घमन, अजीर्ण, लार्धा अन्यत्र
तथा ठट्टर एवं सरोर में भारीपन उत्पन्न होता है।

2) अवलम्बक कफ

हृदय को आवृत करने वाली Pericardium की दोनों layers के बीच Pericardial fluid एवं Lungs को आवृत करने वाली Pleural membrane के बीच में भी Pleural fluid, हृदय एवं फुफ्फुस को परस्पर घर्षण से बचाता है एवं इन्हें अवलम्बन प्रदान करता है। इनके कार्यों से अवलम्बक कफ के कार्यों का सांमर्जस्य प्रतीत होता है।

अवलम्बक कफ के स्थान—उरस (हृदय एवं फुफ्फुस) एवं विक अवलम्बन करने के स्थान हैं।

अवलम्बक कफ के कार्य—अवलम्बक कफ निप्र कर्म सम्पादित करता है—

- (1) ऊपर रस के बीच से हृदय को बल देना
- (2) बन्ने उदाक से शेष कफ के स्थानों को बल देना
- (3) ढान में स्थित छक अपनी शक्ति से त्रिक स्थानों (मैल्डण्ड के दोनों बाह
एवं ग्रीवा के ऊपर स्थल) को धारण करता है।

अवलम्बक कफ विकृतिजन्य रोग

- (1) फुफ्फुस के रोग—रक्तसन्क्रिय ज्वर (Pneumonia), फुफ्फुस आवरण
रोग (Pleurisy), कास (Cough) एवं श्वास रोग (Asthma) इत्यादि।
- (2) हृदय के रोग—काफ एवं साक्रियात्मक हृद रोग, परिहृदयावरण शोष
(Pericarditis), हृदयोक्तपरी रोग (Myocarditis), हृदयिस्फाइट
ठप्पन होते हैं।

3) योधक कफ

- आपूर्विक विकृतिजन्य विज्ञान के अनुसार Parotid glands, Sublingual glands
1. उत्तरार्द्ध सोनालालय लैंगिक एवं महीन इन्द्रियालय वर्द्धन।
 2. ग्रावर, प्रतिक्रिया वर्द्धन, दायरका बीड़ीलालय वर्द्धन एवं विकृति वर्द्धन। (मुम् 21/14)
- अन्तर्वेदन, अन्तर्क्रिया, अन्तर्विकास। (मुम् 12/15)

दोग-धातु-मल-प्राकृत य वैकृत अवस्था

एवं Mandibular Salivary glands के Secretions ने Saliva का निर्माण होता है। इसमें पांवे जाने वाले Ptyalin Enzyme, Polysaccharides को बोड़कर उनका पाचन करता है तथा मुख्यालय एटानो को घोलकर म्यांद का जल करता है। इनके कार्य योधक कफ के कार्यों से जानेजाना रुक्त है।

योधक कफ के स्थान

योधक कफ का स्थान लिंगा मूल एवं छन्द है।

योधक कफ के कार्य

- (1) जिवा में अवश्यित होकर रस का योध करना। मधु, अम्ल, लवण, फट्टा,
तिक्का, फलाय-इन घटनाओं के जल का कार्य योधक करना है।

- (2) मुख में आपे अन का विभाजन करना, तथा अन को प्रदान करना।

योधक कफ विकृति जन्य रोग

- (1) मुख की ग्रीवियों के रोग।

- (2) हालालाल वा अधिक निकलना, हल्लास, मुखरोग, एवं मुखनक अर्द
रोग योधक कफ की विकृति से उत्पन्न होते हैं।

4) तर्पक कफ

जो कफ मस्तिष्क का वर्णन वा पाचन करता है वह तर्पक कफ कहलाता है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के अनुसार Palmitin, Stearin, Olen, Proteolipids आदि उच्च कोटि के Fats हैं जो मस्तिष्क का पाचन करते हैं तथा Cerebrospinal औप्टिक मस्तिष्क को बाह्य आमतों से बचाता है। यहाँ इनके कार्य "तर्पक कफ" के कार्यों से सामर्जस्य रखते हैं।

तर्पक कफ के स्थान

तर्पक कफ का स्थान 'रित' है।

तर्पक कफ के कार्य—तर्पक कफ निप्र कर्म सम्पादित करता है—

- (1) मस्तिष्क का संतरण एवं स्नेहन करना

- (2) चापु एवं कार्यानुपात इन्द्रियों का पाचन करके इन्हें अपने कर्म करने में
शामर्य प्रदान करना।

1. विद्युतपूरकवास्तु विद्युतिवास्तु विद्युत रस जल करती। (मुम् 21/13)

(अद्यम् 12/17)

2. ० रस योधक खोपती रात्रानन्दनी। (मनुवैद्यम्)

(मनुवैद्यम्)

३) रात्रान्देश रात्रान्देश विप्रवासी विद्युत रस प्रहसनी। (मुम् 21/14)

(मनुवैद्यम्)

४. विद्युत भैंसी रात्रान्देश विप्रवासी विद्युत रस विद्युत विप्रवासी। (मुम् 12/17)

(मनुवैद्यम्)

५. विद्युत भैंसी रात्रान्देश विप्रवासी। (मनुवैद्यम्)

(मनुवैद्यम्)

६. धारापूर्णिमापात्र कफ कर्मान्वासनम्। (मनुवैद्यम्)

(मनुवैद्यम्)

- (3) ज्ञान, विदेक, हमा, निर्लोक्ता, भारणाशक्ति तथा मानसिक शक्ति प्रदान करते।

(4) त्वरूप, विद्या, प्राप्त, नेत्र एवं श्रोत्र को अपनी शक्ति से अनुग्रहीत करना।

तर्पक कफ विकृति जब्त रोग

(1) पानस विकृतियाँ—अविदेक, उल्लंघन, गर्सिटाप्प दीर्घत्य

(2) उल्लंघन, पालित्य आदि रोग

(3) चक्षु, नासिक, कर्पोरल आदि रोग

5) इतिहासक कफ

स्नॉवियल में विश्वर कक्ष संधियों का सौपन करता है व उन्हें रगड़ से बचाता है। ज्ञापुरिक चिकित्सा शास्त्र में बनिंग Synovial membranes के बीच स्थित Synovial fluid होता है जो स्नॉवियल का स्नेहन करता है एवं उन्हें रगड़ से बचाता है। इसके कार्य स्ट्रोक कक्ष के कमों से साधारणतया रखते हैं।

स्त्रैंडफ़ कृष्ण के साथ

सनस्त संपिदा इतेष्व कुंकुमे साव है।

स्लेपक कफ के कर्पों—स्लेपक कफ निया कर्पों सामग्री बनाता है

- (1) सनत्त संधियों का स्नेहन करना
 - (2) संधियों का पालन करना, वन्हे स्थाप रखना तथा संधियों को दृवता पूरकं मिलार (अंडे) रखना
 - (3) संधियों के भज्जे प्रकार कार्य करने में सहयोग देना

सौभाग्य रोग, अनुचित, स्वेच्छाव, सौधित्रोथ आदि रोग इलेक्ट्रिक कफ की विकासी रोग हैं।

काम तरिके

दिल्ली वाला लक्षण

- 1) ग्रामक विकास समिति का नियन्त्रण उत्तम हो सकते हैं—

- 1) लक्ष्य (Drowsiness)
 - 2) विश्वास (Excessive sleep)

- प्रतिकृति (Excessive sleep)**

 - सोना, रुक्ष वाले दीर्घायुः सोना करा।
 - १ अंदरूनी रुक्ष वाले दीर्घायुः सोना करा।
 - २ रुक्ष वाले दीर्घायुः सोना करा।
 - ३ रुक्ष वाले दीर्घायुः सोना करा।

दोष-धात्र-मल-प्राकृत य चैकृत आयुर्व्या

- 3) गौरत्य (Heaviness in body)

4) शैशिल्य एवं आलाम्य (Laziness)

ii) अवलम्बक कफ वृद्धि

 - 1) श्वास रोग (Asthma)
 - 2) कषस (Cough)
 - 3) जड़ा ताणा (Feeling of Cold)

iii) योधक कफ वृद्धि

 - 1) प्रसेक (Increased Salivation)

iv) घ्लेदक कफ वृद्धि

 - 1) भूत, मूत्र, नेत्र एवं त्वचा का चर्बे रंग होना (Whitish colour of skin, eyes, urine & stool)
 - 2) अनिष्टाद्य (Poor appetite)

v) इलेपक कफ वृद्धि

 - 1) संधि शैशिल्य (Looseness of Joints)
 - 2) अंग शैशिल्य (Malaise)
 - 3) निरचलता (Inactivity)

कफ क्षय के लक्षणः

शारीर में कफ दोष के क्षय से निम्न लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं—

i) तंपक कफ क्षय

 - 1) अविद्वा (Insomnia)
 - 2) रुक्षता एवं शून्यता (Dryness & numbness)
 - 3) दुर्बलता (Weakness)

ii) अवलम्बक कफ क्षय

 - 1) अर्द्धाह (Burning Sensation)
 - 2) इद्दृव (Palpitation)

iii) योधक कफ क्षय

 - 1) त्रिष्ठा (Thirst)

दोष-चिकित्सा

मल के भेद—मल के प्रमुख गोन भेद हैं—

1. मूत्र
 2. पुरीण
 3. स्वेद
- इनके अधिकरिक कर्ण, नासिका, गिर्हा, नेत्र, त्वचा, शिशन आदि के मल तथा अन्य केरा, नख, धौप आदि भी मल कहे जाते हैं।

दोष भी शरीर में दो प्रकार से रहते हैं—

1. सूक्ष्म सार भूत या प्रसाद रूप जो शरीर का धारण व पोषण करते हैं।
2. स्पृह या मल रूप जो धौतुओं के मल के रूप में उत्पन्न होते हैं—यथा—

धौतु	सम्बन्धित धौतु का मल
1. रस	कफ
2. रक्त	पित
3. मांस	'ख' मल (कर्ण, जिल्हा, नासिका मल)
4. मेद	स्वेद
5. अस्त्रिय	केश, लोप, नख, शमशु
6. वज्रा	शरीरस्य स्नेह व नेत्र का विद्
7. शुक्र	मल नहीं होता।

दोष-धौतु-उपधातु व मलों में संबंध

क्र.सं.	दोष	धौतु	उपधातु	मल	पांच भौतिक संग्रह
1.	कफ	रस	स्वाद्य-आर्तव	कफ	जल
2.	पित	रक्त	कण्ठारा-सिरा	पित	अग्नि+जल
3.	कफ	मांस	वसा-त्वचा	'ख' मल	पृथ्वी
4.	कफ	मेद	स्नायु	स्वेद	जल+पृथ्वी
5.	वज्रा	अस्त्रिय	-	केश, लोप, नख, शमशु	शायु+पृथ्वी
6.	कफ	वज्रा	-	स्वेद, स्नेह, नेत्र चल	शायु+पृथ्वी
7.	कफ	शुक्र	-	ओज	जल

1. मल भूत स्वावलम्बनविद्युति वा।
2. विद्युत्यनाव विन्यास योग्य मल; औदानुपेत्र।
मल विद्युत्ये सार्वभौमिक योग्य; अन्तर्भुक्तिविद्युत्याम्।

(अ.क.ग. 1/13)

(ए.पि. 15/19-20)

दोष-धौतु-मल-उपधातु व धौतुन अवस्था

दोष-धौतु-उपधातु-मलों की क्षय-वृद्धि

निदान ग्रन्थ चिकित्सा

शरीर की युद्ध, वय, अवगति, मुश्तक, दुःखाय, विद्युत व अहिवायु का कहरण दोष-दूष्य-मल-ओन भी है। अभावतः विद्युत विकृत होकर धौतु उपधातु एवं मलों को दूषित करते हैं, अतः धौतु वैश्वम व दोष वैष्वम को ही "व्याप्ति" या "रोग" कहा जाता है।

दोषादि का प्राकृत गुण युक्त रुक्त रक्त कर्म करते रहना ही 'साम्यावस्था' या 'स्वास्थ्य' है।

इन दोषादि का विषय वा विकृत होना ही 'रोग' या 'अस्वास्थ्य' है। यह वैष्वम निम्न दो प्रकार का होता है—

1. क्षय

दोषादि जब क्षीण होते हैं तब उनके प्राकृत कर्मों का हानि हो जाता है एवं विरोधी गुण कर्मों को वृद्धि होती है। जब दोषादि वृद्ध होते हैं तब वे अन्य लकड़ों की वयवस्था प्रकट करते हैं अर्थात् उनके प्राकृत गुणकर्मों का उनके चल के अनुसार अपीलिय हो जाता है। दोषों की गति निम्न तीन प्रकार की होती है—

1. क्षय

क्षय—दोष, धौतु व मलों के क्षीण होने पर उनके स्वाप्ताविक (प्राकृत) गुणकर्मों का हास होता है एवं विरोधी गुण कर्मों को वृद्धि होकर व्याप्ति उत्पन्न होती है।

वृद्धि—दोष, धौतु व मलों की वृद्धि होने पर उनके स्वाप्ताविक (प्राकृत) गुण कर्मों को वृद्धि होकर व्याधि उत्पन्न होती है। यह क्षय वृद्धि निम्न दो प्रकार से होती है—

(i) चय या संचय

दोष का अपने प्राकृत व्याप्ताविक स्थान पर रुक्त कर हो जाना 'चय' या 'संचय'

कहलाता है। जैसे—पक्षाशय में यायु का, नापित्रदेवा में पित्र का एवं अहमशय में कफ का संचय होता है।

1. विकारो धूतृ वैष्वम स्वावलम्बनविद्युति। गुण उत्तरवाहेवं विकारो धूतृ-वैष्वम वा। (ए.पि. 9/4)

2. अपदोषः स्वाप्ताविक उपधातुमतिः। उपधातुपेत्रवयमः स्वास्य इत्याभिपीडोऽपि। (ए.पि. 15/41)

3. धौतु धौतृ वैष्वम उपधातुमतिः। (ग्राह. 1/20)

4. धौपुर्विः सामान्य व वयवस्था विवृहि। विवृहि पात्रस्त्रीं व उत्तुदीर्घीर्वन्नः। (ए.पि. 29/247)

5. ३ धौतृः प्रसूः स्वं विकारो दर्शनीय वयवस्था धौपुर्विः विकारो दर्शनीय वयवस्था धौतृः। (ए.पि. 17/62)

6. ५ धौतृः विकारो दर्शनीय वयवस्था धौपुर्विः विकारो दर्शनीय वयवस्था धौतृः। (ए.पि. 18/52)

7. ६ धौतृः विकारो दर्शनीय वयवस्था धौपुर्विः विकारो दर्शनीय वयवस्था धौतृः। (ए.पि. 17/112)

8. ७ धौतृः विकारो दर्शनीय वयवस्था धौपुर्विः विकारो दर्शनीय वयवस्था धौतृः। (ए.पि. 12/22)

का. पि.- 4

यात संचय का लक्षण—

पित संचय का लक्षण—

कफ संचय का लक्षण—

ब्यांडी को बिन कारणों से दोष चम तुमा है उनके प्रति दोष होता है अर्थात् दोष सेवन को अनिवार्य होती है। आमुनिक जीवाणु विज्ञान में वर्णित Incubation Period से संचयवस्था का समर्जन स्थापित किया जाता है।

(ii) प्रकोप

संचित दोष चम अधिक बलपूर्वक प्रकुपित होकर उन्मादी हो जाते हैं एवं स्वस्थ से अन्य स्थान को आंख जाने को तैयारी करते हैं तब उस अवस्था को 'प्रकोप' कहते हैं। यथा—

यात प्रकोप का लक्षण—

कोठ में सुई चुभने की प्रतीक्षा, ठंडर में बूझ का संचय।

पित प्रकोप का लक्षण—

आम्सोदगार, प्यास की अधिकता एवं परिदृश्य।

कफ प्रकोप का लक्षण—

अजड़ौष, हृदयोत्तोद।

अतः धातु-उच्चातु एवं मलों को भी दोष दूषित करते हैं।

(iii) सामाचर्य

स्वस्थान पर दोष चम सम अवस्था में रहता है तब संहिताओं में उसके साम्य के बीच एवं संसाधन कहे गये हैं ये प्राकृत रूप में होते हैं। अन्य स्थानगत (स्थानान्तर) सम दोष भी दोषोत्पादक होता है। इसे 'आशयापकर्ष' कहते हैं।

क्षय के सामाचर्य निदान

विभिन्न दोष, धातु, उपायातु, अंज व मलों के क्षय या खोण होने के निपुण हेतु या कारण हैं—

1) आहार विषयक निदान

i) अविश्व अल्प भोजन करना

1. प्रदूषी शूद्र रसी।	
2. घोलमूलकाद्याद्य।	
3. तेची लवी-दोष चम। इन्हें दूष्य दूष्यालयी भर्तव्य, दोषालयाद्य।	(अ.सू. 12/22)
4. प्रुद्यालय दोषीर्वय चम; लोमण, धूंप। स्वस्थानाय प्रदूषु प्रद-य च विवरणी॥	(अ.सू. 12/23)
5. गत भेदाद्य दोष चम तात्पर्याद्य। १ गत दोषीर्वय अन्य दोषेत्प्रयं चम च॥ ० स्वस्थानाय विव दोषालयाद्याद्य। धोमाद्य भव दोषो दोषालय दूषालय॥	(च.सा. 6/33)
६. हात हेतु विवरण॥	(प.सू. 12/45-46)
	(प.सू. 12/76)
	(प.सू. 1/43)



दोष-धातु-मात्र-प्राकृत य वैकृत अवस्था

ii) प्रसिद्धाशन या एक्सामिनेशन

iii) अनशन या उपयास, अतिलंबन करना

iv) रुक्ष भूदिगु दान

2) विहार विषयक निदान

i) अति ल्लाङ्घन करना

ii) तीव्र इच्छा व धूप में चैठना

iii) आशनकलन प्रभाव

iv) रात्रि जागरण

3) मानसिक निदान

i) अति चिन्ता करना

ii) भय व शोक को अवस्था

iii) अति झोंपड़ करना

4) 'विकृति जन्य निदान'

i) भूतोपचात (Infection)

ii) कफ-रक्त-शुक्र-ग मलों का अविनाश में निकलना या गवायशमा, रक्तपित्र

5) अवस्थाजन्य निदान

i) चूढावस्था में वायु की प्रधानता (Senile degeneration)

विदोष क्षय चिकित्सा

शरीर में वात-पित्त-कफ के क्षय होने पर न्ययोनियोग्य आहार-विहार का सेवन करना चाहिये जो निम्न प्रकार है—

वात क्षय चिकित्सा— कटु-तिळ, कफाय रस प्रधान, रुक्ष, सापु, सूक्ष्म एवं शीत गुण प्रधान द्रव्यों का प्रयोग (दधा-मुद्रा, मटर, कल्पय, जांगल मौस रस) करना चाहिये। जो भी द्रव्य वात प्रकोपक है उनका प्रयोग वात दोष को सम अवस्था आने तक करना चाहिये।

1. वात संप्रिण्ड शुद्धालय महानी गर्वितवर्तनम्।

काले भूतिरपात्र तात्पर्यः धूप हेतुः ०

(प.सू. 17/77)

2. तात्पर्यनिवारणये प्राप्तेभावः ।

(मु.सू. 15/8)

3. यात्पर्ये शुद्धालय कलार रक्तलक्षीतर्वतः ।

(प.सू. 6/11)

पिता क्षय चिकित्सा—पिता क्षय यो उद्देश्य में आग्नेय महाभूत प्रधान वृक्षहार, विहार एवं औषध का प्रयोग करना चाहिये।

कफ क्षय चिकित्सा—स्लेयापाय यो अवस्था में रलेपावर्धक आहार-विधि, औपच द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये। इस अवस्था में पृथ्वी व जल महाभूत संबंधित चिकित्सा प्रयोग करना भी प्रशंसनीय है।

विद्योप चक्षि-निदान एवं चिकित्सा

१. चातुर्दोष

वात प्रकोपक (वृद्धि) निदान—वात प्रकोप के सामान्य हेतु (निदान) निः
ही—

अ.) आहारज निदान

- कटु-तिक्ख-कपाय रस प्रधान पदार्थ आति सेवन
 - रुक्ष-लघु अत्र पदार्थ सेवन
 - रोत्तिवार्च द्रव्य सेवन
 - अनशन, विपाकाशन, अध्यरान एवं प्रभिकाशन
 - चना, मटर, भस्म अतिरिक्तेन

८) यात्रा के लिए

- i) अति व्यायाम या अति व्यवाय
 - ii) संपन्न या उच्चवास
 - iii) उत्पन्न (Excessive sweating), प्रपलन (Falling) या अधिकार
 - iv) गति जागरण
 - v) बेंग विधारण
 - vi) गजायन-ददातियर्थी अथवा पोटा-हाथी आदि को समारी फरना एवं अधिक पैदल चलना।

म) भार्याक निदान

- 1) अंतर्राष्ट्रीय-विना-भव-लोग व गतानि

4) राष्ट्रीयविवरणकार्यपालकमंत्री। नियामनप्रबन्धक सदस्यक दलाली।
राष्ट्रीयविवरणकार्यपालकमंत्री। राष्ट्रीयविवरणकार्यपालकमंत्री। (प.प्र. 28/15-18)
5) राष्ट्रीयविवरणकार्यपालकमंत्री। उचित ग्राहीकारीप्रधान। परिचयालं
संगु उत्तरापेक्षा। (प.प्र. 21/39)



दोग्या-धारा-सल्ला-याकूत व थीकला अवधम्या

३) अन्य विदान

- i) रक्त स्राव ii) अतु याप
 iii) रक्षा त्रास iv) गृहावस्था v) संवेदन

बात दोष वर्जन की विकल्पा

यात्रा द्वारा यहाँ में निम्न निर्दिष्ट समाजिक अवसरों का उपयोग किया जाता है—

- (i) सोहन स्वेच्छा के पश्चात् मृत संसाधन
 - (ii) निरह य अनुवामन चर्चा प्रयुक्त करें
 - (iii) नव्यकर्म, गणदूष, पूर्वजन, रिपोर्टरीम दें
 - (iv) आध्या, मर्दन, बैठन करें
 - (v) मध्य-अम्ल-लवान रस युक्त दाढ़ा य लिंग भेजन दें

२. पित्तादोष

पितृ चक्रि के निदान—पितृ प्रकोप य यूक्ति के समान्य निदान निम्न हैं—

अ) आहारन निदान

- i) लक्ष्मी, अमृता, ललाच, काला, विद्युती अम-चन का जीवन सेवन
 - ii) अध्यात्म
 - iii) तिल, अलसी, कुलांबी, सर्वप, दधि, मुख अहिंसेवन
 - iv) हरिताशा, गोधा, मरुद्याहांसा, ताज़ा, चंद्रघी का उड़ान सेवन पिता प्रकोपक है।

३) वित्तीय नियन्त्रण

- i) अति अलाप सोचन ii) अति स्वी प्रसंग iii) अति परिश्रम

स) गान्धिक निदान

- i) ग्रोम ii) शोक iii) भय
iv) इर्षा v) हृषि

- संस्कृतात्मकाभ्युदयीकरण विद्यालयम्। शिरोमणि ग्रन्थ संस्कृत भाषा विद्यालयम्।
- प्राचीन संस्कृती काव्य विद्यालयम्। — प्राचीन ग्रन्थालय। (पुस्तक 4-21-26)
- प्राचीन विद्यालयम्। शिरोमणि ग्रन्थालय। — प्राचीन विद्यालय। (पुस्तक 23/21)

द) अन्य निदान

- i) मध्याह्न काल ii) मध्यावस्था iii) शारद प्रहृष्ट
 दोप वृद्धि की चिकित्सा—पित दोप वृद्धि की अवस्था में निम्न चिकित्सा
 प्रयोग करने चाहिये—
 विरेचन व रक्तमोक्षण कर्म
 शीत प्रदेह, परिपेक व अभ्यंग
 मधुर-तिक्क, कपाय रस प्रधान एवं शीत द्रव्य सेवन
 क्षीर व पूत्र का प्रयोग
 पितशामक द्रव्यों पथा-चन्दन, हींबेर, मुक्ता, प्रवाल आदि का उपयोग

३ वायु होम

इलेप्या (कफ) वृद्धि के निदान—इलेप्या वृद्धि के तिष्ठ सामान्य निदान हैं—
अ.) आहारज निदान

13 2000

- i) मधुर-अमृत-लवण रस युक्त पदार्थों का अति सेवन

ii) शोत-सिंधार-गुरु-पिण्डिल-अभिष्यन्दि पदार्थ अति सेवन

iii) बाध्यशन, समरान, अग्निमांद्रा

iv) नवात्र सेवन, इधुरस व गुड़विकार सेवन

v) दधि व खोर चिकित्सा अति सेवन

vi) माप, राजमाप, तिलपिण्ड, सिंगांडा, बल्टीफल आदि का अतिसेवन
विहारज निदान

i) दिवास्याप ii) अतिस्वप्न
iii) अव्यायाप्य iv) आलस्य

१०६ श्री सत्य गुरु

- प्राणी विद्युत के बहुत से लाभ हैं। इनमें से कई लाभ अविश्वसनीय हैं। जैविक विद्युत का उपयोग विद्युत के लाभों का एक अद्वितीय उदाहरण है।

- v) गुणवत्तानि सेवन vi) रज-पूर्ण सेवन

स) पार्श्वगमक निदान

 - i) हर्ष ii) संतोष
 - iii) अचिना iv) उम्मेद-प्रधानता

प) अन्य निदान

 - i) चाल्पावस्था ii) चलने जलने
 - iii) प्रातःकाल iv) फौटोनोपर्यंत

इलेप्या दीप वृद्धि की चिकित्सा

इलेप्या दीप वृद्धि को अवस्था में निम्न चिकित्सा मिहांत इन्हाने चाहते-

 - i) स्वेदन, घनन व शिरोवरेचन करने प्रयोग
 - ii) तीक्ष्ण मिटेचन प्रयोग
 - iii) आकाश, यायु व अश्विनहाथूत प्रधान द्रव्यों का प्रयोग
 - iv) कटु-तिळ-कफाय रस, तोहन, कला, रुष, गुन मुक द्रव्यों का सेवन
 - v) व्यायाम, रुक्ष डडार्हन का प्रयोग
 - vi) पैचकोल, त्रिफला, बन्दीपैचमल द्रव्यों का प्रयोग

सप्तधातृ के ध्रय-वृद्धि-निदान, लक्षण व चिकित्सा

धातु के समान गुण वाले देश, काल, आहार, विहार, व औपच के सेवन से उस धातु को बृद्धि होती है। यह नियम दोष व मल पर भी लागू होता है। इसके विपरीत गुणवाले देश, काल, आहार, विहार व औपच सेवन से उस धातु, दोष व मल का क्षय होता है। कारण समान गुण वाला होने से एक द्रव्य को बृद्धि करता है एवं विपरीत गुण याते अन्य द्रव्य को क्षीण करता है। जो कारण विपरीत गुण युक्त होने से एक द्रव्य (दोष, धातु, मल) को क्षीण करता है वह अपने समान गुण वाले द्रव्य की बृद्धि करता है।

‘विषम हेतुओं पर त्वाग तथा सम हेतुओं के सोना से दोष-धारु मल प्रयोग का एक नहीं होते हैं तथा शरीर धारुओं में साम्मान बनी रहती है।

दोष-पातृ-मत्त-आश्रय-आश्रयी संबंध³

दोष	धातु	मल
वज्र	अस्ति	-
पितृ	रक्त	स्वेद
कफ	रस, मांस, मेद, मज्जा व सुक	पुरीय-मूत्र

उपर्युक्त लाइका में बात दोष व अस्थि धातुओं को छोड़कर शेष सभी दोष-पात्र नल (आप्रय-आप्रयी) सामान्य-विघ्नेष सिद्धांत का पालन करते हैं। बातवर्धक आहा-विहर व औषध सेवन से अस्थि धातु का क्षय होता है इसके विपरीत अस्थि वर्धक द्रव्य सेवन से बात क्षय होता है। अतः आप्रय-आप्रयी संबंध से स्पष्ट है कि दोष धातु-उपर्युक्त व नल आपस में संबंध रखते हैं।

सात धातुओं के प्राकृत-क्षय व वृद्धि के लक्षण

भटुओं के प्राकृत गुण कर्म, उनके क्षय होने पर उत्तम लक्षण व चृदि होने पर उत्तम लक्षणों को निम्न सारणी द्वारा प्रदर्शित किया गया है—

पात्र	प्राकृत कर्म व लक्षण	क्षय लक्षण	वृद्धि लक्षण
रमा ^१	प्रोफन, दुष्टि, तर्पण, रक्त पुष्टि ⁽ⁱⁱ⁾	शब्द असहित्युता, हृदय (Palpitation), हत्तीड़ा (Angina), खाना, कृतम, शून्यता, श्रेप, रुग्णा, शोषण, प्राकृत कर्म हास, रक्तादि धातु वापचय आदि ⁽ⁱⁱⁱ⁾ (iv)	अप्रिमाण, प्रोत्सक, ठक्कलोद, आलस्य, गौरव, दैत्य, कास, शास, शीखिल्य आविनिद्रा आदि ^(v) (vi)

- | | |
|---|-------------------|
| १. स्वर्वाकुलान्तु यत्परं भोगेत्तदाद्यु। यत्परं नमुपर्वति जापने प्रातः रातः ॥ | (प्रातः 16/36) |
| २. एवामानि विद्युत्तमः शिं तु लेष्टदक्षोः ॥ | (प्रातः 11/26-29) |
| ३. गुण अस्याम् गुणात्मानाद्विविदुः। यत्पुराणातः ॥ | (प्रातः 15/4) |
| ४. गुणात्मानः गुणात्मानः गुणात्मानः ॥ | (प्रातः 15/9) |
| ५. गुणात्मानः गुणात्मानः गुणात्मानः ॥ | (प्रातः 17/6) |
| ६. गुणात्मानः गुणात्मानः गुणात्मानः ॥ | (प्रातः 15/14) |
| ७. गुणात्मानः गुणात्मानः गुणात्मानः ॥ | (प्रातः 11/2) |

पात्र	प्राकृत वर्णन य संक्षण	क्षय लक्षण	युगित संक्षण
एवं अस्थि पुष्टि	मांस खाने की इच्छा, संधिस्पुटन, फूराता, श्लानि, श्वास, उदरतनुत्प, पिपासा, निद्रातुला प्राकृत कर्म का हास उत्तिं	दौर्गन्धि, धूद भारा, गेंद- स्विता, आल्पायु, धूपायु, भैयुन अशक्ति, प्रगेह, अर्क- वातरोग, अतिस्थैत्य, अतिस्वेद आदि।	
अस्थि ^१ एवं धारण एवं मन्त्रा पुष्टि अस्थि	अस्थिशूल, संधिशूल, अस्थि शिथिलता केश- लोम-नख-श्मशु रोमादि का गिराव व थकावट आदि॥ ३ ॥	अस्थिस्थि, अधिदन- केश व नख-अति- वृद्धि आदिम ॥	
मन्त्रा ^२	शरीर खेड़न, बल सम्पादन, शुक्र पुष्टि बास्त्र धूप आदि	अत्पशुक्रता, पर्वभेद अस्थि छिरता, अस्थि- निस्तोद, भ्रग, लिमिर, तम, वात रोग व प्राकृत कर्म हास आदिम ॥	सर्वाङ्ग व नेत्र वें भौति तमोदर्शन, भ्रग, मूला अस्थि पर्व पर द्रव्य उत्पत्ति आदिम ॥
शुक्र ^३	थैं, च्वन, प्रोति, देहकल, हर्ष आदि। इत्य अस्थि पुष्टि	दौर्वल्य, मुखशोष, पाण्डु, संदन, श्व, क्लैन्ज, शुक्र का देर से साथ, नेद्- वृपग वैदना, शुक्र रक्ता आदिम ॥	शुक्राशमरी, शुक्र अति- प्रवृत्ति, स्वप्रप्रोता, नेतृत्व की अति हच्छा, शुक्र प्रदोषण विकार आदिम ॥

उपर्युक्त शब्द वर्गिका

राज भारत में स्वतंत्र ग आर्द्धव, एक भारत में कन्दूग-मिग, मांगढ़ान में चमा-लवचा पर्याप्त गानु में स्वतंत्र दुर्बलता की उत्तराय होती है। उपरान्त इन के शय-वृद्धि के लक्षण मिग प्रकार ग उत्तराय हैं-

उपधारा	क्षय लक्षण	वृद्धि लक्षण
स्तन्य	स्तन्यन्दानना, शीरस्न्दाना, और अदुर्बलता।	ज्वरों का विशाल-स्थूल होना, दह-दाह से होने वाली, जब में चौड़ा।
आर्तव	ट्रिचित् काल में मासिक क्षय न होना, अल्प नासा में अल्प काल के लिये शाव होना, योग्न प्रदेश में बैद्धना।	अल्पव अतिरुक्ति (रक-रुदर), अन्तर्वन्द, दौर्यंत्य, दाह, चान्दु से दुर्गम।
कण्ठरा सिरा प्रदोषव विकास, स्तन्य ग्राविय, स्नायु,	संकोच, घृत्ती और विकार	

मल्हों के हाय-वर्डि लक्षण

शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य को सिंचात ज्ञाने रखने के हिस्पे बहुतेका जाग्यावस्था (प्राकृतिकस्था) में रहना आवश्यक है ज्ञानों द्वय-प्रयु-भज्ज हो गयों के भूल करने हैं। आचार्य सुदूर ने स्वस्थ्य को परिभाषा में "समधनु भूत क्रिया;" कहकर इसको महत्ता दर्शित की है। याहुल्या के अध्यात्म धर्म के बहुत पुरीय, दूर य संदेश का ही बनने शास्त्रों में विलास है। अतः चलों के शय धूमि एवं साम्यावस्था सफानों का ज्ञान ऐसु चिकित्सक को होना चाहिये जो कि निम्न लालिका में दर्शित है—

भल	क्षय लक्षण	चूँज्ह लक्षण
पुरोष	हृदय, पार्श्व य ओंत में पीड़ा, उदर में अंतःकूदान, शब्द के स्थाय यापु का ऊर्ज्ज्वल, अप्तः एवं	कुंपि गूल य आटोप, आध्यात, कुंपि में भरोपन, उंगों में गुडगुदाहट, शारीर में भारोपन
1.	सताध्ये सताध्येतरका हठाक्षलेपादेश्यक च	(मु.मु. 15/12)
2.	सतान्य सताध्येतरका पुरुष्टुः पर्णि गोद च ३	(मु.मु. 15/16)
3.	आटोपये पर्यावरिकालाकालमहया का दीर्घेत्रय च।	(मु.मु. 15/12)
4.	आटोपये पुरुष्टुः आगर्वर्द्धनीलकुमि दीर्घेत्रय च।	(मु.मु. 15/16)
5.	स्वर्वा रिक्तकर्मशये दुरा किंप्रति यावत्। सताध्येवत्तुलीभूत्याप्यदानार्थः ५	(मु.मु. 28/21)

प्रति	क्षय लक्षण	युद्ध लक्षण
	तिरंक गमन, आधान, कुर्सि में शूल व भारोपन आदि'	आदि'
मूत्र	जल्पन्त्रुदि (Oliguria) अस्तित्वेद, मूत्रकृच्छ्र (Dysuria) अतिवृष्टि, मुख-गुणकता, मूत्र वैवर्य आदि'	मूत्राधिक्य (Polyuria), मूत्र वैस्तित्वेद, आधान
स्वेद	सेनकृष्ण अवरोध, स्त्रव्य-सेनकृपता, त्वक् रुक्षता, त्वक् स्तुप्ति, स्वरारंभान अभाव, सेनकृत्व आदि'	त्वक् दीर्घन्य, कण्ठ, अतिस्वेद, सैनहर्प आदि'

अन्य सत्त्वों के क्षय होने पर ठन-ठन मर्तों के आयतन (आशय) की शून्यता प्राप्ति होती है। वह अशय लघु रुप तथा मुक्त हो जाता है। मर्त बृद्धि होने पर ठन-ठन मर्तावत्त्व में भागीरथ प्रवृत्त होता है।

(१) यूद दोष-धातु-यजलों-दपथातु के क्षय-वृद्धि में प्रयुक्त सामान्य चिकित्सा सूत्र
यूदकर एवं अन्तर्वृत दोषों के आवरण को दूर कर साम्पाचवस्था में लाने का

(2) विषम हेतुओं के स्थान व सम हेतुओं के निरनार सेवन से दोष-धनु-उपचतु
य यज्ञ विषमता को प्राप्त नहीं होते हैं। विषमता को प्राप्त दोष साप्त्यावस्था में
रुक्षकर गर्भ को स्वस्थ बनाये रखने में सहायता करते हैं।

- (3) यथान् गुणपत्री के सेवन में शीत घटनाओं को घटादि एवं विसर्जन गुण सेवन में गुरु घटना घटनाक्रम में आती है।
 - (4) गुरु गुणपत्री अवनी-अवनी अद्वित घटनाओं को घटाती है।
 - (5) आवार्य मृक्षगतिमात्र घटने हुए दोष-घटना दर्शन भलों को अवनी-अवनी संशोधन, संरक्षण द्वारा दाय सेव में अविवरण अनुकूल विकास विकास प्रदूषक करने चाहिये।
 - (6) दोष-घटना नल के क्षय होने पर अवार्यविवरण अवनी-विवरण का सेवन करने से वे साम्प्रदायका में आते हैं।

उपधातु क्षय-घटिदि की विधिकालीन

 - (i) सत्त्व उपधातु के क्षय होने पर संसाधन वर्षक इल्लों का प्रयोग करना चाहिये।
 - (ii) सत्त्व घटिदि होने पर संसाधन ड्राग (Through Breast Suction Pump) धीर निकालना चाहिये। स्वतंत्रे पर रोकहर इल्लों का सेव हालान्न उपधातु होता है।
 - (iii) आर्तवध्य होने पर संसाधन कर्म (चमन, विंधय कर्म इत्यादि) एवं आवनी इल्लों (तिल, चांदी, तुका इत्यादि) का प्रयोग करना चाहिये।
 - (iv) आर्तव घटिदि होने पर नित का रक्तरक्तक उच्चरक्त करान्य चाहिये। ताय होने पर कठतम्बक विधिकालीन भी लापत्र होती है।

परां खो अप-यहि चिकित्सा

- पुरीष काय होने पर स्वयंनियन्त्रक व सनान गुण धनो द्रव्य यदा कुसमान, उहांद, यव, राहक, भास्यान्त का प्रयोग तापदृढ होता है।
 - पुरीष युद्ध की अवस्था में मत विरोधक, विवरण द्रव्यो का प्रयोग करना चाहिये।

3. मूत्र धात्र होने पर स्वयंनिवर्धक द्रव्य यथा इथुरस, यारणीपाण्डु, द्रग, पाणि, अम्ल-लवण इस एवं उपकरणों का प्रयोग कराना चाहिए।
 4. मूत्र वृद्धि की अवस्था में मूत्रल घ अधोवायु गमनकारक द्रव्यों का प्रयोग कराना चाहिए।
 5. स्वेदशय को अवस्था में अतिरंग कर स्वेदन द्रव्यों का प्रयोग कराना चाहिए।
 6. स्वेद वृद्धि होने पर चित्तशामक द्रव्य यथा पंचतिक्षयृत गुण्गुतु को प्रयोग कराना चाहिए।

विधिव धार प्रदोषज विकार एवं चिकित्सा सूत्र

ज्ञातादि दोष इकृपित होकर धातुओं में स्थानसंश्लिष्ट होकर ही रोग उत्पन्न करते हैं।

अतः प्रश्नदृष्टि धातु की होने के कारण उत्पन्न रोग धातु प्रदोषज विकार कहलाते हैं जो चिन्ह हैं—

धात प्रदोषव विकार

रसायन	रक्तजै	पांसजै	मेदजै	अस्थिजै	मन्त्रागतै	शुक्रजै
1. चोदन में कुड़ी अधिमांस अष्टनिन्दित अथास्थि पर्वरूप कलैव्य अप्रहर्ष	खट्टा वित्तर्बं अबुंद पुरुष अधिदन्त श्रम अप्रहर्ष					
2. लसर्चिं चिपिडिका कोलक ग्रमेह के दन्तास्थिभेद मूर्छा शुक्राशयां						
3. व्याघ्र रक्षित गलशुण्डी दन्तशूल तमोदर्शन शुक्रभेद	चैत्य					
4. रक्तजल रक्तप्रदर गलशालूक मेदोप्रथि अस्थिभेद पर्वशूल शुक्रदोष न होना पृष्ठ-नेत्रव						

- | | | |
|----|--|--------------------------------|
| १. | मृत्युपर्वताप्रवाहादेवनिराकाशपूर्णलक्षणं ततोऽनिः। | (प्रथा 6/11) |
| २. | ददण्ड्यु विद्युत्संकाशः ॥ | (तु.सु. 15/11) |
| ३. | वृष्टि चार्यदात्रयोत्तीर्णग्रहः । इमान् दीर्घ गता वृष्टिः स्मृतो अवालोकः ॥
वृष्टिः वैद्यनाथः, वृषभः, वृष्णः, कृष्णद्रवः । उत्तरांश्यप्रपातस्तु प्राप्तः प्रतितिनि च ॥
सामुद्रादेव, वृष्णः । | |
| ४. | - यदन्ते ग्रहादारा, वृहदीर्यादीर्यादारादीर्यग्रहाः । वृहदीर्यप्रपातः चिंहो गुरुत्वम् विद्युतिः ॥ | (प्रथा 28/9-10) |
| ५. | वृहदीर्यादारा वृहदीर्यग्रहाः । उत्तरांश्यविद्युतिः ॥ | |
| ६. | अर्धप्रदृशः चिंहो ग्रहादारादीर्यग्रहाः । वृहदीर्यादीर्यादारादीर्यग्रहादीर्यविद्युतिः ॥ | (प्रथा 28/11-12) |
| ७. | वृहदीर्यादारा वृहदीर्यग्रहाः । वृहदीर्यादीर्यादारादीर्यविद्युतिः ॥ | (प्रथा 28/13-14) |
| ८. | अर्धप्रदृशः चिंहो ग्रहादारादीर्यविद्युतिः । वृहदीर्यप्रपातः चिंहो ग्रहादीर्यविद्युतिः ॥ | (प्रथा 28/15) |
| ९. | वृहदीर्यादारा वृहदीर्यग्रहाः । वृहदीर्यप्रपातः चिंहो ग्रहादीर्यविद्युतिः ॥
वृहदीर्य दीर्घादीर्यविद्युतिः । वृहदीर्यादीर्यादारादीर्यविद्युतिः ॥
न वृहदीर्यादारा वृहदीर्यविद्युतिः । वृहदीर्य दीर्घादीर्यविद्युतिः ॥ | (प्रथा 28/16)
(प्रथा 28/17) |
| | | (प्रथा 28/18-19) |



संख्या	वाचक शब्द	मत्तू शब्द	प्रार्थना	विवरण	गुणवत्ता
5.	हल्लाम गौरा	प्लोट गेट गृष्ण	पूर्णमास अलंकृती	प्रार्थना दन विषयसंता	अल्पायु विस्तृता
6.	तन्त्रा	प्रिदापि	गलागङ्क	मधुमेह देवता विकास	विस्तृता
7.	अंगमर्द	कामला	गुणदमाला	अविमोद	आदि
8.	ज्वर	नीतिका	अर्द्ध	अल्लम्ब	मनुष्य दोष
9.	ताम	ख्याति, पिण्डि	अधि- विद्धिका	मलापात्र वृक्षिकां	कुल्यु देव आदि
10.	पाण्डु	विविक्षितक	ठपकुरा	दूजसंवेदी- विकास	
11.	सोतोरोध	दु	मांसपंचाश		
12.	हृदयरोग	चर्मदल	ओड प्राकों		
13.	क्लैच्य	शिवत्र			
14.	कृशांगता	पामा	उचिविद्धिका		
			आदि		
15.	चली	कोठ			
16.	पसित	नव्वर			
17.	अंगमाद	इन्द्रतुम			
18.	ख्लानि	वातरेच्छित			
19.	अंगिमांद्य	अर्द्ध			
20.	असमय-	वर्जुंद			
	दुलिदोष	रक्षमण्डल			

धारप्रदोषज विकार विजित्सा सूत्र

- (1) समस्त रसज विकारों में लाप्न (दशविध) करना सामरेक है।
 (2) रक्त प्रोलेट विकारों में रक्तप्रीतरानक विकेत्सा, विचेतन कर्म, रक्तमोक्षण (Blood letting) एवं उपवास करना चाहिये।
 (3) मांसज विकारों में संतोषाधन (पंचकर्म), शास्त्रकर्म, शारकर्म इवं अनिकर्म करना चाहिये।

- | | | |
|----|---|--------------|
| १. | राजार्थी विवाहात्मक गार्वान्वयनपद्म। | (च.म. 23/23) |
| २. | कुपालसंग्रहालयों रविवाहात्मक विवाहात्मक गार्वान्वयनपद्म। | (च.म. 24/19) |
| ३. | प्रधानमन्त्री द्वारा दिया गया विवाहात्मक गार्वान्वयनपद्म। | (च.म. 28/26) |

- (4) भेदव विकारों में आपार्टम-कर्नर्पन चिकित्सा, रथीलग्यहर चिकित्सा आदि कफ-भेदनाशक उपचार फलाना चाहिए।

(5) अधिक प्रदोषव विकारों में रामूर्ण धूकर्कर्म गत्ताकर यिशेपकर गिरकर्थांग गोप एवं लिपु भूत वा प्रयोग करना चाहिए।

(6) घज्जा प्रदोषव विकारों में माझ-तिक रस प्रधान अन्नपान व औषध प्रयोग धूकर्कर घज्जातम व चयाकाल संरोधन करना चाहिए।

(6) शुक्र प्रदोषव विकारों में उपर्युक्त घज्जागत विकार की ही चिकित्सा स्थापित होती है।

दोष दर्श समचर्जना

समूच्छना का अर्थ है "अति व्याप्त होना" अर्थात् पूर्ण रूपेण एक दूसरे में विद्युत जलना। यह दोन दूसरों का ऐसा संयोग होता है जिसमें एक-दूसरे को वे सर्वथा प्रभावित करते हैं, उनके संयोग से विशेष परिस्थितियां उत्पन्न होकर सक्षणों की उत्पत्ति होती हैं एवं व्याप्ति प्रकट होती है। अतः यह व्याप्ति उत्पत्ति दोष-दूष्य समूच्छना का ही परिणाम होती है।

प्रकृष्टिहृदय का पातुओं एवं मलों को दूषित कर शरीर के एकाङ्ग या सर्वाङ्ग में रोग विकल्प करना दैव-दूष सम्पूर्णता विद्युताता है। सम्प्रति (Pathogenesis) निर्माण वै संचयन देने का संबंध (Accumulation) होता है तब ये प्रकृष्टियां होते हैं। पश्चात् लोग रोग में विस्तार (Spread) होते हैं तथा इन प्रस्तुतणशील दोषों को स्नोतस के निजस्वन या 'दै-पौष्टि' प्रत होता है ये उसी स्थान पर रुककर बहां स्थित दूष के साथ गिरलाक असूच्यना बढ़के येगा वरपर करवे हैं। यह प्रकृष्टिया स्थान संश्योगस्था में सम्पूर्ण होती है।

३८५

प्रकार बने होते हैं। सम्पूर्णना से ही व्यापि की उपतिः होती है। यह सम्पूर्णना निम्न दो

- (1) प्रकृति समस्यावेत् सम्पूर्चना-
 1. प्रकृति या सम्बन्धेत् या भौतिक सम्पूर्चना-
 2. विद्युति विषय सम्बन्धेत् या गताधारिक सम्पूर्चना

(१) प्रकृति समस्यायेत् याप्तुच्छुना।

१.	महोर्मिनीतः प्रयत्ने मंदेषु वास्तु विद्यालयम्।	(प.ग्र. 26/26)
२.	मात्रम् कलाकारां वस्त्रादीप्ति विद्यालयः प्रयत्नः; श्रीगार्हिणी विद्यालयम्।	(प.ग्र. 26/27)
३.	परम्परागतानुसारी विद्यालयः एवं अन्यान्यानि दृष्टिः वस्त्रो वा वास्तुः।	(प.ग्र. 26/28)
४.	परम्परागतानुसारी विद्यालयः एवं अन्यान्यानि दृष्टिः वस्त्रो वा वास्तुः।	(प.ग्र. 21/31)
५.	प्रयत्नः वास्तु विद्यालयः एवं अन्यान्यानि दृष्टिः वस्त्रो वा वास्तुः।	(प.ग्र. 17/12-123)
६.	प्रयत्नः वास्तु विद्यालयः एवं अन्यान्यानि दृष्टिः वस्त्रो वा वास्तुः।	(प.ग्र. 11/44)

दोष-धारा-परा-धारा-य यैक्तन भवत्यग्ना

दोनों दृष्टियां पर्याप्त संख्या की दृष्टि का असर जल्द हो जाता है। इस गणितज्ञानी से उत्तराखण्डीय के पुनर्जन्म गए था मैं विशेष अनुभव नहीं हासिल। इसे ही दोनों दृष्टि की विभिन्न (Physical) गणितज्ञानी बनाते हैं। इस अनुभव में औद्योगिक रूप से दोनों दृष्टि विकल्प के विभिन्नताएँ भी दृष्टि की विभिन्नता की जाती है। इसे 'दोनों गणितज्ञानी' विभिन्नता कहते हैं। उत्तराखण्ड राज्य भारत में विन रूप, विविध रूप विभागों के दृष्टि की विभिन्नता जिसके द्वारा

(ii) विकाति विषम मध्यवेत्त मध्यच्छंना'

इस प्रकार जो समूच्छना में दैर्घ्य-दूल में भिन्न रूप तत्त्व होते हैं। ये तत्त्व न ही दोष के होते हैं और न दूष के। इस ही दैर्घ्य-दूल को रसायनिक (Chemical) समूच्छना कहते हैं। उदाहरण अवश्य-दूल (वायुदूल) के इनमें तत्त्व 'उड़ायित गृहाता' दोष (कफ) व दूष (मोर) व शोषन (मोराव स्त्रोम) जो बहुत में भिन्न हैं। इन्हें ही विकृति विषम समवेत तत्त्व होते हैं। ऐसे विकृति में विशेषक 'व्याधि प्रत्यक्षीक' चिकित्सा को जाती है जिसे उद्दीपितों के 'प्रदूष' द्वारा में बनता है। यह समूच्छना हृदय व सृजनात्म संग्रह में जारी भिन्न है। यह समूच्छना ग्राही (Chronic) स्थिति को होती है जैसे—बलाद, द्रव्योद्धारी आदि होगा।

टाँसों का स्वावलम्बन गहरा

सम या प्राकृत अवस्था में स्मित दीप जय वान्‌को दीन्या से अन्य स्थान में चला जाता है शब वह विस स्थान में पहुँचता है वहां पहरे से ही उपर्युक्त दीप को नामा को बढ़ा देता है। इस कारण उस स्थान जैसे उस दीप को पूजा अपन्ना के स्थान प्रकट होते हैं। अतः स्थानानार गमन दोषों के प्राप्ति जौ विकारप्रद होती है उसमें दीप पूज्य हो कारण है। इस प्रकार अन्य स्थान गत समयमें भी दीपलालक होता है इसे भी 'आदरामक' कहते हैं।

जैसे इतिहास के धीरे होने पर युद्ध यात्रा उचित माना जाता व स्थान में चिना पिता को दरसके स्थान गाहणी से शरीर के वित्त-वित्त स्थान में ले जाता है वहाँ अस्पर्य रूप से भेदवत् पौटा, दाह, अस्त्र-युद्धकला स्तुता लभण ऐसे हो जाते हैं। यामु मौगलाही होने से जब पिता के साथ चिनती है यथ दाह उपर करती है एवं जब कफ के साथ चिनती है यथ शोताता उत्पत्त करती है। ऐसी अनेकमा में कुप्ति यामु को विफिलत् के द्वारा स्वस्थान में लाया जाता है एवं पिता ब्लडेंबे हो अपने स्थान में पहुंच जाता है। ऐसी अवस्था में दाह आदि दैत्याकर पिताशनक, विशेषन आदि उत्पत्त करने से लाभ नहीं होता है। इसी प्रकार पिता के धीरे होने पर जब कुप्ति यामु कफ को उसके प्राकृत स्थान से

- | | |
|---|---------------------------------|
| 1. गरीब प्रदानीकरणम् । | (पृष्ठ 17/112-113 पर संपर्कनि) |
| 2. वा एव चुलो देहः समुच्चारितोऽहः । स्वास्थ्यनाशादैव वृक्षकर्मणः ॥ वृक्षू ॥ | (पृष्ठ 18/45) |
| 3. प्रदृष्टिपूर्ण । | दीर्घनिष्ठ च ॥ (पृष्ठ 17/45-46) |

काय-चिकित्सा

धौंचकर अन्य स्थानों में हो जाती है गो उस स्थान में घेदना, शीतलता, ज्वर, भारी बन का अनुभव होता है।

स्थानान्तरणत दोष की चिकित्सा

- (i) स्थानान्तर गत-दोष में बहावल देखकर चिकित्सा करनी चाहिये। स्थानान्तर दोष में स्थानीय दोष को अपेक्षा आगत दोष कम बहत बज्जा है। 'स्थानीय दोष' की ही चिकित्सा फरना चाहिये। यदि स्थानीय दोष है अपेक्षा अलात दोष बलवान हो तो स्थानीय दोष का विरोध न करें। 'आगत' बलवान दोष को ही चिकित्सा करनी चाहिये।
- (ii) प्राप्त: तिर्यक मार्गों में गये हुये दोष दीर्घ काल तक रोगी को कष्ट देते हैं, इसी बह एवं अविवल को जानते हुये धीरे-धीरे इनकी चिकित्सा करनी चाहिए।
- (iii) उब दोष चोड़ से शारीर में आ जाते हैं तब उन स्थानान्तर गत दोषों को छोड़ से कोड़ में साकर संशोधन चिकित्सा हुआ शरीर से बाहर निकालने के उपाय करना चाहिए।
- (iv) पित स्थानान्तर वायु का उपचार पित के समान, कफ स्थानान्तर तित ह उपचार कफ के समान, तथा बात स्थानान्तर कफ का उपचार बात के उपचार चाहिये। तात्पर्य यह है कि आगत दोष का विरोध न करें ही स्थानीय दोष का प्रतिकार सर्वप्रथम करना चाहिये।
- (v) कुर्जित दोष कलम की भिन्नता से स्थानान्तरणत होकर भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न रोग उत्पन्न करते हैं। अतः रोग को एकत्रित, अधिकान, इन सम्मुखान विरोध को ठोक-ठोक बानकर ही चिकित्सा करनी चाहिये।

दोषों की विभिन्न गतियाँ

विभिन्न निदानों के संबन्ध से दोष प्रकृष्टि होकर ही व्याधि उत्पन्न होती है। विद्वानों में दोषों के विभिन्न प्रकृत म्यान बताये गए हैं किन्तु साध ही उन्हें सर्वव्यापी नहीं बनते हैं। दोष प्रकृति स्वयं से अपने-अपने रथान या मार्ग में गति करते हुये प्रकृति क्रियाएँ (Physiological Functions) को सम्भालते रहते हैं, किन्तु जब वहीं गति या स्थन बदलते हो जाते हैं तो वे ही दोष गोपनीयताकांक्षा होते हैं। अतः दोषों की विभिन्न गतियों का उन स्थान या आगे दोषों के शरीर में दोषों विकितसक के लिए आवश्यक है। इन गतियों

1. उत्तरवायन्त्र वर्तन्यां वर्तन्यां च। तुर्दीचर्दिगतां स्थानेव दोष-उत्तरवायन्त्रित्वा ॥ (अ.इ.गु. 13/20-21)
 2. इत्यर्दिगत दोष वर्तन्यां वर्तन्यां च। तुर्दात ते तु भवत्य देहान्तराणपित्र विनाशम् ॥ (अ.इ.गु. 13/20-21)
 3. तुर्दात ते तु भवत्य देहान्तराणपित्र विनाशम् ॥ (अ.इ.गु. 13/21-22)
- परं वाचः विवरणान्तरम्.....एव विवरणः ॥ (प.गु. 28/31) (मु.गु. 21/31)



दोष-धातु-मल-प्राकृत य वैकृत अवस्था

में विभिन्न निदान (Causes), विकारण (Treatment) व गतिकाल (Prognosis) का ज्ञान होता है। दोषों की विभिन्न गतियों निम्न वर्णन होती है—

विभिन्न दोष गति

- शय, स्नान (स्वप्न), वृद्धि
- ऊर्ध्व, अधः एवं तिर्यक्
- कोष, शाया, यमर्दिष्य सर्वम्
- संचय, त्रकोष, प्रसामन
- प्राकृत एवं वैकृत

आचार्य चक्रधार्म ने दोषगति का अर्थ दोष द्वारा विभिन्न प्रकार की अवस्था बताया है।

दोषों की गतियाँ विभिन्न प्रकार को हो सकती हैं जिन्हें दोषगति में दर्शाया गया है। स्वस्य शरीर में दोषों की गतियों "प्राकृत" दोषगति होती है। अनुग्रहवस्था में दोषगति स्वस्य शरीर में दोषों की गतियों "वैकृत" होती है। विभिन्न प्रकार की दोष गतियों का वर्णन निम्नतुल्य है—

1. (i) क्षय—दोषों का शरीर में अपने प्राकृत प्रकार से कम हो जाना है।
"क्षय दोषगति" है।
- (ii) स्थान—दोषों का शरीर में स्थानान्तर में प्राकृत प्रकार व साम्बन्धित स्थान ही "स्थन" या "स्थान दोषगति" है।
- (iii) चूद्धि—दोषों का शरीर में अपने प्राकृत प्रकार से बढ़ जाना है। "चूद्धि दोषगति" है। यह गति तुनः दो प्रकार के होती है—
(a) चम
(b) प्रक्षेप
2. (i) उत्तर्व—दोषों का स्वस्थान से निकलकर उत्पन्ननाम (विरङ्गदेश) को और जाना ही दोषों की "उत्तर्व गति" है। उदाहरण-रक्तित्व, चार्दि, उत्तर्व, अस्त्रपित आदि रोगों में दोषों की उत्तर्व गति होती है।
- (ii) अधः—दोषों का स्वस्थान से निकलकर अधोगार्न (गुदा, चाद, पूत्रेन्द्रिय) को और जाना ये जाइर निकलना हो "अधः दोष गति" है। उदाहरण-अतिसार, प्रवाहिका, घहगी, अधोग रक्तित्व, १३ अधोग आव्यापिता, रक्तप्रदाता, देहप्रद आदि रोगों में दोषों की अधोगति होती है।

1. १) धृत, रसायन एवं वृद्धि दोषों विवरणात्। उपर्याप्ति तिर्यक् य विभिन्न विवरणात्या ॥ (प.गु. 17/112-113)
2. १) यसे रोगमात्र इति-हस्त मर्त्येवान्वर, चोहान्। (प.गु. 11/49)
2. गति: प्राकृतप्राकृता या। (प.गु. 12/112-113 या उत्तर्वत)

- (v) विद्यंक—दोषों का शरीर में स्वस्थान से निकलतकर तिर्प्पते हैं (हत्ता झट्टी चाहू भाग, रोमरूप) को ओर जाना ही "विद्यंक दोषनाशी" है। उदाहरण—जर, मन्दाग्नि, उभय रक्तपित्त, घाय औ झट्टी में दोषों को विद्यंक गति पाई जाती है।

3. (vi) कोहुगत (आध्यन्तर) दोष गति—महातोत (कोष) में स्थित नहीं हृदय, चक्रत, लोहा, वृक्ष, वस्ति, आमाशय, पक्वाशय, गुदा इन देवदास अंगों में द्वय दोष गमन करता है तो वह उनके (दोषों के) ऊर्ध्वान्तर रोगमार्ग कहलाते हैं। आध्यन्तर रोगमार्गों में विकृत दोषों की गति होने के पाइलामस्त्वरूप ज्वर, अतिसार, विसूचिका, शास, वृद्धि, हिक्स, स्तोहेदर, अताह, शोथ, गुल्म झट्टी ऐसा उत्पन्न होते हैं।

(vii) शाखागत (बाह्य रोग मार्ग) दोष गति—त्वचा, रक्त, भास, देह, ऊर्ध्व, मवा एवं शुक्र आदि से शाखा शब्द का ग्रहण किया जाता है। इनमें अवस्थित होने वाले रोग बाह्य मार्गिक होते हैं। इन रोगों के निदिका, अलबी, अपची, अधिपांस, कुष्ठ, व्यङ्ग, विसर्व, शोष, गुल्म, अर्द्ध, विद्रौपि एवं शाखाक्रित कामला आदि रोग प्रमुख हैं। विकृत अवस्था में दोषों के कोष से शाखा में आने के निम्न कारण हैं—

 - अत्यधिक व्यायाम
 - छम्म की दीदान्त
 - वृहद्वक्र व्याहार विहार सेवन
 - चापु के अतिशोषणाग्नी स्वभाव के कारण
उल्लः शङ्खागत दोषों को यथास्थान कोष में लाने के निम्न उपाय हैं—
 - दोष वृद्धि
 - दोष विष्ट्रन्दन
 - दोष वीट्यक
 - स्फंडासुख यिरोपन
 - चापु के निष्ठह से

अतः शङ्ख संदेन में शाखागत दोष कोष में लाए जाते हैं।

(iii) मर्मास्थियमधिगत (मध्यम) रोग मार्ग गति—दोषों का शरीर में स्वस्थान में निवासकर गर्व, अोश य गंभीरों में जाना ही मध्यम रोग मार्ग गति है।

मध्यम मर्मास्थियमधिगत कारण। चंडी व्याधि वार्षिक दृष्टस्थलादायक। चंडी व्याधि वार्षिक दृष्टस्थलादायक। (पृष्ठ 25/31)
मध्यम मर्मास्थियमधिगत कारण। चंडी व्याधि वार्षिक दृष्टस्थलादायक। (पृष्ठ 25/31)



1. विद्युत् उत्पादन की संस्थाएँ विद्युत् उपयोग के लिए बहुत ज्यादा विद्युत् उत्पादन करती हैं। विद्युत् उत्पादन की संस्थाएँ विद्युत् उपयोग के लिए बहुत ज्यादा विद्युत् उत्पादन करती हैं।

2. विद्युत् उत्पादन की संस्थाएँ विद्युत् उपयोग के लिए बहुत ज्यादा विद्युत् उत्पादन करती हैं।

मर्मादिक्षिण मौखिक रोग स्तरीय रूप से है। इन रोगों में परालीज़ (Paralysis), पश्चिमी अक्रान्त (Tetanus), अफियट (Facial Paralysis), बोल, मारुदरमा (Tuberculosis), अर्थिय रूप (Arthralgia), सॉन्हाइट (Joint Pains), मुद्रारोग, सिंहारोग, हड्डों की वर्णीय रोग आदि गमन हैं।

४ राजस्थान दोंप गीत—

- (ii) संचय, प्रकोप व प्रगति—इसके अनुभाव व्यवस्था में ही दोनों का प्राकृतिक रूप से संचय, प्रकोप व प्रगति होता है। दोनों को मौजूदी का कानून के सामने में दर्शवा देते हैं।

चिटोप का प्रावृत्ति रूप में संचाच-प्रकोप-प्रदान

क्र.सं.	दोष	संचय	प्रकार्य	प्रभाव
1	वात	श्रीम	वर्द्ध	दृढ़द
2	फित	घटन	दृढ़द	हेमन्त
3	कफ	हेमन्त	घटन्त	योग्य

६ साक्षर-वैज्ञानिक गतिः

- (i) प्राकृत गति—दोनों को स्वर्य पुण्य में जो स्थानांकिक काल फूट गति होती है उसे दोनों की प्राकृत गति कहते हैं।

(ii) वैकृत गति—दोनों को उत्तर पुण्य में जो कालकृत गति होती है उसे दोनों की वैकृत गति कहते हैं।

दोष गतियों का महत्व—कुरात धिक्कित्सक के तिर दोनों की विभिन्न गतियों को यानना धिक्कित्सा की दृष्टि से अवश्यक है। निष्ठा दृष्टियों से दोष गति यानना धिक्कित्सक के तिर उपर्योगी रहता है-

(i) रोग निदान की दृष्टि से—इन विभिन्न दोष गतियों का उपर्योग रोग निदान में होता है। ऐसे पिपल ज्वर आमतम् दोष सम., रक्तात्त छोड़ते हैं तब वह खोता ज्वर को उत्पन्न करता है। यहाँ म्लेजान होते अचेषुप्त ज्वर वो उत्पन्न करता है। रोगमार्ग गत होने से इर्हं (रस-रक्तादि) गार्भ कहा जाता है। इन मार्गों में दोनों के संचार फौंगति कहते हैं।

१. चपकोपायाः वित्तीये प्राप्तम्। भवत्तेऽस्मि च प्राप्तं कोपायामन्तर्गतः ॥ (प.ग. १७/१३)
 २. गतिः कालान्तरं चेत् चक्राणुं पूर्वान्तरं। वित्तीये द्वितीये एव द्वितीये च च ॥ (प.ग. १७/१५)
 ३. गतान् प्राप्तान्, इतेष्वा वित्तिकाः। प्राप्तोपायास्त्रोद्दिः स्वर्विष्यद्वादा, तुः ॥
 कर्त्तव्यानुपकं प्रोप्तानां ते शक्ताण्॥ (प.ग. ३९/६७-६८)

(i) चिकित्सा की दृष्टि से—दोष गतियों का ज्ञान चिकित्सा की दृष्टि से भी आवश्यक है। जैसे कई दोष किसी अन्य दोष के स्थान में बदल रोग उत्पन्न कर दे तब सर्वप्रथम उस स्थान के मूल दोष को इस प्रकाश सामाजिक में लाना चाहिए कि स्थानस्थ दोष की वृद्धि न होने यांच यदि कफ पक्षाशय में जाकर रोग उत्पन्न करे तब सर्वप्रथम पक्षाशय के मूल दोष यांच को जीतने के लिए कफ को न बढ़ाने वाले स्थित मूल दोष यांच को जीतने के लिए रुक्ष स्वेदन हितकार है। इसी प्रकार बात दोष यदि आपाशय में जाकर रोग उत्पन्न कर दे जो वह मूलतः कफ का स्थान है तब सर्वप्रथम आपाशय के मूल दोष कफ वाले रुक्ष स्वेदन द्वारा जीतना चाहिए। पक्षाशय आपाशय को लिंग स्वेदन द्वारा जीतना चाहिए।

(ii) साध्यासाध्यता की दृष्टि से—कोष व शाखाओं में दोषों का स्थान संक्रम होने से रोग साध्य होते हैं किंतु मर्म, अस्थि व संधि में दोषों का स्थान संक्रम होने से इनमें होनेवाले रोग प्रायः असाध्य होते हैं।

इस प्रकार दोषों की विभिन्न गतियों को जानना चिकित्सक के लिए अत्यधिक है।

*** शुभ उत्तम अनुष्ठान ***

तृतीय अध्याय

ओज विवेचन

परिचय—दोष-धातु-मल से फिल अत्यन्त उपर्याप्ति तत्त्व के हम में शरीर में "ओज" को माना गया है। यह शरीर के उत्तम रूप से धूतन व औद्यन निवाहन के लिए परमावश्यक है। ओज अत्यन्त अल्प-प्रमाण में शरीर में रहते हुए भी अत्यन्त व्यापक क्रियाओं को सम्बन्ध बनाता है तथा शरीर को निर्धारित एवं विनाश में अत्यन्त गहरतम् बनाता है। आचार्य चरक ने "ओज" को प्राकायतनों में उत्तम कहा है। चर्चित सुदूर "ओज" को "चल", आचार्य चरक इसे सर्वधातुमार, आचार्य वामद शुक्र का मल तथा आचार्य शार्दूल धर ओज को शुक्र की उपधातु मानते हैं।

परिभाषा—शरीर में पाए जाने वाले रस-रक्तादि धातुओं से शुक्र वर्णन सम धातुओं के उत्कृष्ट सारभूत अंतर को "ओज" कहा गया है। इसे शरीर का "बल" या "प्राकृत इलेम्मा" भी कहा है। ओज का पोषण अन्य धातुओं के सुनान अन्नरस से हो होता है।

ओज स्थान व वर्ण
चेतना का स्थान "हृदय" ही उत्कृष्ट ओज का स्थान है। ओज का स्थान होने के कारण महर्षि चरक ने हृदय को "महतु" एवं चेतना का आक्रम स्थान होने से "अर्प" संज्ञा से सम्बोधित किया है। हृदय से प्रारंभ होने वाली दस बननियाँ "महामूला" कहलाती हैं जिनसे चारों ओर हृदय द्वारा ओज का बहन किया जाता है अर्थात् ओज एक द्वारा समस्त शरीर में संचरित होता रहता है।

ओज रक्तपीठ वर्ण का या घृत के वर्ण का, मधुर रस युक्त तथा ताबा के समान गंध जाता होता है।

ओज के प्रकार

ओज निष्प दो प्रकार का होता है—

1. तत्त्व सारदोत्तम धूमनन्तरी धातुर्ग चूर्च देवकला-
प्रलोत्तरादेव कर्मिषुष्य, स्त्राजन गिर्दोत्तम। (पृष्ठ 15/19)
2. प्राकृत धातु दोष दिक्षुते मता उत्पन्न। (पैदोजः, स्त्रीः, बन्धे सब पार्वतीविनाशः। (पृष्ठ 12/13))
3. पुरुषिल तापाशास्यसामिकांसेतीव्यवधार्युदेवती। (पृष्ठ 28/4)
4. तत्त्व सारदोत्तम धातुर्ग चूर्च देवकला। हृदय वात्यादि धातुर्ग विकालोः। (पृष्ठ 32/7)
5. तत्त्व धातुर्ग धातुर्ग चूर्च देवकला। ओजोवाहः, रसोऽपिष्यु विप्रवन्ने स्त्राजनः। (पृष्ठ 32/8)
6. वृद्धि विश्व वस्तुर्ग रक्तपीठविनाशः। ओजः, शरीर संखारी स्त्राजन विकालीः। इर्षिवर्ण धातुर्ग स्त्राजन विकालीः। (पृष्ठ 17/24-25)

1. अप्यतापादं चां देव वात्यादि धातुर्ग चूर्च देवकला-
प्रलोत्तरादेव कर्मिषुष्य, स्त्राजन गिर्दोत्तम।
2. ० पर्वत धातुर्ग चूर्च देवकला विनाशः।
३. ० वृद्धि विश्व वस्तुर्ग रक्तपीठविनाशः।
४. ० वृद्धि विश्व वस्तुर्ग रक्तपीठविनाशः।
५. ० गम्भीर धातुर्ग चूर्च देवकला।

(पृष्ठ 14/9)
(पृष्ठ 10/12)
(पृष्ठ 10/16)
(पृष्ठ 10/18)

- (i) पर ओज
(ii) अपर ओज
‘पर ओज’ अष्टविंश्तु प्रमाण में हृदय में एवं ‘अपर ओज’ अष्टविंशति प्रमाण में शरीरोंपरत रहता है। ‘पर ओज’ के नष्ट होने पर शरीर भी नष्ट हो जाता है।

ओज के गुण
आधारों में ओज के निम्न 10 गुण चलते हैं—

1. गुरु 2. शांत 3. मृदु 4. रक्तक्षण 5. बहल 6. मधुर 7. सिंधर 8. लग्न

9. पित्तिल 10. दिनाप

ये गुण व्यष्ट के दश गुणों से विपरीत हैं, अतः मध्य सेवन से ओज का नाश होता है। विष के गुण भी ओज से विपरीत होते हैं।

ओज के कार्य*

ज्ञास्त्रों में ओज के निम्न कार्य वर्णित हैं—

1. ओज से शरीर पोषित होकर ही जीवन का निर्वाह होता है अथात् इस जीवित रहता है।
2. गर्भ के प्रारम्भ में मुकु-शोणित के सार के रूप में ओज विद्यमान रहता है।
3. ओज ही शरीर का प्राकृति बल है।
4. ओज सप्तत-चेष्टाओं के लिये शक्ति प्रदान करता है।
5. ओज स्वर य वर्ण में प्रसन्नता प्रदान करता है।
6. ओज वा नाश होने पर शरीर का नाश हो जाता है।
7. हृदय में आक्रिति रहकर ओज आयु का धारण करता है।

ओज क्षय-वृद्धि-कारण, लक्षण व चिकित्सा

ओज क्षय के कारण

साम्राज्य में ओज के क्षय होने के निम्न कारण बताताएं गए हैं—

1. अष्टविंश्तु शूक्रक्षय द्वयदेव इष्टार्थ ग्रामदेव दीर्घिकार्यका इति॥
2. ० पुरुषविंश्तु श्वर्य वहाने यमुं विषयम्। इष्टनं विषेषत दिनाप ओजो देव गुप्तमृगम्॥ (च.नि. 24/31)
3. श्वर्य द्वयदेव इष्टनं विषयम्। विषेषक मृदु यूक्तं च प्राक्कर्त्तनमृदम्॥ (मृदु 15/21)
4. यद्य हृदयविषय व्यवृत्तीर्णवलो युद्धन्। दर्शितर्ण दर्शेत्य देवो नयति विषयम्॥ (प.नि. 24/29)
5. देवेशाऽहर्विन दीर्घिकार्य, सर्वदीर्घानः।, नैकायम् इष्टवं सप्तविंशति पृष्ठुप्राप्तम्।
6. यद्यापारी रक्त स्नेहं प्राक्कर्त्तन दीर्घिकार्यम्।
7. यद्याप्तु रक्त शोषण।
8. यद्याप्त विषयती।
9. यद्याप्त व्यवृत्तीर्णवलो युद्धन्। अोजः रौद्रीषो हृष्टो परुषग्रन्थिः स्मृतः॥ (मृदु 15/21)

ओज विवेचन

(I) आहार विदान

- i) शुष्पा (अवश्वन)
- ii) अनुचित, अकाल व मात्राहीन-आहार सेवन
- iii) पोषक खाद्यों से गहन आहार वा निस्तर सेवन

(II) विहारज विदान

- i) अधिक श्रम
- ii) अति व्यवाय
- iii) अनुचित क्रियाकलाप

(III) प्रानसिक विदान

- i) ऊध
- ii) शोक
- iii) चिना

(IV) अन्यकारण

- i) चृद्धावस्था
- ii) अधिगत
- iii) घलुक्ष्य आदि

ओज क्षय के लक्षणः—

अपर-ओज के क्षय होने पर शरीर में निम्न लक्षण मिलते हैं—

1. रोगी भयभीत रहता है
 2. रोगी बार-बार चिना करता है
 3. रोगी दुर्बल हो जाता है
 4. रोगी अधित रहता है
 5. इन्द्रियों में बेदना रहती है
 6. शरीर में रुक्षता य वृक्षता हो जाती है
 7. थकायट होती है
 8. रोगी को शारीरिक प्रभा य कांति नष्ट हो जाती है
- ओज क्षय के लक्षणों का साम्य आधुनिक विज्ञान में वर्णित दुरिच्छिकल्य

1. विग्रही दुर्बलोऽपेक्षनं भवतीति अधिकारिपः। दुर्बलादे दुर्बला रक्तः भद्रपौर्वीतः श्वी॥ (प.मृ. 17/23)

ल्याप्टिव AIDS (एडम) से किया जा सकता है।

ओज क्षय (ओज विकृति) की अवस्थाएँ (भेद)

आवार्य मुकुट ने ओज क्षय के लक्षणों पर निम्न शीर्ष अवस्थाओं में धर्जित किया है—

1. ओजो विलंब

2. डेंगो व्यापद

3. ओज क्षय

1. ओजो विलंब के लक्षणः

'ओज विलंब' का लक्षण है ओज का स्वस्थान से चलावन्नन होना। इस उत्तरका बे शरीर में निम्न स्थान प्रकट हो सकते हैं—

1. संघीय विलंब (Detachment of Joints)

2. अंगांश (Bodyache)

3. दोपों का स्पान भूंगा होना

4. शर्करात्क व मानसिक क्रियाओं का रुक जाना

5. गाह लदन (Looseness of body)

ददाहरण—मधुमेह रोग में ओज मूत्र के साथ बहकर शरीर से बाहर निकल जाता है।

2. ओज व्यापद के लक्षणः

'ओज व्यापद' का लक्षण है—स्वस्थान में स्थित ओज का दोपों से दूषित हो जाना। इस अवस्था में शरीर में निम्न स्थान प्रकट हो सकते हैं—

1. अंगों में बहका (Stiffness in the body)

2. शरीर में भारान (Heaviness in the body)

3. वात जन्म घोर (Oedema)

4. दर्द परिवर्तन (Change of body Colour / Texture)

5. गुर्दन (Disgust)

6. अति निद (Excessive sleep)

7. अलाप्त (Lassitude)

1. दर्द विलंब व्यापद वर्ती रुक होना, जिसकी वर्णनः

2. विवरणात्मक व्यापद वर्ती रुक विवरणात्मक वर्णन विवरणः
विवरणात्मक व्यापद वर्ती रुक विवरणात्मक वर्णन विवरणः।

(गुगु 15/24)

(गुगु 15/24)

(गुगु 15/24)

3. ओज क्षय के लक्षणः

ओज क्षय की अवस्था में शरीर में निम्न स्थान प्रकट हो सकते हैं—

1. फैलटिंग (Fainting)

2. गंभीर क्षय (Depletion of flesh)

3. घोर (Hallucinations)

4. प्रलाप (Delirium)

5. अज्ञान (Ignorance)

6. मृत्यु (Death)

ओजक्षय से जातपर्यंत ओज का म्यारसिनाग-अधार्मवर्ति से कम हो जाता है। ओज क्षय की अवस्था में पूर्ववर्ति विवेद व व्यापद के सभी लक्षण शरीर में निम्न रूपकरण होते हैं।

ओज क्षय की विकितस्ता:

(i) ओज विलंब व ओजो व्यापद की अवस्था में ओजोन्मुकुट विलंब क्रियाओं के द्वारा बल को बढ़ावा देती है।

(ii) ओज क्षयावस्था को असाध्य समझकर दोपों को छोड़ देता चाहिये अवधारणा रोगी की विकितस्ता नहीं करना चाहिए।

(iii) ददाहरण के लिये हिलन, ओजोवर्धक, रसायन, यांत्रिकरण, जागनाय गन के द्रव्यों का सेवन करना चाहिये।

(iv) नधुर, स्निग्ध, शोषकीर्य, लम्बु आहार ओजोवर्धक होता है। इसका प्रयोग अधिकारिक मात्रा में करना चाहिये।

(v) गोदुग्ध, मांसरस, बल्य व जीवनीय गन को औद्योगिकी (वस्त, काढकौली, धीरकाकौली, जीवक एवं झपथक इत्यादि) भी निन्दा सेवन करने से ओजोवर्धक होती है।

(vi) रोगी को सदैव प्रसत्रित व चिन्ता मुक रहना चाहिये।

1. मृद्गी विलंबों में: इनमें सर्ववर्ति व है।

पूर्वोत्तरि व तिर्हुति स्थान व व्यापद है।

(मुगु 15/24-28)

2. इ. इन विलंबों स्थानों व इनका विवेदविवरणद्वारा व्यापद, इनमें दूसरांत्र वर्णनः।

(मुगु 14/28)

3) इनहारा वा माहात्म्यात्मक विवरण: विवरण विलंब स्थानों दूसरों वर्णनः।

इस व्यापद यदों जावे स्थानों पर ददाहरणः। इनमें प्रयोग इनमें दूसरों वर्णनः। (मुगु 32/13-14)

4) ओजोवर्धक व्यापद विवरणः।

(मुगु 11/41)

5) गमुर्दिनागवाहोत्तरि वाहुरि व विवरणः। ओजोवर्धक व्यापद व्यापद विवरणः।

(मुगु 27/16)

ओज वृद्धि के सहज़

ओजनीय रसों के अतिसेवन से 'ओज' की वृद्धि होने पर देह में स्थित प्रश्न जैसा सन्दर्भ होता है, जहाँ पुष्ट होकर बता (ओजस) पराक्रम, शीर्ष आदि गुणों को दूर होती है।

आचार्य इन्हें परन्तु ने ओज को शुक की उपभातु स्वीकार किया है। अतः पहले दूर होने की वृद्धि के पश्चात् ओज वृद्धि के सहज मिलते हैं।

ओज हय दय कुछ व्याधियाँ

निन्द व्याधियों में ओजस्य पाया जाता है—

1. शन्तु (रुद्धय के कारण ओज हय होता है)
2. लंगहय (मतस्य के कारण ओज हय होता है)
3. न्युनह (नृत के साथ ओज के निकलने से)
4. चक्रस्या (कर हय य शुकस्य के कारण)
5. ददन (नवंशनु हय के कारण)

ओज एवं व्याधिक्षमित्व

इन्हीं चारों विस्तार से 14वें अध्याय 'विकल्प में सहायक अंग' के प्रथम तिनि 'व्योम हाँड़' के अन्तर्गत हो जाए हैं। इस विषय को बहाँ देखें।

*** शिरो-रुद्र ***

१. व्याधिक्षमित्वा दृष्टि दृष्टि दृष्टि ।

(अद्यता 11.5)

चतुर्थ अध्याय

स्वोतस् विवेचन

परिचय—दोष-धातु-मल के ज्ञान के साथ ही 'स्वोतस्' का ज्ञान परमावश्यक है। स्वोतस् यादि प्राकृत अवस्था में रहते हैं तथा शरीर निरोगी रहता है एवं स्वोतसों को दुष्ट होने पर विभिन्न प्रकार की व्याधियों को उत्पन्न होते हैं।

"सु-गती धारणे" धारु से 'तत्त्व' प्रत्यवर्तन तथाने में 'स्वोतस्' शब्द को निम्नत होती है। आयुर्वेद ने 'स्वोतस्' शब्द अपना (मार्ग) के अर्थ में उपुत्त दृष्ट्य है।

आचार्य चक्र के अनुसार मनुष्य ने वित्तने मृत्युंजयन धार्य है डाने ही संज्ञों के प्रकार विशेष है। शरीर में ऐसे कोई भी भाव नहीं है जो कि संज्ञों के विना डान या नष्ट होने ही शरीर में काल के स्वभाव से उत्पन्न रपरिणाम को प्रत्य होने वाली धनुओं का वहन संज्ञों के द्वारा ही होता है।

स्वोतस् स्वरूपी

स्वोतस् की उत्पत्ति जन्मा (पित) युक्त वायु या क्रिया में होती है। आकाश नहापूर की विविधता से तंत्र से योग्य (अपकारा युक्त), वृत्ताकार, कोई-कोई चौड़ी, कोई रुद्र एवं लम्बे या चर्पे, प्रतान (दत्ता) के समान रूप्या प्रसारणमें से युक्त होती है।

संज्ञों का वर्ण उन धनुओं के समान होता है जिनका ये वहन करते हैं।

स्वोतस् परिभाषा

आचार्य मुकुत के नव से नूतन स्थान (उद्भव स्थान-Origin) से विकल्प र शरीर में फैले हुए अवकाश युक्त (योग्य) उत्पदव को 'स्वोतस्' कहते हैं (केवल सिंह एवं धन्यों को दीक्षित)।

स्वोतस् संख्या

अनेक आचार्य संज्ञों के बहुत अधिक होने में उन्हें असंख्य मानते हैं एवं दूसरे

- | | |
|--|---------------|
| 1. शब्दवृद्धि संख्या। | (चप. 32-12) |
| 2. शब्दन् युक्त दृष्टिवान् विविधता उत्पत्ति विविधता। | (चरि. 53) |
| 3. संज्ञों यान् दृष्टि विविधता उत्पत्ति विविधता। | (चरि. 53) |
| 4. व्याधिक्षमित्वा दृष्टि विविधता उत्पत्ति विविधता। | (चरि. 525) |
| 5. दृष्टि विविधता दृष्टि विविधता यान्। संज्ञों दृष्टि विविधता। | (गुप्त. 9-13) |

आचार्य संदेश भानो है। आचार्य चरक ने स्थूल रूप में 13 प्रवाह के स्तोत्रों का वर्णन विवाह स्थान में किया है तथा गुण प्रवाह में एक आर्थिक यह स्तोत्रस् भी यतापा है। ३५ प्रवाह आचार्य चरक ने 14 प्रवाह के स्तोत्रों का वर्णन किया है।

आचार्य सुश्रुत ने 11 स्तोत्रस् बालाएँ हैं तथा एक-एक स्तोत्रस् के दो-दो ग्रेद विवरण २२ स्तोत्र कहे हैं।

आचार्य याम्भृत ने स्तोत्रों के निम्न ग्रेद वर्णित किए हैं—

१. अर्द्धमुख स्तोत्रस्—आचार्य चरकनुसार ही ये संख्या में 13 यताएँ हैं।
२. बहिमुख स्तोत्रस्—ये संख्या में ९ यताएँ हैं। इन्हें 'नवद्वार' भी कहते हैं।

दो बार्ष खोत, दो नाता खोत, दो नेत्र खोत, एक मुख खोत, एक गुद खोत तथा एक मृद खोत—यह ९ बहिमुख स्तोत्रस् आचार्य याम्भृत ने वर्णित किए हैं। इन्होंने में २ खन स्तोत य एक अन्तर्य पय (आर्थिक खोत) अविरिक्त कहे गए हैं। इस तरह विवरों में ११ बहिमुख स्तोत आचार्य याम्भृत ने याताये हैं।

स्तोत्रस् व उनके मूल स्थान

आचार्य चरक मत	मूल स्थान	आचार्य सुश्रुत मत	मूल स्थान
१. इष्टवाह	इष्ट नहात्तोत्रस्	प्राणवाह	इष्टव, रसवाही धमनियां
२. उदकवाह	वातु, व्योम	उदकवाह	वातु, व्योम
३. अन्तवाह	आनाद्य, व्यामार्थ	अन्तवाह	आनाद्य, अन्तवाह धमनियां
४. रसवाह	हृदय, दाता धमनियां	रसवाह	हृदय, रसवाही धमनियां
५. रक्तवाह	व्यकृत, घोषा	रक्तवाह	व्यकृत, घोषा, रक्तवाह धमनियां
६. नानवाह	स्त्राय, त्वक्	मांसवाह	स्त्रायु, त्वक्

१. अन्तवाह यातु विवरितमुद्देश्यवाच्यते स्तोत्राः, चरित्येवावि पुनर्व्याप्ते॥ (न.वि. ५९)
२. ३३ अन्तवाह योग्यान्वयी इष्टवाह स्तोत्रोत्रोऽ। (प.वि. ५७)
३. ५ उदकवाह योग्यान्वयी इष्टवाह स्तोत्राव्याप्तः॥ (सु.स. ७/१)
४. १ उदकवाहान्वयी इष्टवाह स्तोत्राव्याप्तः॥ (न.वि. ५९)
५. ५ उदकवाह द्वै योग्यान्वयी इष्टवाह स्तोत्राव्याप्तः॥ (सु.स. ७/१)
६. ५ अन्तवाह द्वै योग्यान्वयी इष्टवाह स्तोत्राव्याप्तः॥ (प.वि. ५८)
७. ५ रसवाह द्वै योग्यान्वयी इष्टवाह स्तोत्राव्याप्तः॥ (सु.स. ७/१)
८. ५ रसवाहान्वयी इष्टवाह स्तोत्राव्याप्तः॥ (प.वि. ५८)
९. ५ रसवाह द्वै योग्यान्वयी इष्टवाह स्तोत्राव्याप्तः॥ (सु.स. ७/१)
१०. ० रसवाहान्वयी इष्टवाह स्तोत्राव्याप्तः॥ (प.वि. ५९)
११. ५ रक्तवाह द्वै योग्यान्वयी इष्टवाह स्तोत्राव्याप्तः॥ (सु.स. ७/१)
१२. ५ रक्तवाह द्वै योग्यान्वयी इष्टवाह स्तोत्राव्याप्तः॥ (प.वि. ५९)
१३. ५ मांसवाह द्वै योग्यान्वयी इष्टवाह स्तोत्राव्याप्तः॥ (सु.स. ७/१)
१४. ५ मांसवाह द्वै योग्यान्वयी इष्टवाह स्तोत्राव्याप्तः॥ (प.वि. ५९)

स्तोत्रस् विवेचन

७. गोदोवाह	गुरुम्, वशवाहन	गोदवाह	गोदि, गुरुम्
८. अर्द्धमायह	मेद, ज्वर	-	-
९. मानवायह	अस्थि, संभिध	-	-
१०. शुक्रवाह	शुक्रम्, शंक	शुक्रवाह	शुक्र, शुक्रम्
११. गृजवाह	चंद्रिन्, चंद्रिन	गृजवाह	मेद
१२. पुरीवायह	पश्चिमाय, गुदा	पुरीवायह	पश्चिमाय, गुदा
१३. स्वेतवाह	मेद, शोष कूप	-	-
१४. -	-	अर्द्धमायह	गोदानाय, अर्द्धमायह धमनियां

स्तोत्रों में ज्ञानों का विस्तृत आधार होने के कारण इन्हें 'स्तोत्रावाह' या 'स्तोत्राव्याप्त' भी कहा जाता है। याता, रिता, काक, ममता चरक ने गवन जड़ों को देने से उक्तों विष, सभी खोत अवन भूत अवाहन मार्ग हैं। इन्हें उक्त विषनाम दीटों ने इत्यत्यन्त होता होने से यन आदि का जोता से सुख सम्भव शयोर अपानकूर (जड़ा) पर्यं अपानकूर है।

स्तोत्रों द्वारा : निदान, लक्षण व विकल्पा

स्तोत्रों द्वारा के सामान्य लक्षण

आचार्य चरक के अनुसार जो अहात-विहार दोहों के गुण के सम्बन्ध हों अर्थात् उन्हें अद्वाने याते हों एवं धातुओं का विवेचन करने याते अर्थात् धनुजों के विवरण हों, तो सभी आहात-विहार खोतारा ये दूषित करने याते होते हैं।

स्तोत्रों द्वारा के सामान्य लक्षण

स्तोत्रोंदुषित के निम्न सामान्य लक्षण हैं जो किसी स्तोत्रस् के दूषित होने पर किसी न किसी रूप में प्रकट होते हैं

१. ० मेदेवाहान्वयी स्तोत्रस् गुरुम् वशवाहनर्व्याप्तः। (प.वि. ५३)
२. ० मेदेवाहे हैं, श्वेतवाहान्वयी गुरुम् वा। (सु.स. ७/१२)
३. अस्थिवाहान्वयी स्तोत्राव्याप्तिनिर्मुते स्तोत्रवाह। (प.वि. ५४)
४. ० शुक्रवाहान्वयी स्तोत्राव्याप्तिनिर्मुते गुरुम् वैत्रेय। (प.वि. ५५)
५. शुक्रवाहे हैं, गोदानाय गुरुम् वा। (प.वि. ५६)
६. ० पुरीवायहान्वयी स्तोत्राव्याप्तिनिर्मुते गुरुम् वैत्रेय। (प.वि. ५७)
७. ० पुरीवायहे हैं, गोदानाय गुरुम् वैत्रेय। (प.वि. ५८)
८. ० अन्तवाहान्वयी गोदानाय गुरुम् वैत्रेय। (प.वि. ५९)
९. रोगान्वयी शोषवाह, पश्चिमाय गुरुम् वैत्रेयान्वयी गुरुम् वैत्रेय। (प.वि. ५१९)
१०. अहातवाहान्वयी गोदानाय गुरुम् वैत्रेय। (प.वि. ५१२)
११. गृजवाहान्वयी गोदानाय गुरुम् वैत्रेय। (प.वि. ५१२)

- अतिप्रवृत्ति—संग
 - विद्यार्थी गमन
 - सिरा ग्रन्थि
 - अतिप्रवृत्ति—सम्बन्धित सोलास् में वहन होने वाली दृष्टिधारा या अधिक सामने विकल्पी “अतिप्रवृत्ति” है। यथा-अतिसार में भल की अधिक प्रवृत्ति, प्रमेह में भूत्र की अतिप्रवृत्ति होना आदि।
 - संक्रम—सम्बन्धित सोलास् में विद्यार्थी प्रवार का अवरोध होने से उसमें यहने वाली धारा का पूर्व रूपण इन जाना ‘संक्रम’ है। संक्रम बाह्य एवं आप्तनाल उपचार वा हो सकता है। यथा-आनाहतविवर्ण की विधियाँ में भल का आप्तनाल संक्रम, अनारंभ की स्थिति में आरंभ का संग, यथा अवृद्धादि होने से बाह्य तंत्र होता है।
 - विद्यार्थीगमन—सम्बन्धित सोलास् में वहन होने वाली धारा का विपरीत धारा या इससे अन्य वार्ता में जाना विमान गमन कहलाता है। यथा-विद्युतिविद्यार्थी यूक्तक्रूर्ण।
 - मिश्रप्रवृत्ति—सम्बन्धित सोलास् में विद्यार्थी प्रवार की ग्राह्य (गांठ) का अन जहाँ जिहाँप्रवृत्ति है। यथा-आरंभ वह सोलास् में प्रवृत्ति (Fibroids/Csyt) का अन जाता। सोहंत्राओं में विपरीत सोलासों की दुष्टि के कारण एवं लक्षण निर्जनसार चर्चित है-
 - प्राणवह सोलास् दुष्टि
दुष्टि के कारण— 1. शब्द
2. वंगथारण
3. रक्ताहार
तक्षण— 1. दोष शास (Prolonged Respiration)
2. शब्द गति घुटि (Increased Respiration)
3. रक्त-रक्तकर शास आना (Dyspnoea)
4. रक्त युक्त शास
 - भूखे पेट आगाम करना
 - कठिन कार्य करना।

१. इसका संभालने की क्षमता वालों में से एक नियुक्ति दी जाएगी।

सुन्पुष्टप्राप्ति द्वारा अवश्यकता नहीं होती।

१०. असारी विषयात्मक सुनार्थ वर्णनाप्रे विषय ॥

(四九. 577)

- | | |
|---|--|
| चिकित्सा^(१)— | प्राणवह सोतो दुष्टि जन्य घोंगे में लाग देग के लालन चिकित्सा प्रकरा लाभारपी रहता है, यथा सोता, सोंदन, लालन, विरेचन एवं गंभीरमान चिकित्सा जैसे। |
| 2. अप्रवाह स्थोत्रम् दुष्टि^(२)— | |
| निदान^(३)— | <ol style="list-style-type: none"> 1. अप्रवाह 2. अहिंडाहर सेवन 3. अश्रियांश्च 4. भोजन के पश्चात् श्वासयम् 5. गैषुन (भोजन के पश्चात्) इत्यर्थि |
| लक्षण^(४)— | <ol style="list-style-type: none"> 1. अतरियि 2. आप्तान 3. अपन 4. घमन 5. तुम्पा 6. शूल |
| चिकित्सा^(५)— | अप्रवाह सोतो दुष्टि जन्य घोंगे में नित शिरङ्गों के अनुसार चिकित्सा लाभप्रद रहती है— |
| | <ol style="list-style-type: none"> 1. दौधन 2. पद्मन 3. बपन 4. विरेचन इत्यर्थि |
| 3. उदकवह स्थोत्रम् दुष्टि^(६)— | |
| निदान^(७)— | <ol style="list-style-type: none"> 1. कृष्ण आहर 2. रुद्र आहर 3. भय 4. मष्ट सेवन 5. आम अत्र सेवन 6. गुच्छज्ञ सेवन 7. तुम्पा विश्रह |
| लक्षण^(८)— | <ol style="list-style-type: none"> 1. निश्च, कहन्द एवं लाजु गुच्छज्ञ 2. मुख का सूखावा 3. ओष्ठ वा सूखना 4. गुच्छज्ञिम् |

- | | | |
|----|---|-------------|
| 1. | <p>१) गतिपात्रवाचाहे पात्रितात्म न घेवदात्।
अनेकाहीनि दुर्लभिं वैष्णवात् पात्रकात् च च ॥</p> <p>२) अवश्यप्रिलक्षणात्मयोक्तिशापी छार्दं प दत्तवात्प्रसादात्मय शोषीती द्युमात्मी विदात् ॥</p> <p>३) ... पात्रितात्मदेवेति ॥</p> | (परि. 5/12) |
| 2. | <p>१) औज्ज्वलतपात् पात्रितीत्प्रकाशेतद् ॥
अनेकाहीनि दुर्लभिं वैष्णवात्प्रसादेतद् ॥</p> | (परि. 5/11) |

चिकित्सा— उदाहरण सोते दुष्ट जन्य रोगों में गृणा शामक करना विशेष साधकरी रहता है।

- | | |
|-----------------------------------|--|
| ४. रसवह स्थोत्रो दुरिं
निदानः— | १. गुण एवं शील आहार सेवन
२. अति द्विषय आहार सेवन
३. अतिमात्रा में भोजन
४. अत्यधिक चिनान |
|-----------------------------------|--|

तस्माण—	<ol style="list-style-type: none"> 1. अरथि 2. मुख वैरस्य 3. हृदास, गौरव, तन्नादि। रस भातु प्रदोषव्रत एवं तिथिय सम काल स्तोत्रम् के रूप होते हैं—
---------	---

चिकित्सा— रसवह सेले दुष्ट जन्य रोगों में आम दोष नाशक प्रयोग चिकित्सा प्रसारित है।

5. रक्तवह स्रोतो दुष्टः
निदानः— 1. विदाही, कृष्ण आहार सेवन
 2. द्रव एवं क्रियाप आहार सेवन
 3. अत्यधिक आतप सेवन
 4. अत्यधिक धाय सेवन

तस्मै— समस्त रक्त प्रयोग विकार रक्तवह स्नोतस् के होने पर उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा— रक्षण स्रोतो दुष्टि में निपुण चिकित्सा क्रम सामर्थ्याती है।
 1. रक्षणपूर्ण शामक चिकित्सा
 2. रक्षणात्मक

6. पांसवाह खोलो दुष्टि
निदानः— 1. युह, अधिव्यन्दी भोजन सेवन
 2. रस्युल भोज्य पदार्थों का सेवन
 3. भोजन के थाप सेवन

Digitized by srujanika@gmail.com

- | | | |
|----|---|--------------|
| 1. | १) यादि कृष्णनानी ।
२) कृष्णनानीकरणविवरण रापत्रम् । यादाहीनि दुर्घटनि पितॄलाम् च विवितात् ॥ (पा.पि. ५८)
३) अद्या यादाहीनाम् । यादाहीनि विवितात् ॥ (पा.पि. २८७-२९) | (पा.पि. ५८) |
| 2. | १) विषेशवाक्यानी विषेशवाक्यानी इति । २) कृष्णनानी दुर्घटनि भवानी यादाहीनी ॥ (पा.पि. २८८) | (पा.पि. २८८) |
| 3. | १) कृष्णनानीकरणविवरण ।
२) अविवरण विवरण न स्मृतानि च गृह्णते । यादाहीनि दुर्घटनि प्रकाश च विवितात् ॥ (पा.पि. ५८) | (पा.पि. ५८) |

हक्कणा— गधार यांग उद्देश्य विद्या महाविद्या के दृढ़ होने पर उत्तम होती है।

ਧਿਵਿਤਸਾ— ਪੰਜਾਬ ਦੀਆਂ ਦੱਤ ਜਨ ਸੇਵਾਵਾਂ ਮੈਂ ਨਿਜ ਕਿਰਿਆਵਾਂ ਗਿਣਦੇਂਤ ਸਾਪੇਖਾਏ ਹਨ ਕੇ—

१. यकृतोदय नवा अर्ग के समान दरमान
 २. अग्रि फसे राष्ट्रकर्त्ता शर्य वर्ष

७. पेटोंचवह स्थोत्रो दग्धि'

- गिरावः—** 1. अत्याधाम 2. दिग्बन्धु
3. मध्य का संयन् 4. शिख पद्मों का अविसंज्ञ

लक्षण—	युपस्त और प्रदोषक विकार में वृद्धि होने पर उत्तम होते हैं।
चिकित्सा^{१०}—	प्रदोषक सांतो वृद्धि जन्य गुणों को विशिष्ट विश्वसननुभव करनी चाहिए-

१. मेंढेरोग फी चिकित्सा
 २. अपतारंण-कारंण चिकित्सा
 ३. याक-मेद नाशक दवायन करें

४. अस्थिवह स्पोतो दुष्टि

- | | | |
|----------------|---|---|
| निदानः— | 1. अति व्यापाम
3. अधिकाता
5. अस्मियर्थवत् | 2. अतिक्षेप
4. सोडन (दक्षाव)
6. अनुपर्यक्त अवार विषय वेदन |
|----------------|---|---|

लक्षण— समस्त असेस्प्रदोषग विकार जनिंश्च शोषण् के द्वारा होते जा-
ते होते हैं।

चिकित्सा— अस्थियाह होतोडुटि जन्य होगो में निच चिकित्सा सूत्र स्वाभकारी है-

- पंचकर्म (संशोधन विकिता)
 - तिळ थोर वातीत प्रयोग
 - तिळ सर्पिंयन

१. मजावह स्थोत्रो दुष्टि

निदान— १. फुथरा जाने के कारण

2. कफ के भर जाने से
 3. हड्डी वा दस्तने से
 4. अति अधिकदौ खोजन से

१. न अग्राह्यमदिग्दावद्यन्तेष्टात् चतुर्पात्रात्। मेत्याशीर्णि दुर्लभं पात्राद्यादीत्यस्त्रा ॥ (प.पि. ५/१६)

१) अही चिन्हावीके ३ घटके मेंदोबारां प्रक्रियालय। (पा. दृ. ३८/३६)

३. द भवानीजीभावाचारनि विस्तृतात्। आपावानि कृत्या वासना व वासना। (४०८, ५१)

लक्षण—

5. चोट साने से
 6. विहृ आहार विहार सेवन
- समस्त मज्जा प्रदोषज विकार मज्जायह सोतस् के दुष्ट होने भ
उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा—

- मज्जायह सोतस् के दुष्ट होने पर निम्न चिकित्सा उपलब्ध है—
1. पंचकर्म (संशोधन)
 2. क्षीरवस्ति एवं मज्जा दुष्टि की चिकित्सा

10. शुक्रवह स्रोतो दुष्टि

निदान—

1. शुक्र वेगधारण
2. अकाल व अयोग्य मैथुन
3. अति बैधुन
4. शस्त्र, शर्त एवं अग्नि के स्पर्श से

लक्षण—

- समस्त शुक्र प्रदोषज विकार शुक्रवह सोतस् के दुष्ट होने भ
उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा—

- शुक्र वह स्रोतोदुष्टि में निम्न सिद्धांतानुसार चिकित्सा लाभप्रद होती है—

1. शुक्र दोष की चिकित्सा
2. वाजीकरण चिकित्सा

11. मूत्रवह स्रोतो दुष्टि

निदान—

1. मूत्र वेग धारण कर भानी भीना
2. मूत्र वेग होने पर भोजन करना
3. मूत्र वेग होने पर बैधुन करना
4. स्रोतों पर आपात लगना
5. क्षय

लक्षण—

1. मूत्र को अतिप्रवृत्ति

१) मानवानुकूल व्याकुलं पौष्टकर्त्तव्यं लेखम्।
यतः धैर्यसीरि विलोक्यैतत्त्वं ॥

(च.सू. 18/27)

२) विवेदात्मकम् व्याकुलं पौष्टकर्त्तव्यं । प्रकाशवैर्णी दुष्टिनि विलक्षणं च सेवनाद् ॥ (च.पि. 5/15)

३) अप्यात्मकम् व्याकुलं पौष्टकर्त्तव्यं । शुक्रवैर्णी दुष्टिनि विलक्षणं प्रवृत्तिवद्य ॥ (च.पि. 5/19)

४) दुष्टिनि विलक्षणं व्याकुलं पौष्टकर्त्तव्यं ॥

(च.पि. 5/21)

५) शुक्रवैर्णी दुष्टिनि विलक्षणं व्याकुलं पौष्टकर्त्तव्यं । वाह्यो रक्तान्तर्मुख्यं एवं शुक्रवैर्णी व्याकुलं स्रोतोंम् ॥

(च.पि. 5/22)

६) पौष्टकर्त्तव्यानि विलक्षणं व्याकुलं पौष्टकर्त्तव्यं ।

(च.पि. 5/23)

७) विवेदात्मकम् व्याकुलं पौष्टकर्त्तव्यानि व्याकुलं पौष्टकर्त्तव्यं । वाह्यो रक्तान्तर्मुख्यं एवं शुक्रवैर्णी व्याकुलं स्रोतोंम् ॥

(च.पि. 5/24)

८) विवेदात्मकम् व्याकुलं पौष्टकर्त्तव्यानि व्याकुलं पौष्टकर्त्तव्यं ।

(च.पि. 5/25)

स्रोतस् विवेचन

2. मूत्र अप्रवृत्ति
 3. अति मात्रा में आयित मूत्र प्रवृत्ति
 4. स्थूल मूत्र प्रवृत्ति (Dysuria)
 5. रक्तूप मूत्र प्रवृत्ति (Pyuria)
- चिकित्सा— मूत्रवह स्रोतोदुष्टि जन्य योग्यों की चिकित्सा मूत्रान्तर्मुख्य की तरह करें—

12. पुरीपवह स्रोतो दुष्टि

निदान—

1. वेग धारण
2. अतिपोषन
3. अवोर्ण
4. अभ्यासन
5. अनिमांय

लक्षण—

1. सकृष्टगल प्रवृत्ति (Painful defecation)
2. घरतला, अतीनामा में या गांठदार मत की प्रवृत्ति
3. मलवद्धता (Constipation)
4. आनाह

5. श्लोकानुक य दुर्गांभत मत प्रवृत्ति ।

चिकित्सा— पुरीपवह स्रोतों दुष्टि जन्य योग्यों की चिकित्सा अतिकार व विवर्त्य चिकित्सा की तरह करना डर्वत रहता है

13. स्वेदवह स्रोतो दुष्टि

निदान—

1. व्यायाम
2. अति आतप सेवन
3. शीत-क्राण पदार्थों का निरंतर सेवन
4. क्रोध शोक भवादि की अति प्रवृत्ति

लक्षण—

1. अति स्वेद
2. अस्वेद

- १) अंधप्राणलयान्दव्याकुलं पौष्टकर्त्तव्यं व्याकुलं पौष्टकर्त्तव्यं दुष्टिनि दुर्गांभते शुक्रवह ॥ (च.पि. 5/21)
- २) मूलोवासपवहं सताव्युत्पन्नादिपरिवर्तिप्रवृत्तिशु देवीरहन्ते एवं शुक्रवान्तर्मुख्यं स्रोतोदुष्टिनि विलक्षणम् ॥ (च.पि. 5/22)
- ३) विलक्षणम् ॥ (च.पि. 5/23)
- ४) "अप्यात्मकर्त्तव्यं व्याकुलं पौष्टकर्त्तव्यं दुष्टिनि देवीरहन्ते एवं एवं शुक्रवान्तर्मुख्यं स्रोतोदुष्टिनि विलक्षणम् ॥ (च.पि. 5/24)
- ५) अप्यात्मकर्त्तव्यं व्याकुलं पौष्टकर्त्तव्यं दुष्टिनि देवीरहन्ते एवं एवं शुक्रवान्तर्मुख्यं स्रोतोदुष्टिनि विलक्षणम् ॥ (च.पि. 5/25)

3. शाहम्ब
 4. अति स्तिथिता
 5. अंगदाह
 6. होमधर्म

चिकित्सा— स्वेदपह रोतो दुष्ट जन्म गोण को चिकित्सा और चिंगारी के सिद्धांत अनुसार करना उचित रहता है।

१४. आतंववह स्वोतो दुष्टि

- निदान।—**

 1. रजः काल में मिथ्याहार विहार
 2. गुह, तीरण, अभिष्मन्दी आहार-विहार का अस्त्र सेवन
 3. उम्माहार सेवन
 4. अस्त्र तैयार

त्रिष्णु— १. वन्धुत्य

2. मैथुन असहिष्णुता (Dyspareunia)
 3. आर्तव अतिप्रवृत्ति (Metrorrhagia)
 4. रक्तकच्छा (Dysmenorrhoea)

चिकित्सा:-

आत्मविश्वास की दुष्टि जन्म रोगों की विकित्सा प्रदर्शन के समूहों की विकित्सा की तरह करना चाहिए। इसका बाजारीकरण औपर इन्होंने कहा तथा उत्तर वस्ति का प्रयत्न हासिल करना है।

व्याधि वर्तमान में स्रोतस का महत्व-

1. आद्युदेव निर्दर्शनों के अनुसार सोतासों की प्राकृतावस्था स्वास्थ्य के लिए तब विषुद्धावस्था यांग के लिए ढतरादाओं हैं। सोतासों के प्राकृत रहने पर समृद्ध धातु व्यायाम एवं धातु चाक-प्रतिरिद्या प्राकृत रूप से चलती रहती है एवं इनके विषुद्ध होने पर इनके यांग में उपस्थित धोप, धातु, मलादि दूषित हो जाते हैं एवं विचाप योग्यताप्राप्ति करते हैं।

2. किसी भी व्यापि को डराना में खोतों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। कुछ हरे दोष जब किसी खोत विशेष के आक्रम से शरीर में कुपित होना प्रयत्न करते हैं तो ये किसी भी स्थान विकारोत्पत्ति नहीं चार सक्ते गए दिए स्थान पर खोते कुटि होती है अर्थात् "खर्चगंगा" (Weak point)

- | | | |
|----|---|------------|
| १. | नियमानुसार होने वाली दृष्टि होता है अर्थात् "एवंगुणम्" (Week point) | (प्रति 33) |
| २. | नियमानुसार दृष्टि होती है। | (प्रति 21) |
| ३. | ० दृष्टि होने वाला नियम है। | (प्रति 33) |
| ४. | ० दृष्टि होने वाला नियम है। इनमें से एक है। | (प्रति 33) |
| ५. | दृष्टि होने वाला नियम है। | (प्रति 33) |

focal point) होता है जग स्थान पर दो रक्तर मंजुरीद इनस्ट्रमेंट का प्रयोग करने के पश्चात छाती को उत्तर बढ़ावा दिया जाता है।

3. प्राकृतिक दोष स्तोत्रम् में प्रयोगकरण क्षमता दूरी करते हैं। यह इच्छाया स्थानन्वयन कहलाती है। स्तोत्रम् दूरी करने के लिए यहाँ जो दूरी करने हैं वहाँ, अपने गुणितकों स्तोत्रम् को भी विकृत या दूरी करने के लिए दूरी करने दूरी करने दूरी करने दूरी करते हैं। यद्यपि यह क्षमता वह ही विकृत दोष के दूरी की गाम्भीर्यता (मिहास) होता है। अब, क्षमता दूरी होने पर ही गुणित के पर्याप्त प्रकट होते हैं।

स्नातकों का व्याधि चिकित्सा में महत्व

1. ऐसा निदान व विकितस में शोतृशूल का प्रयुक्त नहीं है। लोगों द्वारा के लक्षणों के आधार पर ही किसी ऐसे योग की विवरण समझने का इन संकेत है तथा उसी आधार पर विकितस का निर्धारण करके विकितस कार्य सम्पादित करता है, क्योंकि गवाहाओं द्वारा बताया है।
 2. अतिसार होने पर अविप्रयुक्ति योग द्वारा कर द्वारा का इन होता है तथा विकितस का उस अविप्रयुक्ति को देखने के लिए संकेतों, दोषनियम एवं पाचनीय औषध प्रयोग द्वारा उचित करता है। इसी प्रकार अनाह, विवरण आदि होने पर सुरोपणह लोतस में संग जा जान होता है एवं उस संग जो दूर करने के उपाय किए जाते हैं। यदा-विवरण करने पड़ता है।
 3. दोपों की आती प्रवृत्ति होने पर संग (देहज्ञ) के बचन तथा दोनों का संग (अवशेष) होने पर अटि प्रवृत्ति करने के उपाय किये जाते हैं।
 4. इसी प्रकार अन्य दोनों दुष्टि के लक्षण विनाश गत्त होने पर याम-अदेह अन्तर्भूति में सुरोपणह लोतस से निर्वात होता है। यह द्वारा देह गति को प्राप्त हुए पिति को आती अनुदोषन करता ही विकितस है। याम-यमन कर्म द्वारा अभोग पिति को कार्य भास से विकलतकर उत्तरी गति अनुदोषन करता ही विकितस वर महत्वपूर्ण सिद्धांत है।
 5. दोनों दुष्टि का एक गम्भीर लक्षण सिरा पर्याप्ति है। इसमें संबंधित सोतम् में ग्राहित यव जाने से अवारोध होने पर ग्राहित विवरण करने के उपाय (लोकनीय द्रव्य, छोटीनाम द्रव्य द्रव्योंग) फरने चाहिए। किंतु लाप न होने पर लक्षण विकितस द्वारा ग्राहित विवरण होता ही ब्रेत्र उपाय होता है।

अतः व्याधि सोवत् एवं उसके दुष्ट इश्वरो यह जन व्याप्त विकल्प हुए अतपत् आवश्यक है। एक बुद्धान् एवं उसम् विविततक् यहे ये चिकित्सा को सफलता हेतु इनपा जन अनिवार्य रूप से होना चाहिए।

• • •

1. युपितर्वं हि देवानां समीक्षितवत्तम् । यत् शास्त्रः च वैगुणवाच् युपितर्वं देवानाम् । (मृ.पृ. 24/10)
 2. एवं प्रतिपाद्य लक्षात् । ते दद्यान् वस्त्राणः । (मृ.पृ. 24/33)

पंचम अध्याय

काय चिकित्सा विवेचन

काय शब्द की निरूपिता

काय शब्द को विभिन्न अर्थों में प्रह्लाद किया गया है। 'काय' शब्द को निम्न आवाजों ने निम्न प्रकार से कही है-

1. "शीघ्रतेऽप्तादिपर्विति कायः" अर्थात् अप्तादि रोजिसका पोषण होता है तो 'काय' कहते हैं। 'काय' शब्द यही निरूपिति "पित्-घयने" भाग में 'पित्' प्रत्यय साझने से होती है। इसाएँ अर्थ है 'देह'।

'देह' शब्द 'दित्-उपग्रहे वर्णने' भाग से 'पित्' प्रत्यय साझने से यहाँ है। यहाँ के बाय ही अप्तादि के सेवन से शरीर उपचित होता रहता है एवं इसमें उपग्रह भी होता रहता है, यह विभिन्न सुन्दर रहती है, अतः इसे 'देह' कहते हैं।

2. 'काय' का एक अर्थ 'शरीर' भी है। 'शरीर' शब्द 'श्रु-हिंसायाम्' भाग में 'हिंस्' प्रत्यय साझने से यहाँ है। "श्रुणाति शीर्वते या-शरीरम्" अर्थात् क्षमा शायोप्तायाम्, यामो, गिन्तन, मरुलोत्सर्व व अनेक याद्य व अाम्यानात्तर किलाशे रो एवं काल रुपावर से इसका प्रतिक्षण नाम होता रहता है। अतः इसे 'शरीर' कहते हैं।

3. 'कायर्वत लक्ष्यायते इति कायः' निरूपिति से 'काय' का एक अर्थ 'पित्' भी है। 'अप्तादिनी कायः' के अनुग्राम 'काय' यह अर्थ 'हृदय' भी किया जाता है। हृदय में रुक्ष धन घरते यायप रसायन (पुक्ष-धुक्ष) स्फुरण भी होता है। यही गत्तल रसायन अथवा 'पुक्ष-धुक्ष' शब्द जो हृदय का याचक है, से 'काय' हृदय धन घरते यायप किया जाता है। हृदय गति या हृदय गति जन्म शब्द हो 'काय' हृदय गति घरते यायप रसायन हो काय चिकित्सा है।

4. काय एक अर्थ 'जटाग्री' भी किया गया है। शरीर, चल, आरोग्य, आयु एवं ग्राम में यथोच्च जटाग्री के अभीन्न हैं। अग्नि यो जीवन का मूल अधार

प्रोटो-शरीरोऽतः ।
स्फुरणीय रसायनायाम् रसायनः ।
शरीरोऽप्तादिनी कायः ।

(अ.पि. 153)

जाते हुए आवाजी शब्द ने यह किया है कि अग्नि के नहीं जाते पर यहाँ यही गृह्ण हो जाती है, अग्नि के बाय रहने पर अर्थात् विभिन्न रहता है तब विभिन्न रहता है। अग्नि के विकृत हो जाते पर अर्थात् गृह्ण होता है।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान से काय का सामूहिक्य

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में निम्नलिखित विभिन्न को विभिन्न रहता है। Anabolism तक विभिन्न यों प्रतिक्रिया यों Ketabolism तक दोनों के बायमध्ये में यही रहते वायनी विभिन्न को Metabolism रहतों हैं। यूक्ष दृष्टि से देखने पर 'काय' शब्द में Anabolism (प्रोटो-जटाग्रीविभिन्न विभाग), 'शरीर' शब्द से Ketabolism (शीर्वते इति शरीरम्), तथा 'देह' शब्द से Metabolism का योग होता है।

काय -	शीघ्रतेऽप्तादिपर्विति कायः	= Anabolism
शरीर -	शीर्वते इति शरीरम्	= Ketabolism
देह -	दित्-उपग्रहे-वर्णने	= Metabolism

शरीर में हर समय उसके भारक गत्तों का धय होता व संहार होता (Wear & Tear phenomenon) जीवन की एक स्वयम्भावित प्रक्रिया है। आपुर्वद में इसे ही 'पित् राक' रहना से वर्णित किया गया है। अन्य दृष्टि से जय शरीर में उत्तमुक्त अहम इत्य का जाटराग्री द्वाया पाक द्वायकर नवीन शरीर घटक द्रव्यों का निर्माण होता है तब इस अवस्था को 'प्रताद पाक' (Anabolism) एवं, इसके विपरीत शरीर में किट्टन पा तोड़-चोड़ घटाके शरीर पाक घटक द्रव्यों के उत्तरों व मलों की उत्तरांश की क्रिया होती है तो उस अवस्था को 'मल पाक' (Ketabolism) कहा जाता है। 'प्रताद पाक' व 'मल पाक' को सम्पूर्णतः 'पाक पाक' (Metabolism) कहते हैं। शरीर की अपारिवर्ती व सक्रियता का यही आधार है।

काय शब्द के पर्याय

'अपरक्षेश' में काय शब्द के निम्न पर्याय बताये गये हैं-कलोवर, ग्राम, धूम, शरीर, धर्म, पिण्ड, काय, देह, मृति, ततु एवं तन्-ये सामान्य पर्याय एकार्थवाची हैं, इनसे 'काय' का ही योग होता है।

1. कलोवर—'कले गुरुके मधुराम्बुद्धनीका वरंवेंडे दृति कलोवरम्' (अल्ल दात) अर्थात् जो मधुर अव्याह ध्वनि कारे व जुक का बोट परिणाम हो तसे कलोवर कहते हैं।

लालोऽपि गिरे, दुष्टे विर्व भीपत्त्वायपः । तेऽपि रसाद विष्टे, वृष्णविद्वान्विद्वान् ॥ (अ.पि. 154)
प्रसादस्ते ततु ॥ ॥ ज्ञाने भृ द्वारान् ॥

लाल याः तदानि शरीर वर्णविभागः ।
वर्णो देहः शरीरपृष्ठो विभवं दृष्टिलक्षणः ॥

(अपरक्षेश 2/25/70-71 दस्तावेज़)

१. यह—‘महाराजी’ वाले में ‘हुए’ भ्राता का नाम पर ‘हुए’ भ्राता कहते हैं। जिसका अर्थ है कि उनका वाला या भर्ता वही वाला होता है जो ‘हुए’ है।
 २. यह—‘दूसरा दोहरा’—यहाँ दोहरे का, ‘दोहरा’ भ्राता का नाम पर ‘दूसरा’ का विवरण होता है। अर्थात् दोहरा में दोहराये कर्तव्यों के बोले कि जिस दोहरा का विवरण होता है वह दूसरे भ्राता में उपर्युक्त कर्तव्यों का भी उसी दोहरा संबंधित है उसे ‘दूसरा’ कहते हैं।
 ३. गंडवन—‘मार्गिन संहेतरे या।’ जिसमें संच महाभारतों का गम्भीर संबंध हो कि जिसका महाराज गंडवन, चक्रवर्य बोडा हो उसे गंडवन कहते हैं।
 ४. इतिहास—‘कुचाल चौरसे या।’ अर्थात् जो शत्रु प्रतिशत्रु शीघ्र होता है उसे ‘कुचाल’ कहते हैं।
 ५. यदी—‘ननु गोपने’ वर्तमि वृथत्वने या, मनिन् प्रत्यय। अर्थात् जिसमें प्रत्यय गम्भीर हो उसे ‘यदी’ कहते हैं।
 ६. विष्णु—‘विष्णुर्यज्ञं वर्त्तति वृथत्वने या, मनिन् प्रत्यय। अर्थात् जिसमें प्रत्यय गम्भीर हो उसे ‘विष्णु’ कहते हैं।
 ७. विष्णु—‘विष्णुर्यज्ञादि प्राह्लादि विष्विष्टः व्याधिभाग्यहृष्टते या।’ ‘अद् व्रायन् भगवन् से विष्णु छक्क घनता है। इसका अर्थ युद्ध-दूषण को व्याध घरने वाला, विभिन्न गोंडों गे घ्रान देने वाला है। विष्णु—‘व्याधिभाग्यहृष्टते या।’ अर्थात् व्याधि आहार से विष्णु गम्भीर हो उसे ‘विष्णु’ कहते हैं।
 ८. देव—‘दिव-उपासने-दिव्यों, अर्थात् जिसका ग्रन्थान्तर: संवर्धन हो उसे ‘देव’ कहते हैं। दिवी—‘देव-ते-कर्त्तव्य’
 ९. गृही—‘वास्तु पूर्वाय पृथ्वी गृही।’ (थ.श.) ‘मूर्खा गोह रामूच्छापयोः।’ जो भावितव्य हो उसे गृही कहते हैं।
 १०. गृही—‘गृही विवाहो।’ जिसका विवाह या प्रवारण हो उसे ‘गृही’ कहते हैं।
 ११. गृही—‘गृही विवाहो।’ जिसका विवाह या प्रवारण हो उसे ‘गृही’ कहते हैं।
 १२. गृही—‘वर्तमि वर्तते या।’ जो विवाहो या वर्ते या जो आहार आदि पोषण प्राप्त वर्तमी हो या जिसमें आहार तो विवाह वर्तमाण हुआ परिवर्धन हो उसे ‘गृही’ कहते हैं।

काय एक शिखित भेद

- ଅଧ୍ୟାତ୍ମିକ - ରାଜ୍ୟାଧିକାର ଓ ନିର୍ମାଣ

'पट्टप' ये विषय उत्तम प्राप्ति कीरण में हैं।

✓ यह (ग्रन्थ) के अन्तार्य

• 27 • शारीर असुल

Digitized by srujanika@gmail.com

करती लीडी मार्गी- ५
प्राप्ति - विद्युत

ੴ ਪ੍ਰਾਤਿ ਪੰਡ

मन के अनुसार		मन के अनुसार		प्रकृति के अनुसार	
प्राकृतिक	प्राकृतिक	प्राकृतिक	प्राकृतिक	प्राकृतिक	प्राकृतिक
→ श्राव्य	श्राव्य	विद्यम्	विद्यम्	विद्यम्	विद्यम्
→ साहचर्य	विद्यम्	विद्यम्	विद्यम्	विद्यम्	विद्यम्
→ वाहन	विद्यम्	विद्यम्	विद्यम्	विद्यम्	विद्यम्
→ विद्यम्	विद्यम्	विद्यम्	विद्यम्	विद्यम्	विद्यम्
→ ग्राह्यम्	विद्यम्	विद्यम्	विद्यम्	विद्यम्	विद्यम्
→ वास्तव्य	विद्यम्	विद्यम्	विद्यम्	विद्यम्	विद्यम्
→ आनंद	विद्यम्	विद्यम्	विद्यम्	विद्यम्	विद्यम्

1. मूल (मूद्रा) के अनुसार काष्ठ के भेद

'काय' के भेद फलमें रहने वाले जाय (नव) औं बृहित्य के अनुसर विद् जाने हैं। योग चाहे जागीरिक हों या मानविक, उसको विकिरण के पूर्व संहर यद ही नहीं, नव (अंतर्ज्ञात) या भी पर्यायान आवश्यक है।

मन शब्दादि विसर्जने, इंट्रोलॉग एवं प्रार्न के कठरन व्याप में लात्य, रस्त, व दृष्टिमा
यूक्तियों का उदय होता है। सत्य युग अज्ञानक, विमत् द्वयं सत्त्वं होता है तथा उत्तर
स्वभाव यांति य वित्तोन्द्रियता है। रथं युग युद्ध का कठरन है, तथा इसका स्वयाव
आगांडि य प्रधृति है। तमेण्युग अज्ञानता का कठरन है तथा उसकी स्वयाव आत्मत्य एवं
युद्ध की मूलता है।

आष्ट्रेंट में निपुं तीन प्रकार के फ़ायदे यह बन्दन है-

- सात्यिक काष - 7 घेद
 - राजसिंह काष - 6 घेद
 - तामस काष - 3 घेद

इसमें शुद्ध सारित्विक काय पो फल्स्टनांगा की घट्टलता होने से अदोष (दोष रहने) थाहा है। दोषांगा पे आधिकरण थे फारान रामस शरीर को संज्ञें कहा गया है तथा मोरांग थाहा है। दोषांगा पे आधिकरण थे फारान रामस शरीर को भी सदोष फहा गया है। इस विषय में आचार्य चक्रवर्ती पे अधिक होने से तापमात्रा शरीर को भी सदोष फहा गया है। इस विषय में आचार्य चक्रवर्ती ने रामित्वा कहा था। 'देव शरीर' राजस काय पो 'मानव शरीर' तथा तप्तस काय पो 'पशु शरीर' की रोंदा दी है।

1. शिवायं स्तु राम-गुरुं गतवस्तु अवाप्नयना । तत् द्वृप्तं विद्युत्तमं प्राप्नुयात् ॥
दोषोन्तरायु गतवस्तु न देवाणां चक्रं मोक्षात्तमा । सर्वे इति एवत्तमुपिषेद्, स्वयं गं जापेऽपि ॥
(प्रा. 4/36)

[अ.सा. ५ अंक यात्रा]

काय-चिकित्सा

काय विविजना विवेचन

2. राजस काय के भेद एवं लक्षण

ਪੰਜਾਬ ਪ੍ਰਕਾਸ਼ ਕੇਨਿਊ ਟੱਕ; ਪੰਜਾਬ

3. तामसकार्य—हमने ज्ञाप के निपुंगी तीन भेद हैं (ए.पा.4/39) परंगति
93-96)

तामस काय के भेद एवं लक्षण

शास्त्र काय	मात्र्य काय	वानस्पत्य काय
निरुद्धिनु लभेषत्	भौरु लघुष्ठ	आलसी केयताभिनियिष्टाहारी
चुगुनिद्वयारो चुगुनिद्वयाहरो	लवप्रसित	सर्वमुद्दयंत्रहीन
मैदुन द्रिष्य	आहारतोधी	एक स्थान रति
स्वनसोत्	अनुपक फाम	सत्त्व वर्जित
दुर्दृष्ट	अनुपठ ब्रोध	धर्म वर्जित
सद्	स्त्रनसोत् (पाजाप्रिय) दोष फाने मूर्ख	काम वर्जित अर्थ वर्जित
	स्त्रस्पर्शप्रद	

एक दृष्टि चिकित्सक के लिये इन विविध कार्यों का ज्ञान परमामावश्यक है, क्षेत्रीक अनुदेश में गांधी-इन्ड्रिय-सत्त्व (भव) एवं आत्मा के संबंध बते ही आयु कक्षण है। एवं चिकित्सा सिद्धान्त भी इन्हीं के अनुसार निर्धारित किये जाते हैं।

2. सार के अन्सार काव्य के भेदः

सर के अनुचार लंबां रुद्धों में दलकृष्ट धातुओं को स्थिति के आधार पर काथ के नियम अट्ठ भेद होते हैं—

१. लेह सर
 २. रक सर
 ३. मंस सर
 ४. मेद सर
 ५. अस्त्रि सर
 ६. मध्य सर
 ७. दुष्क सर
 ८. गोद सर

ଶ୍ରୀମତୀ ମାତ୍ର ପାତ୍ର କଲାଜ୍, ଅନ୍ଧାରା

क्र.	सारा	जारीनियत लक्षण	प्रारंभिक लक्षण
1.	रुद्रगारा०	रुद्रगा पितृपूर्व, इन्द्रिय, योग्यता, ग्रस्त परमाणु, गति, सूक्ष्मता, एवं दृढ़ व चयकालीन होती है।	मूल, औपचार्य, दृष्टि, उद्धोग, शुद्धि, विद्या, अनुग्रह उत्तमता व दृष्टि दोषपूर्व का मूलक है।
2.	रुद्रगारा०	फल, वेत्र, जीव, मूल, विद्या, नामवका, अवेद, हृष्ट वै ते दास्ति साक्षात् एवं मूर्त्यनियत पितृपूर्व, रुद्र वर्ण की चयकालीन होती है।	मूल, वाहनार्थ, मर्त्यवका, सूक्ष्मता, अविद्या, वैद्य, ज्ञान मूल, व गति एवं सरल वैद्यन वाहन होता है।
3.	मांससारा०	शंख प्रदेश, सत्ताद, शंखस्त्र, वैद्यन्- धारा, वेत्र, गति, हृष्ट, गार्वन्, जन्मा, ठद् चतुर्भुज, हृष्ट वै वै निषेषं धारा, स्थिर व मांस से भयी दृढ़ होती है।	सहनशील, पौराण, अन्तर्भौ, पैद, विद्या, मूल, वाहना, अनुग्रह वै दृष्टिपूर्व का मूलक है।
4.	मेदतारा०	स्वर, वेत्र, केता, धैर्य, वैद्य, शैत, ओड़, मूल एवं मत वै स्त्रियता निलिपी है।	धैर्य, एवं वै, मूल उत्तमता, द्वावशीलता, सरलता, ज्ञानवका व सेवावाच का मूलक है।
5.	अविष्वसारा०	एडी, मुख, जानु, जातु, विद्युत, सिद्ध, शारीर की संधियां, अस्त्र, नद्य व दंत सुदृढ़ व स्त्रूप होते हैं।	आत्म उत्तमता, अधिकवाय वैद्य, ज्ञानवका, दृढ़ तंत्र वाले व दोषपूर्व होते हैं।
6.	मञ्जासारा०	बहयन, वर्ण व त्वर कोन्ता व स्त्रिय, संधियां बोटी	सूक्ष्मवाहन सम्पर्क, विद्युतनन्त्र धनो, सन्दान पुण

- तत्र विवाहात्मकानुषेष्टवृक्षाद्यास्यान्—पौरुषाद्यास्यान् इत्येवं परमहृष्ट इत्यास्यान्।
सा गाणा सूक्ष्मीयोऽप्येवं विवाहात्मकानुषेष्टवृक्षाद्यास्यान् चापदे ॥ (प.वि. ८/103)
 - कर्त्तवीयुक्तिविवाहात्मकानुषेष्टवृक्षाद्यास्यान् इत्य-विवाहात्मकानुषेष्टवृक्षाद्यास्यान्।
सा गाणा सूक्ष्मात्मकानुषेष्टवृक्षाद्यास्यान् विवाहात्मकानुषेष्टवृक्षाद्यास्यान् चापदे ॥ (प.वि. ८/104)
 - भूतात्मकानुषेष्टवृक्षाद्यास्यान्—पौरुषाद्यास्यान्—पौरुषाद्यास्यान् विवाहात्मकानुषेष्टवृक्षाद्यास्यान्।
सा गाणा एव पौरुषात्मकानुषेष्टवृक्षाद्यास्यान् विवाहात्मकानुषेष्टवृक्षाद्यास्यान् चापदे ॥ (प.वि. ८/105)
 - विवाहात्मकानुषेष्टवृक्षाद्यास्यान्—पौरुषाद्यास्यान्—पौरुषाद्यास्यान्।
सा गाणा एव पौरुषात्मकानुषेष्टवृक्षाद्यास्यान् विवाहात्मकानुषेष्टवृक्षाद्यास्यान् चापदे ॥ (प.वि. ८/106)
 - पौरुषाद्यास्यान्—पौरुषात्मकानुषेष्टवृक्षाद्यास्यान्—पौरुषाद्यास्यान्।
ते योद्धात्मकान् विवाहात्मकान् विवाहात्मकान् विवाहात्मकान् विवाहात्मकान् ॥ (प.वि. ८/107)
 - पौरुषाद्यास्यान्—पौरुषात्मकानुषेष्टवृक्षाद्यास्यान्—पौरुषाद्यास्यान्।
ते योद्धात्मकान् विवाहात्मकान् विवाहात्मकान् विवाहात्मकान् ॥ (प.वि. ८/108)

काय-चिकित्सा

7. शुक्रतर	सौम्य दृष्टि एवं प्रकृति वाले, नेत्र दुष्पूरित, स्वेत चर्ण, दांत विकने वा सुख, ऐर्ध्य आरोग्य, धन, आदि, गोलकर्म, दृढ़, समाजाकार, ठोस, व अग्रजाग बरबर, सरीर का चर्ण व स्वर किरणि वा स्नान एवं चमकाद होता है। त्रियों के प्रिय होते हैं।	दधातु, प्रसान्नविचित्र, यशस्वान्, सुख, ऐर्ध्य आरोग्य, धन, आदि, एवं अधिक संतान के पाप होते हैं। सुखी, स्वस्थ एवं संतान मुक्त होते हैं।
8. सत्त्वतार	इनको गतियां स्पर्ह होती हैं।	अति उत्साही, पवित्र, सुद्धिमान्, चतुर, धीर, पण्डितमो, गम्भीर चेष्टा मुक्त, निरन्तर काल्यान की कामना मुक्त, विषाद रहित होते हैं।

3. प्रकृति के अनुसार काय के भेद

प्रकृति के अनुसार काय के निम्न 7 भेद हैं—

1. योग्यक प्रकृति
2. पौर्विक प्रकृति
3. कर्तव्य प्रकृति
- 4,5,6. द्वन्द्व प्रकृति
7. सम प्रकृति

विभिन्न प्रकृति एवं उनके लक्षण

क्र.सं	प्रकृति	लक्षण
1.	वात प्रकृति ^१	अल्प केश मुक्त, कृश, रुक्षशरीर वाला, अधिक घोलने वाला, रुक्ष स्वर, गति, चेष्टा एवं आहार लघु एवं चंचल होता है। शरीर में कण्ठदण्ड एवं सिरायें अधिक दिखती हैं। शोषण ही कार्य को बांधने वाले वहाँ शोषण ही दुःखी होने वाले होते हैं। किसी वात को शोषणग्रहण करते हैं व शोषण भूल जाते हैं। अंग

1. शोषणः दृष्टिप्रदः शोषणातीयता इति इन्द्रियवृत्तिः विन्दप् दृष्टिलापसंहृत शिखिदत्ता: प्रसान्नतिनायपर्यं वर्त्त भूषितात्त्वं व्यासित्वं दृष्टिः ।
2. दृष्टिप्रदः दृष्टिप्रदः दृष्टिप्रदः दृष्टिप्रदः दृष्टिप्रदः दृष्टिप्रदः दृष्टिप्रदः ॥ (प.वि. ६/१०९)
3. दृष्टिप्रदः दृष्टिप्रदः दृष्टिप्रदः दृष्टिप्रदः दृष्टिप्रदः दृष्टिप्रदः दृष्टिप्रदः ॥ (प.वि. ८/११०)
4. दृष्टिप्रदः दृष्टिप्रदः दृष्टिप्रदः दृष्टिप्रदः ॥ (प.वि. ८/११०)
5. दृष्टिप्रदः दृष्टिप्रदः दृष्टिप्रदः ॥ (प.वि. ८/११०)
6. दृष्टिप्रदः दृष्टिप्रदः दृष्टिप्रदः ॥ (प.वि. ८/११०)
7. दृष्टिप्रदः दृष्टिप्रदः ॥ (प.वि. ८/११०)

काय चिकित्सा विवेचन		85
		पठने हृदय, चलने गमय गंभीरों से अवश्य जाती है। नर, दंड, कंज, लौग, रम्फु युग्मुरे होते हैं। अल्पायु व अल्पसंतान वाले होते हैं।
2.	पित्त प्रकृति ^२	अकाश में वात संकेत होना, युक्तिनाम, अतिस्थेत आना, शोषण ही औप आना, रोग त्रिप, रित्यन्, अवह, वित एवं पित्तिकाये अधिक होती हैं। शोषण ही दूषित दृष्टी है एवं चालित्य होता है। शरीर के रोग, फैल, रम्फु करित वर्ण के होते हैं। पल, भूत एवं स्वेद अधिक एवं दुर्बन्ध दूषक होता है। अल्प शुक्र, अल्पमैयुनसाइ व अल्प संतान वाले होते हैं।
3.	कफ प्रकृति ^३	गंभीर युक्ति, स्फुलाम्, तुक्ताम्, गैर चर्ण, गंभीर केश मुक्त, अधिक शुक्र मुक्त, अधिक मैयुनसाइ, अधिक संतान वाले, सुखांगित शरीर वाले, अंग पुट एवं पार्पण होते हैं। यद्य चेष्टा व अल्प अहार-पिण्डा करने वाले, चार्च को तोप्र न करने वाले, व्यालम्ब मुक्त, दृढ़ व स्पर्ह गति मुक्त, भूष, पद्मस, ताप व पसीने से कष्ट नहीं होता, संधिवंधन दृढ़, दृष्टि, मुख, चर्ण, स्वर, प्रसन्न एवं लिङ्ग होते हैं।
4,5,6.	द्वन्द्व प्रकृति ^४	द्वन्द्व प्रकृति पुरुष में दोनों दोषों के नियंत्रित लक्षण मिलते हैं— (वात-पैतिक) (वात-इलैचिक) (पिट-इलैचिक)
7.	सम प्रकृति ^५	उपरोक्त वर्णित दोनों प्रकृतियों के सम्मिलित लक्षण वाए जाते हैं।

चिकित्सा निरुक्ति-ब्युत्पत्ति-परिभाषा

ब्युत्पत्ति—आज्ञायों ने चिकित्सा को ब्युत्पत्ति निन्मानुसार को है—

१. “चिकित्सा रूप प्रतिक्रिया।” (अपर कोश) अर्थात् रोग के प्रतिकार करने को ही चिकित्सा कहते हैं।

1. ० अपालापितो वर्ती वैष्णवृहृष्णे व रोगः।
वैष्णवृहृष्णो वैष्णवृहृष्णो वैष्णवृहृष्णो वैष्णवृहृष्णो ॥ (गास.पृष्ठ. ६/२१)
2. १) निराम्यर्थ गैरणः भवति ॥ (ग.पि. ६/७७)
2. १) गंभीर्युक्तिः रम्फुः; निराम्यर्थ गैरणः भवति ॥ (गास.पृष्ठ. ६/२२)
3. १) रम्फुः गैरणः भवति ॥ (ग.पि. ६/७६)
4. १) रम्फुः गैरणः भवति ॥ (ग.पि. ६/७७)
5. १) रम्फुः गैरणः भवति ॥ (ग.पि. ६/७८)
6. १) रम्फुः गैरणः भवति ॥ (ग.पि. ६/७९)
7. १) रम्फुः गैरणः भवति ॥ (ग.पि. ६/८०)

2. चिकित्सक द्वारा "किंतु सोलहवर्षीये" भानु में "सन्" प्रत्यय लगाने से जिस हुआ है। सोलहवर्षीये में "किंतु" भानु का प्रयोग रोग यों द्वारा करने के अर्थों में बहुत होता है।
 3. "किंतु-किंतु-सन्-अ केहिउमिल्ला चिकित्सा!" इस चरण का अर्थ है- दोनों कर दूषकरन।
 4. चाहिंकरन ने लिखा है कि "किंतु" भानु का प्रयोग व्याधि के प्रतिशर्प, अपवर्णन तथा नाशन में होता है। चलता: इस भानु में यहे दो "चिकित्सा" का भी इसी अर्थों में व्यवहार होता है।

१५८

प्रियजनों में चिकित्सा को निम्न निराकृत घोषणा का गढ़ है—

1. "केविन् इच्छावि इव चिकित्सि, चिकित्सात शान् चाकर्त्सा ।"
 2. "य त्रिष्णु व्यापारिहरणे सा चिकित्सा निषद्यते ॥" (भाष्य प्रकाश)
 3. "चिकित्सा देवान्देवप्रतिकारे ।" (चैद्यक शब्द सिन्धु)
 4. "चिकित्सा रुद्र प्रतिक्रिया; रुजः प्रतिक्रिया निरसनम् ॥"

(अमरकोश 2/6/50 रुग्माश्वेष)

“चिकित्सा दत् प्रतीकारः ।” (राज निषण्टु)

विकिवाच की परिभाषा

1. अन्यथा के हरण (नाश) करने की क्रिया को चिकित्सा कहते हैं।
 2. देह के द्रव्याद्वय को दूर करना चिकित्सा है।
 3. देह का इतिहास करना ही चिकित्सा है।
 4. विकल्प, औपचार्य, परिचारक एवं रोगी (चिकित्सा के चतुष्पाद) के प्रशस्त रूप से पर धारुओं के वैकृत हो जाने पर धातु साम्य पुनः स्थापित करने के लिये यो प्रकृति होती है उसे 'चिकित्सा' कहते हैं।
 5. शरीर में विषम हुये दोष, धनु एवं मल जिस क्रिया द्वारा शरीर में साम्यवस्थ की प्राप्त होती है उसे चिकित्सा कहते हैं। इसे ही 'वैद्यकर्म' नाम से पूर्ण जागा जाता है।

८५ श्रीमद्भागवत् संप्रित्यग्निपादः ॥

‘निराकाश उत्तरायणीयोः।

पर्याप्त वाक् प्रसंगः ।

କାନ୍ତିକାନ୍ତିରେ ପରମହାତ୍ମା

ਗੁਰੂ ਨਾਨਕ ਦੇਵ ਪਿਛੇ ਸਾਰੀਆਂ ਖੜ੍ਹੀਆਂ ਹਨ ॥

दर्पण; छिक्कपिण्डांष्टने हातो खालूः रामा; १

એ નિર્ણય વિદ્યાર્થી પત્ર કરું પિલાવો મળું.

691

३०८

100

144

6. दोष- पातुओं की विवरण ही रहा है एवं इसकी सम्बन्धता आत्मापर है। दोषविवरण में विवरण हृष्ट दोष पातुओं की सम्बन्धता में लाने के लिये की जाने वाली क्रिया विकल्पता कठलाली है।
 7. जिस क्रिया के द्वारा रोग का नाश हो दिया जाए तो क्रिया नाशक के घटक दोष-पातु-पथ के अस्थायकतर वैयाप्ति की दूर कर दूने गम्य स्थायकतर प्रयाप्ति में लाने कर पातु गम्य व्याहरित कर दिया दूर कर यह क्रियता है।
 8. अर्थात् या योग का सम्बन्धता ज्ञान उपर्युक्त विद्युत की दूर करना ही योग का वैद्युत या वैद्युतमें का विकल्प है।
 9. In modern Science-Treatment is a manner of applying remedies or it is the care and management of a patient to combat disease / diseases.

चिकित्सा के पर्याय

प्राचीन द्वंद्यों में पितृकिल्प वट के कर्त्त एवं निवारे हैं यद्य— किल्प, कर्म, जातु, दैक्षण्य, प्रतिकर्म, पितृकर्म, वैद्यक जन्म, पितृजल, प्रतिरेष, प्रदीकर, कर्म, चेष्टा, प्रशमन, प्रदूषि, शमन, रोगचयन, अपापिठु, प्राचीनित, चिकित्सक, चम्प, साधन, औपधि, प्रकृति स्थापन, चित्रह, उपक्रम तथा छन्दाद् आदि ।

१. व्याधिहर—“व्याधि हरीत्”, जो रोग दूर करे।
 २. पश्च—“पशि शोत्रसि हितम्”, जो स्रोतस् के द्विषये हिटकर हो।
 ३. साधन—“साधनात् स्वस्थता चल्नाम्”, जितते रहते स्वस्थ हो जाने।
 ४. औषधपृ—“औषधो रितम्”, अपांत् औषधिपृद्यों के साम्बन्धन से बनाया दुआ।
 ५. प्रायशिच्छत्—“प्रायः पापे विजानौयात् विचं तस्य विशेषनम्!”, अपमनन्तर रोग लंहारक।
 ६. प्रशासन—“डदोषमान चानाविभज्ञापित्रशमकात्!” रोगों को शांत करने वाला।
 ७. प्रकृतिस्थापन—“तद् नियन्तरणिचिनितरारोरभावतां समकाऽपादनाम्!”, धातु स्थापन को स्थापित करने वाला।
 ८. हित—रोगों को पोटा नष्ट कर भारीर का पोषन करने वाला। (च. चि १/१३ पर चक्रपाणि दीवं)

- | | | |
|----|--|------------------|
| 1. | દોગરુ દેવાચય દોગરાયમાટેણા ॥ | (પદ્મષ. ૧૨૦) |
| 2. | મા રિયા વાયિધારી સ વિકિલ રિયાદી ।
દોગરાયમાણાં કા સાયદૃદુર દેવ દોગરુ ॥ | (પદ્મષ. ૬૭૧) |
| 3. | ઘ્રણેતાં પીતાં પેદચા રિયા ॥
એઠ વૈધાન વૈધાં ન વૈધ પ્રભુદુર ॥ | (શબ્દ પેણી પુણી) |
| | વિકિલિર્દ્વ વાયિધારી પણ દોગરાયચણ ॥
પ્રાણીની દૂષાન પ્રભુલિલાયાણ ॥ | (પ. પિ. ૧/૩) |

9. प्रवृत्ति—“प्रवृत्तिं चतु चेष्टा कायाद्य।” कायं प्रारंभ करने को चेष्टा। (१
वि. ८/७७)
 10. प्रतीकम्—“प्रवृत्तिस्तु प्रतीकम् समारप्तः।” रोग शमनार्थं कायं प्रारंभ करने।
(च.वि. ८/१३३)
 11. अगद—“न गदोऽस्मात्।” जिसके प्रयोग से रोग न रहे।
 12. जायु—“जयति रोगान्।” जो रोग को जीत ले। (अमरकोश. २/६४३)
 12. रामार्थ्यम्)
 13. भेदज—“रोगं भयं चयति।” रोग के भय को जीतने याता।
 14. धैषन्य—“धेषजयेव अपैषधम्।” रोग भय विनाशक।
 15. धिषणित—“धिषणितं चतुर्यादम्।” विकितसा के चतुर्याद को धिषणित
कहा है।
 16. निग्रह—“अयमेव विकाराणां सर्वपापमि निग्रहे।” विकार को दूर करने।
(च.वि. ७/३४)

चिकित्सा के भेद

आचार्य चक्र के महात्माओं द्वारा देश के असंख्य होते हैं वे अपनी प्रकार चिकित्सा के भी अवशिष्ट प्रकार हैं। परन्तु व्यवहार में चिकित्सा के जिन धरों के प्रयोग चिकित्सार्थ किया जाता है उनका वर्णन यहाँ किया जा रहा है-

✓ एकविध चिकित्सा

- #### (ii) नियन्त्रण परिवर्ती

✓ द्विविध चिकित्सा—इसके निम्न ७ भेद हैं—

- | | | |
|-----|-----------------------|------------------------------|
| | (i) शीत | व्यतिक्रम या विपरीत चिकित्सा |
| | (ii) ठम्प | |
| ii | (i) संवर्षण (चृंहण) | |
| | (ii) अपवर्षण (संबन्ध) | |
| iii | (i) शोधन | |
| | (ii) हामन | |
| iv | (i) उच्चास्थल | |
| | (ii) रोधन | |
| v | (i) रसायन | |
| | (ii) आजौकरण | |
| vi | (i) रोग प्रशमन | |
| | (ii) अपुनर्भव | |
| vii | (i) द्रव्यभूत | |
| | (ii) अद्रव्यभूत | |

१. असामिङ्गले तुरहो-जानेगाजादे इरासामुखगोनाहोयग।

ज्ञाय चिकित्सा विद्येशम्

१३. विविध चिकित्सा—इसके निम्न ७ भेद हैं—

- | | |
|-----|--|
| i | (I) शुक्ल व्यवसाय
(II) दैव व्यवसाय
(III) सहायव्यवसाय |
| ii | (I) अंतः परिमार्जन
(II) गर्हिःपरिमार्जन
(III) सत्य प्रशिक्षण |
| iii | (I) जातुरी
(II) नाट्यो
(III) देवी |
| iv | (I) भौम
(II) औदृष्टि
(III) जांगम |
| v | (I) अपकर्षण
(II) प्रकृतिविपात
(III) निवान परिवर्तन |
| vi | (I) स्वरूपन
(II) संचन पाचन
(III) योगवसेचन |
| vii | (I) हेतु विपरीत
(II) व्यापि विपरीत
(III) उभयार्थकारी |

✓ चतुर्विंशति चिकित्सा—इसे निम्न ३ वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—
(भा. प्रा. ३३/३)

- i (I) धीरे दोसों को बढ़ाना।
 (ii) बड़े हुये दोसों को घटाना।
 (iii) प्रकृतिले दोसों का जमन करना।
 (iv) सुपदोसों का चालन करना।

ii औद्योगिक द्रव्यों के पुरातः 4 खेद होते हैं—
 (I) वनस्पति (ii) वानस्पत्य
 (iii) योरुध (iv) जीवध

iii (I) संशोधन (ii) संशोधन
 (iii) आहार (iv) आवाह

५— पंचविधि चिकित्सा—संशोधन चिकित्सा के निम्न ५ भेद हैं—

- (ब.इ.सं. 14/5)

६: पद्मविप्र चिकित्सा—इन्हे पद्मपङ्गम भी कहते हैं, जो विन्ध हैं—

- (च.सं. 22/9-11)

(i) संपन्न (ii) वृहण (iii) रक्षण

- (iv) स्थान (v) स्वदन (vi) स्वधन
 वेध चिकित्सा—शपत यिकित्सा के निम्न 7 प्रकार कहे हैं—
 (अ.इ.स., 14/7)

(i) पाचन	(ii) दौषन	(iii) शुष्ठा
(iv) रुग्ण	(v) अप्पाम	(vi) आतप सेवन
(vii) मारुत सेवन		

१९. शाल्य तंत्रीय चिकित्सा के भेदः—शाल्य तंत्र में ४ प्रकार के शाल्यकर्मो वा

काय-चिकित्सा

वर्णन किया गया है जो निम्न है—

- | | | |
|--------------|-------------|------------|
| (I) उद्देन | (II) भेदन | (III) लोपण |
| (IV) वेधन | (V) एषण | (VI) आहार |
| (VII) विशावण | (VIII) सौधन | |

९/ दशविंश भेद—तांत्रण चिकित्सा के निम्न 10 भेद यताये गए हैं—

- | | | |
|----------------|-------------|-------------------|
| (I) वमन | (II) विरेचन | (III) निरुह |
| (IV) नस्त्र | (V) पिपासा | (VI) यातु सेप्त्र |
| (VII) आतप सेवन | (VIII) पाचन | (IX) उपचार |
| (X) घ्यावाम | | |

(च.सू. 22/13)

(अ.ह.सू. 25)

१०/ उच्चोदस भेद—आचार्य वामभट्ट ने निम्न 13 प्रकार के शस्त्र कर्त्ता का कर्त्ता
किया है—

- | | | |
|----------------|-------------|--------------|
| (I) उद्देन | (II) भेदन | (III) वेधन |
| (IV) सेहन | (V) ऐषण | (VI) आहार |
| (VII) विशावण | (VIII) सौधन | (IX) उत्पाटन |
| (X) कुरुत्व | (XI) मन्थन | (XII) घाहण |
| (XIII) दहनकर्म | | |

११/ अष्टदश भेद—उपराय चिकित्सा के 18 भेद कहे हैं जो निम्न है—

(च.नि. 1/10 पर चक्रवाचि) (मा.नि. 1/8 पर दीक्षा)

- (I) हेतुविपरीत औषध
- (II) हेतुविपरीत अप्र
- (III) हेतुविपरीत विहार
- (IV) अग्निविपरीत औषध
- (V) अग्निविपरीत अप्र
- (VI) अद्विविपरीत विहार
- (VII) उपय (हेतु-अग्निप) विपरीत औषध
- (VIII) उपय (हेतु-अग्निप) विपरीत अप्र
- (IX) उपय (हेतु-अग्निप) विपरीत विहार
- (X) हेतु विपरीतार्थकारी औषध
- (XI) हेतु विपरीतार्थकारी अप्र

काय चिकित्सा विवेचन

- (xii) हेतु विपरीतार्थकारी विहार
- (xiii) अग्निविपरीतार्थकारी औषध
- (xiv) अग्निविपरीतार्थकारी अप्र
- (xv) अग्निविपरीतार्थकारी विहार
- (xvi) उपय (हेतु-अग्निप) विपरीतार्थकारी औषध
- (xvii) उपय (हेतु-अग्निप) विपरीतार्थकारी अप्र
- (xviii) उपय (हेतु-अग्निप) विपरीतार्थकारी विहार

१२. यष्टि उपक्रम—आचार्य वामभट्ट ने यह चिकित्सा के निम्न उत्तर उपक्रम के
कर्त्ता यताये हैं—

- | | |
|--------------|------------------|
| 1. अपठर्पन | 21. नैवन |
| 2. झालैप | 22. नैवन |
| 3. चारिपक | 23. चारिप |
| 4. अप्त्यंग | 24. नैवनदन्वान |
| 5. स्वेद | 25. विद्युत्तन |
| 6. विष्टापन | 26. उत्तरार्द्धा |
| 7. उपनाह | 27. कथाम |
| 8. पाचन | 28. वर्ति |
| 9. विशावण | 29. उत्तर |
| 10. स्वेहन | 30. सर्वि |
| 11. वमन | 31. वैल |
| 12. विरेचन | 32. रसाक्रिया |
| 13. उद्देन | 33. अवचूर्णन |
| 14. भेदन | 34. प्रनपूर्ण |
| 15. दारण | 35. उत्तरादन |
| 16. सोषण | 36. अवकादन |
| 17. एषण | 37. बृद्धकर्म |
| 18. आहारण | 38. दाहगर्कर्म |
| 19. घ्यधन | 39. श्वरकर्म |
| 20. विश्लापन | 40. अग्निकर्म |

- | | | | |
|-----|---------------|-----|-------------|
| 41. | कृष्णकर्म | 51. | वृंहण |
| 42. | पारम्पुर्कर्म | 52. | विपच्छ |
| 43. | प्रतिसारण | 53. | शिरोपिरेचन |
| 44. | रेष्मतंजनन | 54. | नस्य |
| 45. | लोभारहण | 55. | कैवल धारण |
| 46. | यांत्रि | 56. | धूम |
| 47. | डत्तरवाति | 57. | मधु सर्पि |
| 48. | यन्त्र | 58. | यत्र |
| 49. | पञ्चदान | 59. | आहार |
| 50. | कृनिन् | 60. | रक्षा विधान |

१. प्राचीन विज्ञान

निदान परिवर्बन—विल कारणों से रोग उत्पन्न हुआ हो उनका त्याग कहा जाता है।

ऐन्टुलर पद्ध का सेवन करना भी चिकित्सा का एक प्रकार है। इसी संदर्भ के अन्दर बुद्ध ने निर्देश दिये हैं— “संजोतः किम् योगो निदानपरिवर्तयत्”।

(三一 1135)

2. विश्व विद्यालय

‘व्यावरक्रम चिकित्सा’—इस सिद्धान्त के अनुसार विपरीत चिकित्सा फ़ा विषय
किया जाता है।

- I) (i) शोध चिकित्सा—कमज़ोर जानिंद्र फ़ारगों से बत्सन होगें में शोध दर्शक करना।
(ii) कम्यु चिकित्सा—शोध जन्य कवरगों से बत्सन होगों में कम्यु डपचत किया जन्य स्ट्रॉब्योफ़िल होता है।

II) (i) मर्दवंश (वृहण) चिकित्सा—कृत्रा पुरुष को लघु गुण पुढ़ उत्पादक लाइट देकर चिकित्सा करना।
(ii) महिलवंश (लौगन) चिकित्सा—स्थूल पुरुष को गुरु गुण पुढ़ लेन्ड्र जन्य व्याहार देकर चिकित्सा अद्यवस्था करना।

1. यह अपने विद्युत आवाह देकर विविधता अपनास्था करना।
 2. यह अपने विद्युत आवाह देकर विविधता अपनास्था करना। (प्रा. 341)
 (अपना विद्युत आवाह देकर विविधता अपनास्था करना।)

સુર્ય વિવિધ વિષય

- iii)¹ (i) शोधन चिकित्सा (Biopurification Therapy)—यस्तयान य बहुदोष यांत्रे रोगी में शोधन चिकित्सा।

(ii) शामन चिकित्सा (Palliative Therapy)—वर्तमान य शीघ्र दोष यांत्रे रोगी में शामन चिकित्सा।

iv)¹ (i) ठर्जस्टर चिकित्सा—स्वस्त्र उत्तर के बल, योग्य, चर्न य ओज की पुष्टि य जगत् अधिक नालक चिकित्सा।

(ii) सोगज चिकित्सा—प्रियाणि अपापि को दूर करने यात्री चिकित्सा।

v)¹ (i) द्रव्यभूत चिकित्सा—अंत्र, यांत्र, हांत, जन आदि द्वारा को जाने धार्हो चिकित्सा। इस चिकित्सा में रोगी में अंत्रपथ द्रव्यंग नहीं किया जाता है।

(ii) अद्रव्यभूत चिकित्सा—अंत्र, यांत्र, हांत, जन आदि द्वारा को जाने धार्हो चिकित्सा। इस चिकित्सा में रोगी में अंत्रपथ द्रव्यंग नहीं किया जाता है।

vi)¹ (i) रसायन चिकित्सा—आमु, बल, चर्न, सुख व दोष शमनार्थ प्रयुक्त को जाने यात्री चिकित्सा।

(ii) वाजीकरण चिकित्सा—पौष्ट्र शास्त्र, ब्रह्म, तुक लंबर्घन एवं सन्तानोत्तरि के लिये को जाने यात्री चिकित्सा।

vii)¹ (i) रोग प्रश्नपन चिकित्सा—कंदवत् दोष के दमन के लिये को जाने यात्री चिकित्सा, काशान्त्र, में दोष की तुला द्वारा हो सकती है। यथा—संशमन चिकित्सा।

(ii) अपुनर्भव चिकित्सा—इस चिकित्सा द्वारा दोष को मुनः दत्यति नहीं होती। यथा—संशोधन चिकित्सा।

3. विविध चिकित्सा

आदर्श चालक ने सूत्रस्थान में पुनर्विकल्प के तीन घेद घोषित किए हैं। अन्य स्थानों पर विभिन्न आदर्शों ने भी विकल्प के 3 घेद घोषार्थ हैं जो निम्न प्रकार हैं—

- 1) (i) दैवव्याप्रथा चिकित्सा (Divine Therapy)—मंत्र, ज्वर, तप, मनसिपात्रण, मंगलताठ लक्षिति, औपधारण, देवदर्शन आदि से कार्य करने वाली चिकित्सा।

- | | | |
|----|---|--------------|
| 1. | गोपने हातवं भेदि शुद्धतारौपं द्विः। | (अ.स. १२५) |
| 2. | द्विप्रदेवत्यमूर्त्यकं गोपनं च। | (अ.स. १२२) |
| 3. | हृषीं प्रेतवत्यं भेदिति द्विप्रदेवत्यमूर्त्यकं गोपनं च। | (अ.वि. ४८७) |
| 4. | गोपनेवत्यं द्विप्रदेवत्यमूर्त्यकं गोपनं च। | (अ.स. १२२) |
| 5. | गोपनेवत्यं द्विप्रदेवत्यमूर्त्यकं गोपनं च। | (अ.स. १२२) |
| 6. | द्विप्रदेवत्यमूर्त्यकं द्विप्रदेवत्यमूर्त्यकं गोपनं च। | (अ.ग. ११/५४) |

- (II) युक्तिव्यापाद्य चिकित्सा (Rational Therapy) — दोग, प्रेरणा, देश, वाल आदि को बारे में विचार पर गति-प्रवाह उत्पन्न होती है। यहके को जाने वाली चिकित्सा।

(III) सत्त्वावनय चिकित्सा (Psycho Therapy) — अंतिमपरिवर्तन से मन परे हटाकर को जाने वाली चिकित्सा। इसे आधुनिक विज्ञान में Psycho Therapy भी कहते हैं।

II) (I) अंतःपरिमार्जन—शरीर के अन्दर औषध, पथ्य इत्यादि शब्दों द्वारा दूर करने वाली चिकित्सा।

(II) बहिःपरिमार्जन—औषध का याद्य प्रयोग (अध्यांग, स्त्रें, सैक्षण, करके को जाने वाली चिकित्सा।

(III) शास्त्रप्रणिधान—चेदन, भेदनादि शब्द प्रयोग करके को जाने वाली चिकित्सा। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में इसे SUPPLY कहते हैं।

III) (I) आसुरी—शस्त्र प्रयोग द्वारा को जाने वाली चिकित्सा।

(II) दैवी—रस-रसायन द्वारा को जाने वाली चिकित्सा।

(III) मानुषी—कषाय, चूर्ण, यटी आदि अनेक कल्पनाओं के द्वारा जाने वाली चिकित्सा।

IV) (I) भौम द्रव्य—स्वर्ण, रजतादि धातुओं एवं लवणादि द्रव्यों से को ज्ञान वाली चिकित्सा।

(II) औदूधिद द्रव्य—इसके भी निम्न चार भेद हैं—

(अ) वानस्पति—इसमें केवल फल होता है पूल नहीं। यथा-गूदा, घट, पाकड़ आदि।

(ब) वानस्पत्य—इसमें फल य पूल दोनों होते हैं। यथा-अमृत, वौल्प—फैलने वाली लकड़ियों को योषध कहते हैं यथा-गुरुचंद्र।

(द) औषध—जिनमें पकने के बाद औषध नष्ट हो जाते हैं। यथा-दूध, गेहूँ, धान आदि।

- वाहिनी द्वारा देश के सभी भूमिकाएँ प्राप्त कियी गयीं थीं। अजा: चलार्जन, यहि: प्राप्ति
काव्यशास्त्र देखें। (प.३: १५)
 - आगुणो मनुषो हैं विकासा विषया गता।
स्त्रै करावेन्द्रियः; इन्द्रेन्द्रियः युक्तिः ॥
 - जीवितम् न चर्यन्मय, वनस्पतियोरुपम् वनस्पतियोरुपम् ॥

- (iii) जाह्नवी द्वारा—जैव-जन्मधारे से प्राजन इत्यों द्वारा की जाने वाली चिकित्सा। यथा-पूर्ण, मधु, शोषण, उत्पात, दूर्जन इत्यादि।

v)¹ (i) अपकर्मण—आहारपद के भी भौं भेद हैं—
 (a) आहु अपकर्मण—कृषि, कच्छुर, ग्रीव, अर्धुद आहु इत्य वो द्रव्य, जैव या उत्पर्वत से खोजसर विकलाना।
 (b) आभ्यन्तर अपकर्मण—यमनाडि वैश्यों के द्वारा जीवस्थ दोषों को याहर विकलाना।

(ii) प्रकृति विषान—इनमें भी दो भेद हैं—
 (क) आहु—योगेत्यादक कठनों के विवरीत प्रकृति के लिए, उपलेप आहु के प्रयोग।
 (ख) आभ्यन्तर—योगात्मदक निदानों के विवरीत प्रकृति के दोनों घटन, संरक्षन आहु और स्थान आभ्यन्तर प्रयोग।

(iii) निदान परिवर्तन—योगेत्यादक कठनों (आहु-विषान) का परिवर्तन कर पथ्य संघन करना।

vi)¹ (i) हेतु विपरीत चिकित्सा—योगेत्यादक निदान गुह, स्त्रिय, शोतुर्दि के विवरण तथा रस, कान्दी और प्रद्युम्नों द्वारा उत्तर इत्यों का सेवन।
 (ii) च्यापित विपरीत चिकित्सा—योग के विवरण विचिकित्सा यथा अदिस्त्र या रक्तलाय योजने के लिये स्तम्भन चिकित्सा।
 (iii) उभय विपरीत चिकित्सा—जो दोनों व निदान दोषों के हो विपरीत गुण वाला है। यथा-वातिक शोष में रोपहर व बातवातक दशमूल यवाय का प्रयोग।

vii) अपतर्पण चिकित्सा के भी दोनों भेद हैं—
 (i) संधन—जब गोपों अह्यवल व अत्य दोष मुक्त हो तो संधन करने से चटागांव इदोपा हो जाती है एवं संधन से यातवृद्धि होकर दोष समन हो जाता है।
 (ii) संधन पाचन—मध्य धूल व मध्य दोष गोपों को संधन करने के साथ-साथ उसके दोष पाचनार्थ जौषध वा भी प्रयोग किया जाता है।

- पुराणिष च विविध-प्रपादान्में, छूटीरिपाते, निकालायत :
से पुराणकर्त्ता द्वये, बदवं तिनापादाग्रन्थवाहारात्। (अ.स.स. 12/3-4)
 - पुराणिष विविष्य हेतुचाली खलिपित्रपरेत्यनुसार्यकरिष्य :
तत्त्वे, अपि विविष्यत । (अ.स.स. 12/5)
 - अपादवेष्यात् च विविष्य-हंसद्वये, हंसद्वयवन्, दोषगत्वये चेति।
तत्र, रुद्रेष्या शोषणम् ॥ (प.पि. 3/43-44)

(iii) दोषावसेधन—जब दोष महुत अधिक थे तो ये रोगी शराब के लो इसके प्रयोग दोषों को संशोधन प्राप्त याहर नियन्त्रण आयी है।

4. चतुर्विंध चिकित्सा

- i) आचार्य चुद्गुरु ने चिकित्सा स्पान में चार प्रकार की चिकित्सा याद है—
 - (i) सूच दोषों को घटाना।
 - (ii) घटे हुये दोषों को घटाना।
 - (iii) प्रकुरित दोषों का शानन करना।
 - (iv) स्वदोषों का जातन फरना।

यही 'आचार्य चिकित्सा' कहलाती है।
- ii) तुः आचार्य चुद्गुरु ने चिकित्सा के चार प्रकार कहे हैं—
 - (i) संशोधन चिकित्सा—इसके दो भेद हैं—
 - (1) अनुराशय—इसके पुनः चांच भेद है—
 - (अ) वनन (ब) विरेचन (स) अवस्था (द) नस्य
 - (इ) रक्त चोकन
 - (2) बहिराशय—इसके पुनः चार भेद हैं—
 - (अ) श्वस (ब) क्षार (स) अग्नि (द) प्रलेप
 - (ii) संशमन चिकित्सा—इसके भी पुनः दो भेद हैं—
 - (1) वाह्य—इसके पुनः निम्न भेद हैं—
 - (अ) व्यतीन (ब) परिपेक (स) अवगाह
 - (द) अध्यन (इ) लिहोवस्ति (फ) गण्डूप
 - (भ) कवाल
 - (2) आघ्नेयना—इसके पुनः निम्न भेद हैं—
 - (अ) चावन (ब) लेखन (स) वृंहण
 - (द) रसायन (इ) याजीकरण (फ) विषयान
 - (iii) आहार—इसके चार भेद हैं—
 - (i) पेय—पाने योग्य।
 - (ii) लंग्हा—चटने योग्य।
 - (iii) भैस्य—भाषन फरने योग्य।
 - (iv) खाद्य—छाने योग्य।

1. दोष: शोष शूरीण; चुरिण: प्रसारितासा; पृष्ठ विर्तिंष्टा; श्वस: चूर्णाशया इति विकल्पानः ॥

2. दोषी संशोधनसंकेतकालाः स्वद्वृत्तिंष्टा विकल्पानः ॥

(मुख्य 319)
(मुख्य 127)

(iv) आचारा—इसके तूः गिरि भेद है—

- (1) वसायिक—इसके निम्न चांच भेद है—
 - (अ) उत्तरोत्तम (ब) अत्तरोत्तम (स) उत्तरोत्तम
- (2) याधिक—इसके निम्न चांच भेद है—
 - (अ) गाढ़ (ब) ग्राहकात्तम
- (3) मानविक—इसके तूः गांव भेद है—
 - (अ) विकात (ब) विद्यर (स) उक्त
 - (द) औद्य (इ) संकल्प

5. पंचविध चिकित्सा

इसी संशोधन चिकित्सा भी कहा जाता है। इसके चांच भेद है। आचार्य चरद मत्तानुसार संशोधन चिकित्सा के निम्न चांच भेद है—

- (i) यमन (ii) विरेचन (iii) अनुरक्तम चर्चन
 - (iv) निळ चर्चन (v) नस्य
- आचार्य मुकुरा नवानुसार संशोधन चिकित्सा के निम्न चांच भेद है—
- (i) यमन (ii) विरेचन (iii) चर्चन
 - (iv) नस्य (v) रक्तचोकन
- (i) वमन (Emesis)—उथर्य नाने से दोषों को निकालना। यह चिकित्सा काफज दोषों में विशेष लाभकारी है।
 - (ii) विरेचन (Purgation)—जपेनाने से दोषों को निकालना। यह चिकित्सा पितज दोषों में विशेष लाभकारी है।
 - (iii) चर्चित (Enemata)—अपेनान् (तुः चार्चन्त्रू नान) से दोषों को निकालना। चालज दोषों में विशेष लाभकारी है।
 - (iv) नस्य (Erthlines / Nasal Insufflation)—नानानां से औपचार्य प्रयोग कर उथर्य जानुगत दोषों में कफ दोष को मुक्त नान से निकालना।
 - (v) रक्तचोक्षण—सुंग, अलाचू, यस्तीका एवं प्रच्छान के प्रयोग से दूरीत रक्त का निर्हरण जाता।

6. पंचविध चिकित्सा—आचार्य चरक के अनुसार निष्प्र पद्धतिकारों को जो चिकित्सक जानता है यह उक्त चिकित्सक है—

- (i) लंपन—यो नारी में हापुग उत्पन्न करे।

निष्प्र पद्धतिकारों
परोपेद्वितीया च त्वं होपनं च त्वा । निष्प्रो चरनं चात गिरोकोप्रति विषुः ॥ (म.इ.स. 34.5)
त्वान् पृष्ठं दातो रक्तान् दोहां हया । रोदनं रक्तान् दोह वस्त्रो च च वै विषह ॥ (म.ग. 22.4)
3. विविधा लापाकान् देव तत्त्वान् शृणु ॥

- (ii) घृणा—जो स्त्रीर में गुरुता डापन करे।

(iii) रक्षणा—जो स्त्रीर में रक्षाता डापन करे।

(iv) स्वेहना—जो स्त्रीर में रिक्षपता डापन करे।

(v) स्वेदन—जो स्त्रीर में स्वास्थ्य, गुरुता एवं शैत्य को नष्ट करे।

(vi) स्वाम्भना—जो चालायमान दोषों को नष्ट रोकने में समर्थ हो।

7. समीक्षित चिकित्सा—सामन पियाइस्ता के साथ प्रकार है—

(i) आचन—आमदोष का आधन करना।

(ii) दीचन—बाटराजि वरे छटोत्त करना।

(iii) धूणा—धूता रहना या धूत रूप खाना।

(iv) तृप्ति—प्लस्ट रहना या कल माझा में चानो चीना।

(v) ब्याधाय—हातों को पारद्रग्न कराने वाले कर्म करना।

(vi) झातप सेवन—जाग को लापना या धूप में रहना।

(vii) मानत सेवन—खुले त्वान में स्वच्छ वायु सेवन करना।

8. अषुविध शास्त्रकर्म—यह शत्यतंत्र का विषय है परंतु चिकित्सा का हु ऐसे ही के कारण यहां घारिंत किया जा रहा है—

(i) छेदन (Excision)—काटकर हटा देना। यथा- अर्स, भगन्दर आदि में।

(ii) खेदन (Incision)—चोड़-पाढ़ करना। यथा- ग्रन में चीरा लगाना।

(iii) तेँठन (Scraping)—घुरचना। यथा- रोहिणी, विलास आदि में।

(iv) बेप्तन (Puncturing)—छेद करना। यथा- सिरावेध में शिरा रख बेप्त किया जाता है।

(v) एप्पन (Probing)—खोजना। यथा- शलाका द्वारा नाड़ीव्रग का रख सजाना।

(vi) आहरण (Extraction)—छोचकर निकालना। यथा- मूढ़गर्भ या कूमिन यों निकालना।

- | | | |
|----|--|---------------|
| 1. | सुन्दर दयालं वरदं दया सुन्दरः। | |
| 2. | शीर्ष दायां देवद दयुर्वद दद्विद्वाम्। | |
| 3. | छोड़े कोर तिन्दं दयां कोरे दयाकम्। | |
| 4. | स्वाधीर दीर्घं लोकं लोके दयाकम् | |
| 5. | स्वाधीर दयापर्वतं दया तिन्दवं दये पृष्ठः। | (प.८.३२/१३) |
| ✓ | ७ होपदी दयुर्वद दयालं दयालं दयारिः। (पार्वतीर्थि विश्वामी दयां दया सुखः)। | (प.८.३२. १४३) |
| ✓ | दयन देवं दयुर्वद दयालं दयारिः। (दूषण दयनं देव करोः दिवानिशाय च)। | (प.८.३२. १४७) |
| 8. | हय दायानां दयालिप्य दयाय, देव, देवी, संसार, देवी, देवाय, आदार्य, विशाक्ष, गीजारिति ॥ | (स.ग. ५५) |



- (vii) नियावण (Drainage)—प्रदूषक समान- पूर्ण, दूरीन राट को आहर नियावणा।

- (viii) स्टीचिंग (Stiching)—शुद्ध गाहना। दक्ष-भैत्रजर्म पश्चात् तुः पद्मास्त्रवि
में शाक गिरना।

१०. दरमाविप्र विकल्पात्—संस्कृत विकल्पों के दरमाविप्र जड़ता है। इसमें चरन प्रकरण के संशोधन कर्म गता रहा; प्रकरण के अद्यत्य भूत विकल्पों का समावेश जड़ता है।

(1) संशोधन कर्म

- | | | | |
|------------------------|-------------|-------------|--------------|
| (i) यमन | (ii) विरेचन | (iii) निकास | (iv) नम्म |
| (2) अद्व्यपूत चिकित्सा | | | |
| (v) चिपासा | (vi) जारन | (vii) जारन | (viii) गर्दन |
| (ix) डरयास | (x) अकाशन | | |

11. अष्टादश भेद—जौरप, जब स्वयं पिण्ठ के सुखुक्तक प्रदोष के उत्तराय कहा जाता है। इसे Therapeutic Test भी कहते हैं। उनके निचे 13 भेद हैं—

(i) डेटा विपरीत

- (अ) औपध—यातु काक्ष च्चर में कृष्ण औपध द्रव्यं।
 (ब) अत्र—यातु च्चर में नामस्त।
 (स) विहार—क्रमच च्चर में विहार।

(ii) व्याधि विपरीत

(ii) व्याधि. विपरीत

- (अ) औषध—काल व्यापि में दानांश व दानांश का प्रयोग।
 (ब) अत्र—स्मैल्ट्य में फर्नार्नार्थ व होठनार्नार्थ चव का प्रयोग।
 (स) विहार—प्रनेह में चंक्रनग।

(iii) उभय विपरीत (हेतु-व्यापि-उभय विपरीत)

(अ) औषध—कालिक शोथ में शोधडर व याताडर दानांश प्रयोग।
 (ब) अत्र—शोषजंडन यातिक व्यापि में देखा।
 (स) विहार—स्निग्धाहार व दिवास्त्वन से उत्पन्न छन्दा में रुख रात्रिः
 ज्ञापण।

(iv) नेत विपरीतार्थकारी

- (अ) औपध—पितज द्वारा पर कर्म उत्पन्न होते हैं।
 (ब) अग्र—कामला वें कल्प-सौंदर्य पदार्थ का सेवन
 (स) विहार—चातुर उन्नास में भय दिखाता।

१. प्राप्तिकार संभवित नियन्त्रणहस्तान्त्री। पारकल्पना ग्रामीण व्यापकतेजि हातुर्दशी।
 २. औपचारिक समाजवांश उत्तराधीन।

- (v) व्याधि विपरीतार्थकारी
 (अ) औषध—जहिं में नदनकल प्रयोग।
 (ब) अङ्ग—अविश्वास में दूसर प्रयोग।
 (स) विहार—जहिं में प्रवाहण।

(vi) उभय विपरीतार्थकारी (हेतु-व्याधि-उभय विपरीतार्थकारी)
 (अ) औषध—स्थापत्य विष की चिकित्सा में जांगम विष का प्रयोग।
 (ब) अङ्ग—स्थापत्य में भूमि सेवन।
 (स) विहार—उल्लतार्थ में जल में हैरन।

इत्यम् चिकित्सक के कर्तव्य

एक डायम चिकित्सक के काम करत्य है तथा चिकित्सा में प्रयुक्त चिकित्सक वंश छन्द में रहने वाले सूत्र बैठन-कीन से हैं? इनका वर्णन करने के पूर्व एक रोगी के कर्तव्य पर भी ध्यान रखना आवश्यक है।

धर्म, अर्थ, काम ये मोक्ष इन पुरुषार्थ चतुष्टय की साधना से आसु को इस रहनेवाले पुरुष को जानुर्वद के विभिन्न जंगों में दिए हुए उपदेशों में पूर्ण विद्या रखने चाहिए।

विकिस्तक के फलाव्य

1. चिकित्सक का परम लक्ष्य है कि वह चिकित्सा कार्य के पर्याप्त मानक प्रयोगवृत्तक दोणियों के रोप से बचाएँ व रोगी को पुत्रवत् मानकर उत्तम चिकित्सा दें।
 2. चिकित्सक को केवल प्राणिमात्र पर दया की भावना से द्रष्टव्य होकर चिकित्सा वर्ष में प्रशृत होना चाहिए व उसे रोगी से धन होना या अन्य कोई लाभ या आवरण नहीं होना चाहिए, क्योंकि जीवन दान से यढ़कर कोई दान नहीं है।
 3. किसी रोगी की चिकित्सा प्रारंभ करने के पूर्व उसकी आयु की परीक्षा करने चाहिए, क्योंकि आयु के रोप हने पर ही चिकित्सा सफल होती है। साथ ही चिकित्सक जाइए लक्षणों पर अवश्य विचार करना चाहिए।

- | | | |
|----|---|------------------|
| 1. | आङ्ग यापयनेन पर्युक्तुवाचयम्।
आपुर्वदेवोत्तिषेधः पात्रः॥ | (अ.गृ. 1/2) |
| 2. | पिण्डाद्याकृतं राजन् स्वपुर्वित्वा व्यवस्था।
आवासेऽस्मि हि गोपेहित्यां पर्युक्तुलभ्यते ॥ | (प्र.पि. 1/4/56) |
| 3. | नर्वर्व तपि वायाद्याम पूर्वत्यज्ञः।
कर्त्तव्यादिवत्याम लाहौर्वित्वा ॥ | (प्र.पि. 1/4/56) |
| 4. | पिण्डाद्यां पार्श्वेण इत्यावश्युः उत्तमः।
हत आपुर्व पिण्डाद्यां विचित्राता राजन् भवेत् ॥ | (प्र.पि. 1/4/56) |



- पोर्ट भी श्रावणी इन मंत्रमय में अवश्य नहीं है, उसकी मृत्यु निश्चित है वरन् आपके लिए दोष रहने पर उत्तम रोग की विवरण्य प्रधारण करनी चाहिए। अतः जब सब रोगों के कल्प में श्रावण रहे तब वह चिकित्सा करना चिकित्सक की कामिया है।
 - रोगों का जन्म या भ्रह्म दूधधर के अधीन है, केवल रोग जन्म प्रदाता को टोक करना चिकित्सक घोषित्र्य है।
 - निनको आपु अविनिश्चित है उन चीजियों को भी तब तक चिकित्सा करनी चाहिए जब तक रोगों में धारा-प्रधारा प्रक्रिया हो, असंकिक कपो-कपी और लकड़ी लकड़ी होने पर भी देवदेव में रोगी बच जाता है।

चिकित्सक के उपरोक्त कार्यव्यों के अनिवार्य कुछ अन्य नाड़वर्णन मूल भी हैं जिन्हें लकड़ी की व्यापार में देखना अत्यन्य आवश्यक है। यह मूल निम्न है—

 - रोग तथा सर्वदासादि भे परिवृत्त मनुष्य शर्दि आपु गूँज पर चुका है तो स्वयं भ्रातान भ्रवन्तारि भी उसे स्वयं वहाँ बत लकड़ी देता बदल ग्रात मनुष्य की मंत्र, लप, होम इत्यादि में से कोई भी करने वाले बदल सकता।
 - अतः चिकित्सक के गूँज प्रधारा करने के बाद भी शर्दि रोगी मृत्यु को प्राप्त होता है तब चिकित्सक जो नियन वहाँ होता होता चाहिए।
 - आपु रहने पर भी चिकित्सा न करने पर रोग वृद्धि हो जाने पर योगी वसी प्रकार पर जाता है जैसे देवक में हील व वाती रहने पर भी हृदय के झोक से मृत्या न करने पर दीपक वृद्ध जाता है।
 - आपु रहने पर भी शर्दि चिकित्सा न करने आप दब भी रोगों रोग मुक्त होकर नहीं उठ सकता। अर्थात् आपु सेव रहने पर भी चिकित्सा तो करने हीं पड़ेगी अन्यथा रोगी को स्वास्थ्य हात्प महों हो सकता। जिस प्रकार बोधवाद में कहें हाथी को बिना उपाय किये नहीं निकलता या सकता।
 - उचित काल पर चिकित्सा न करने पर साध्य रोग भी अस्त्रभ्य हो जाते ही एवं जीवन में अस्त्राव ही नष्ट कर देते हैं।

- न यज्ञः करित्वाम् तुष्टियमेष याते। अते पूरुषार्थं द्यात् किं तो नियायी ॥
पापाद् एष्यताः प्रयत्नवर्त्तना विशिष्टः ॥ (प.३. ३७-१८)
 - वस्त्रान्विकासं विर्द्धिं ग्रह्य विहितात्। मायुरोदानं स्मारणेतालोपत्तिं विद्यतः ॥ (अ.६.७५. ७३)
 - वायां प्रतिक्रिया पर्वतं पापाद् विर्द्धिं व्याप्तः। प्रदद्युष्टेष्वेषु दृष्टीर्थात् वोक्ति ॥ (प.२.५४. ६१३)
 - वायुमेष वर्णये धीरे होतोर्व इत्यै लाता। नीतिपति च विद्यतः च विजयं च पुरुषं वंशः ॥
नामने पूरुषोत्ते वायकं पापाद् यात्वा ॥ (प्रसौराकृति गुप्त)
 - सर्वं वायुपुरुषः वस्त्रान्वै विहितात्। वाया गालपि वैताते दीर्घे विर्द्धिं वायत्वा ॥ (भ.४. ६.११)
 - सर्वं वायुपुरुषे देवाते विकल्पात् वैत्वं ह । दीर्घीत्वात् दृष्टाः पूरुषो वाया वैतः ॥ (भ.४.४८. ६.१०)
 - वायां वायुवर्त्तना द्यात् विष्टुव्यादानः। विन व्रद्यामस्यान् व्यवस्थितात् ॥ (प.३.१. १. १०१)

श्रेष्ठ चिकित्सा

उत्तम चिकित्सा जही होती है जो उत्तम हुए रोग को पूर्णतः भागन नहीं, वा उत्तम स्थल पर किसी अन्य रोग को उत्तम न करे। आयुर्वेदीय चिकित्सा इसी उकाल पर चिकित्सा है।

इसके विपरीत जो चिकित्सा बर्तगान रोग को तो शांति परे पर्याप्त भालानार में फिर अन्य रोग को डरत बन दे यह उत्तम चिकित्सा नहीं है।

आयुर्वेद में उत्तम रहित चिकित्सा का वर्णन है। जबकि Modern Treatment (Allopathic Medicines) से रोग की शीघ्र एवं त्वरित चिकित्सा तो संभव है लेकिन उसमें प्रबुद्ध अधिकारी औरपियों के विवाक प्रभाव (Side effects/toxic effects) में अनेक उत्तर भी प्राप्त हो सकते हैं। प्राप्त: Allopathic Treatment में मुख्य व्याधि की चिकित्सा के साथ ही औपचार्यन्वय विवाक प्रभावों के उपचारों को रोकने के लिए भी चिकित्सा करने पड़ती है। आयुर्वेदिक चिकित्सा निरापद होने से ऐसे विकल्प हैं। आयुर्वेदिक कठोराद्यथानं तुलनात्मक रूप से धीरे-धीरे शरीर में चिकित्सात्मक प्रभाव देते करते हैं जबकि विपरीत रसायनियों तेवों से शरीर में अपना प्रभाव पैदा कर रोग जनन में सहायक होती है। खट्टोक विधि से निर्मित अधिकांश आयुर्वेदिक औपचार्य विकल्प एवं पूर्ण रूप से सुरक्षित होती है।

चिकित्सा से लाभ

व्याधों ने चिकित्सा की फलशक्ति का वर्णन यहुत ही सटीक किया है।

1. इन द्वारा जो ही सर्वोत्तम एवं मानकर जो चिकित्सक चिकित्सा कार्य करता है उन्हें लाभान्वय, पूर्वान्वय, सिद्धार्थ य अत्यन्त सुख की प्राप्ति होती है। अर्थात् इनियों द्वारा करता ही श्रेष्ठ धर्म है। यह जानकर चिकित्सा करने करने चिकित्सक को सर्व मनोरप सिद्धि एवं सुख की प्राप्ति होती है।
2. कर्णेण व्यवर्धने वालों को दान करने से जो उपचार प्राप्त होता है उससे भी कर्णेण व्युत्पन्न व्याधि एक दोगों को चिकित्सा कर उसे आरोग्य लाने प्रयत्न करने से मिलता है।
3. ये दोगों नियंत्रणे होने पर चिकित्सा का मूल्य नहीं चुकाता उसके सबल सालों एवं उपचार भी चिकित्सक को प्राप्त होता है।
4. चिकित्सक को भी कर्णे दोगों से धन लाभ मिलता है तो कभी मिश्रा भी भावना यद्दी है। कर्णों पुण्य मिलता है तो कहीं यह की प्राप्ति होती है। एवं

1. ये दोगों नियंत्रणे होने पर चिकित्सा का मूल्य नहीं चुकाता उसके सबल सालों एवं उपचार भी चिकित्सक को प्राप्त होता है।
2. ये दोगों नियंत्रणे होने पर चिकित्सा का मूल्य नहीं चुकाता उसके सबल सालों एवं उपचार भी चिकित्सक को प्राप्त होता है।
3. ये दोगों नियंत्रणे होने पर चिकित्सा का मूल्य नहीं चुकाता उसके सबल सालों एवं उपचार भी चिकित्सक को प्राप्त होता है।
4. ये दोगों नियंत्रणे होने पर चिकित्सा का मूल्य नहीं चुकाता उसके सबल सालों एवं उपचार भी चिकित्सक को प्राप्त होता है।

ये लाभ ज भी विसे तो भी चिकित्सा फौटन पर अन्धम (Experience) से बढ़ता होता है। अतः चिकित्सा करने भी नियन्त्रण नहीं होती है।

चिकित्सा प्रयः विवेचन

दैवव्याप्राशय-युग्मित्याश्रय-मन्त्रात्मय चिकित्सा

आयुर्वेद मन्त्रानुजार दोषवैचार्य को दोष नगर दोषान्वय जो उत्तराय जहा गया है। यह दोष साध्य का अधिकार है—नीति रागीराज दोष, दो नदय दोष, नव यन्त्रज्ञ दोष विनाशों जीव साम्यावस्था अवर्द्धन नहीं करने की विवाकज्ञ मन्त्रान्वयना (Complete Homeostasis of all body humours)। आकर्ष सूकृत ने केवल दोष यन्त्र सम्बन्धीय आयुर्वेद का मूल लक्षण बताया है।

इस प्रकार चिकित्सा का मूल उत्तराय दोष में यन्त्र सम्बन्ध द्वारा एवं मन्त्रान्वयना प्राप्ति तथा इन्द्रियप्रक सूकृत अवस्था उत्तराय द्वारा कहता है। अतः मन्त्र चिकित्सा के नियुत तीन प्रमुख भेद हैं—

1. दैवव्याप्राशय चिकित्सा
2. युक्त व्याप्राशय चिकित्सा
3. सत्त्वात्मय चिकित्सा

1. दैवव्याप्राशय चिकित्सा—यूवनन्द्रकृत अनुभ कर्नों (देवकृत) के कारण उत्तराय दोगों (यथा—आयुर्वेद दन्ताद, बुद्ध प्रमेह, बलताङ्ग व्यादि) को भंग, भूमि, पंगलकर्म, वाति, डपहार, होन, नियन्, प्रायविक्ति, उच्चात्म, वेदों दर्क, तीर्थ गयन आदि विधियों से चिकित्सा की जाती है। इते ही दैवव्याप्राशय चिकित्सा कहा जाता है।

उत्तराय चिकित्सा करने से दोगों में आत्मविद्धात्, मन पर नियंत्रण करने की शक्ति एवं मनोवस्तु में घुण्ड होती है। दोगों का मनसिक उत्तराय कर होता है, मनोगत्तानि हूर होती है तथा पापकानों का नाश होता है।

सामान्यता: सभी दोगों ने दैवव्याप्राशय चिकित्सा की जाती है। इस चिकित्सा में नियम (रोग-संतोष-एवं-स्वाध्याद-इच्छागतियान) का पालन करना आवश्यक है।

1. हाग्गद्वाः इच्छावै उत्तरायः इच्छाः।
कर्माभासः इच्छाभीष्मित्याप्ति विवाक विवरणः। (अ.त्र. 5. 52/94)
2. रागादेषः सापाद्वयाद्वयः।
आवाप्तिक्षयाद्वयः इच्छावै उत्तरायः। (क. ३. 15/41)
3. विवाकपैद्यादेषः इच्छावै उत्तरायः।
विवाकपैद्यादेषः इच्छावै उत्तरायः। (क. ३. 12/54)
4. तत्र दैवव्याप्राशय विवाकपैद्यादेषः इच्छावै उत्तरायः।
तत्र दैवव्याप्राशय विवाकपैद्यादेषः इच्छावै उत्तरायः। (क. ३. 12/54)

आत्मर्थ द्वारा ने यह (अहिंसा-सत्य-आत्मेत-द्वात्मर्थ-अपरिहार) का भी पालन किया है। पूर्ववर्णन कर्मों जो दैव कर्म कहते हैं। अतः पूर्ण जन्म एवं दूष-अदूष के समान के लिए दैवकर्माद्वय चिकित्सा शी जली है।

आपार्व दुक्तिगुत्तर फलायत प्रयुक्त ये दैवतह प्रयुक्त योगों सी परिकल्पना देवताओं
चिकित्सा है। देव-दल-यम-यात्-आत्म-नियत-अंभावार आदि कलणों से जो अ-
पन वद्ध लाद देन ये दस्तग उत्पत्त होते हैं उन्हें कलायत प्रयुक्त योग कहा जाता।
स्वास्थ्य उत्तर ने इन्हें को परिचयदन्त्य देग कहा है।

आधुनिक चारक ने इन दोनों को जनप्रौद्योगिकी नाम से संयोगित किया है। इन्हें आधुनिक चारक में भारक रोग या Epidemics कहते हैं।

दैवकल्पनाएँ देखें, गुरुओं, सिद्धों एवं प्राह्लादों का द्वारा या अपमान करने से हात न होते हैं। इन दोषों में जद, चक्षा, मसूरिका, प्रतिरथाय, कुष्ठ, उन्माद, अपमान, प्रहृष्टाया आदि शुद्ध हैं।

२. योग्यता विकास

यह औपच दृष्टि नायक द्रष्टव्यों पर आधारित मुक्तिचूर्वक की गयी चिकित्सा है। मुक्ति द्वरा इन दिविकालों में बहार, औपच, चूर्ण, चटी, रस, भस्म आदि कर्मों की गोला (चुट्ट) देह-फल-दंड-दूष-प्रकृति-वय-सात्य-संहनन आदि का विचार कर को लट्टा है। यह चिकित्सा द्राघः दोषज स्रोतों में ही की जाती है। आधार्य चरक ने स्पष्ट किया है कि शरीरीक दंड एवं दोष दैवशक्तिकाव्रय य युक्ति अव्याक्रम औपच से शान्त होते हैं। चुट्ट अव्याक्रम चिकित्सा के लिए बहुत भेद वर्षित हैं—

- (I) अन्तः परिमार्दन चिकित्सा
 (II) अंतः परिमार्दन चिकित्सा
 (III) अन्तःपरिमार्दन चिकित्सा

(1) वनः परियार्थन विकल्पा

जी अपना गोरा के अन्तःकान में (सदाचारेद) में पूर्ण होकर पूर्ण लड़ाक मेवन से डाकते थे तो वह कहती है कि यह अन्तःकान विश्वास दिलचस्प कहते हैं। इनमें बनने विश्वास दिलचस्प कर्म पूर्ण दीक्षा-यात्रा अवधि संतुलन कर्म समर्पित होते हैं।

(ii) यहाँ परिमार्जन विकल्प

जो औपचार्य का अवश्य सेवक होते जो दूर करनी है उनसे यह: परिमाणन
सिद्धिकाला कहते हैं। ऐसे—अभ्यास, स्वेच्छ, प्रयत्न, परिश्रेष्ठ, उत्तमदं ज्ञान।

(III) दास्ताव्रणिधान चिकित्सा^१

इस चिकित्सा के अन्तर्गत योग नियमणार्थ हॉटेस्ट, बेस्ट, सेंट्रल और अह चिप
प्रक्रियाएँ प्रयोग-आगि-जॉडीकावयवन आदि कर्म सम्बन्धित होती हैं।

आजमें चाक ने विद्यालय में विद्युत के दृष्टि से प्रैट एंजीन बनाये हैं, यहा-

(c) दस्तावेज़ विकल्प

(c) अवधारणा

(४) अस्याद्युपरिका

इस विकल्प में द्रव्यों के प्रयोग से घनता, विरेन्द्र, दीर्घन, चाचन आदि कर्मों के माध्यम से चिकित्सा की जाती है। इसकी द्रव्यों में गुण, द्रव्याच, संस्कार, चाचन आदि का संबंधित सम्बन्ध निर्धारण किया जाकर पूर्ण पूर्वक प्रयोग किया जाता है।

(अ) अड्डाभूत चिकित्सा (उपायाभिवृत्ता चिकित्सा)

विभिन्न उपायों द्वारा विना इन्हों के प्रयोग से जो चिकित्सा को जड़ती है उसे अद्यत्पूर्ण चिकित्सा या उपायाभिज्ञता चिकित्सा कहा जाता है। इनमें किसी द्रव्य का साक्षात् प्रयोग नहीं किया जाता है। जैसे- धूम दिलाना, विस्तारन (आधार्य मुक्त कर देना), विस्मरण (जिस घटा को रोगी घार-घार स्थल ब्रह्म योग्यत्वे होता हो उसे पुला देना), खोभाल, हर्षण, भर्तना (निन्दा करना), धूप (मारने को धमकी देना) बचन (चांपना), रसन (निद्रा सेवन), गंभीरन (पैर इकाना) आदि अन्यून फ़िकाऊओं को उपाय बनाता है। यह चिकित्सा उमाना अस्पताल, सन्काश आदि रोगों में प्रयोगाधीय है।

- | | | |
|----|--|---------------|
| 1. | गारावः चीत्ताहैं पदनः हास्यमुद्दिश्यते विषयमानवाक्याप्येत् इतर्विदैः । | (च.पि. 11/55) |
| 2. | पत्तुर्विदैः प्रस्तुप्रकाश्यामुद्देशं प्रदेव-प्रतिवेदोन्मादावाक्याप्येत् इतर्विदैः चीत्ताहैं । (च.पि. 11/55) | |
| 3. | गारावान्ताः कुरुते उल्लेखनं पौत्रवाच्यवाक्याप्येत् विषयमानवाक्याप्येत् इतर्विदैः । (च.पि. 11/55) | |
| 4. | दूषकां भेदवाच्यपूर्वान्तर्विदैः प्रस्तुप्राप्तं अस्यामप्याप्येत् ॥ | (च.पि. 8/37) |
| 5. | सापु द्रव्यापूर्वं बहुवाच्यान्तर्विदैः । | |
| | गारावान्ते परोपा इत्येवं प्रस्तुतेऽनुभोगं सुनाविते ॥ | (च.पि. 8/37) |
| 6. | करु द्रव्यापूर्वं बहुवाच्यान्तर्विदैः । | |
| | उत्तरे ततो द्वाराविष्यतान्तर्विदैः इति ॥ | (च.पि. 8/37) |

३. सत्त्वाजय चिकित्सा

अहंतकर भूमि की अभिलाषा से मन को हटाना मनोनिग्रह है और यह असुख चिकित्सा कहलाती है। इसकी प्राप्ति आध्यात्मिक ज्ञान, दर्शन तथा ध्यान से होती है। मानस द्वारा का प्रधान हेतु 'प्रद्वन्द्वारा' है। धौ-धृति-सूक्ष्मि के विप्रभाव के उभाव में व्याकुण हाथ किये गये बन्हन ही इस का अवश्यक है। अतः सत्त्वाजय चिकित्सा में अन्य धौ-धृति-सूक्ष्मि को सामान्यावस्था में ताने का प्रयास किया जाता है। यदि किसी भूमि को कठन-ब्रौप-भष-हृष्ट-ईम्प-हैप-लोभ आदि भावों के कारण मानस रोग उत्पन्न होता है तो विपरीत मानस भावों (Replacement of Emotions) को उत्पन्न करके होता है यह किया जाता है। जैसे-काम को क्रोध से एवं क्रोध को काम से परस्पर प्रतिरुद्ध (हृष्ट चिकित्सा) होता रात्रि किया जाता है।

मनोनिग्रह के लिये अष्टाङ्ग दोग चाय-यम-नियम-आसन-ग्राणायाम-प्रत्यय, पात्रा-ध्यान-स्त्रीय का भी प्रयोग किया जाता है।

ज्ञानिकों चिकित्सा-साक्षिकों चिकित्सा एवं आचार रसायन आदि भौतिकता के अन्वर्गत साम्बन्धित किये जाते हैं।

आचार्य चरक ने निर्दिष्ट किया है कि मानस रोग ज्ञान, विज्ञान, धैर्य, स्मृति और ज्ञान-होते हैं। मानस द्वारा उत्पन्न होने पर धर्म, अर्थ एवं काम, इन तीनों विचार पूर्वक तन्त्रज्ञ पालन करना चाहिये। आज्ञ ज्ञान, देशज्ञान, कुलज्ञान, कालज्ञान तथा व्यापी रूपों द्वारा ज्ञान सर्वदा रखना चाहिये।

प्रज्ञपत्रियों का चरित्रण, इन्द्रियों को वश में रखना, स्मृति जागृत रखना, देश-केन्द्र तथा आध्यात्म ज्ञान का चिन्तन करना, सद्बृत य सदाचार का पालन करना एवं आम पुरुष के उपदेशों के जावना आदि ये सभी उपाय आगनुक रोगों के उत्पन्न न होने देने का बाबा हैं। उद्धिकान व्याकुण को रोगोंपति होने से पूर्व ही ऐसे कार्य करने चाहिये जिससे आगे हित चिढ़ हो सके।

यन-व्यष्ट-काय से चापमय, चुप्पालधोर, कलहप्रिय, मर्मभेदी उपहास करने वाले, लोपी, दूसरे को छन्दित महन न कर सकने वाले, शठी (धूर्त), दूसरे को निन्दा करने में

1. एसायन-प्रुद्विनीपैदः दोषो मार्गितः ॥ (प.सू. 11/54)
2. कर्मसोक्षमस्त्रोक्षमेवाभ्यन्तः ॥
3. एसायन-प्रुद्विनीपैदः दोषो च ॥ (प.सू. 9/56)
4. मानसो ज्ञानीकारपैदः मूर्तिलक्ष्मीपैदः ॥ (प.सू. 11/55)
5. तद्विद्यारोग विद्यव्यवस्थादेवो च सर्वतः ॥ (प.सू. 11/57)
6. त्यागः विद्यव्यवस्थः ॥ (प.सू. 7/53-54)

ही तत्त्व, चंचल, अर्थात् रात्रि जीवों में बन्धन, दक्षतात तथा अपने धर्म वो छोड़ देने वाले अपर्याप्त मनुष्यों का मात्र नहीं करना चाहिये।

जो मुख्य गूढ़ि, विद्या, ज्ञानग्रन्थ, गोल, शैल, व्याघ्रगांडि और यमायि में श्रेष्ठ, यूक्तज्ञों की भेदों करने वाले, दूसरे के स्वधारन यों जानने वाले, गोरीगंक व मनसिक दुःखों से रहता या शोक रहता, न्यूनतम् वाय, जान देने, जो जहांते ही उत्तरा अध्यात्म पालन करते हों, प्राणिमार वो अचेत मानों का उत्तरांश फैलाते ही और विद्यको गाया न्यूनते में तथा जिनका दर्शन करने से पुनर्ज्ञान होता हो, ऐसे भजानुष्ठानों जा ज्ञाय करना चाहिये।

इससे मन एवं शरीर नियंत्रित होते हैं और मनुष्य मनसिक पर्याप्त गतिशील रूप में पूर्णतः स्वस्थ रहता है।

चिकित्सा के अन्य भेद

प्रत्येक रोग की मध्याति में दोष-दूष-स्नोतोदृष्टि-अर्हन-ज्ञेय आदि ओं विकृतियों होती है। अतः दोषों जा शोधन, दूष को बृद्धि या क्षय, स्नोत्तम् यो गूढ़ि, अर्हन का दोषन, ज्ञेय जीव आदि ये सभी उत्तरांश विषयत्व में अंतर्भूत होते हैं। दोषन, ज्ञेय की दोष प्रत्यक्षीक व्यायि प्रत्यनांक एवं उपय प्रत्यनोक अतः इसी दृष्टि से चिकित्सा की दोष प्रत्यक्षीक, व्यायि प्रत्यनांक एवं उपय प्रत्यनोक चिकित्सा के भेद से विभक्त किया जाता है जो निम्न प्रकार है—

1. दोष प्रत्यक्षीक चिकित्सा

जब प्रकृति सम-समवेत दोष-दूष सम्मूठन में दोष-दूष के गत्तव्योक्त प्राकृत लक्षणों को देखकर व्यायि शामनार्थ लद्दुरुप रस-गुण-वैर्य-विनाश पुल औपच इत्यों लक्षणों का प्रयोग किया जाय तो वह दोष प्रत्यक्षीक चिकित्सा कहलाती है। इस चिकित्सा के अन्तर्गत निम्न विन्दुओं का भी समावेश होता है—

1. निदान विवरण करना
2. दोषों का शोधन व समन करना
3. दूष का क्षय या बृद्धि कर सम अवस्था में लाना
4. रोग के अधिकार को ठीक करना
5. स्नोतोदृष्टि को दूर कर स्नोतोदृष्टि करना
6. दोषन-पाचन चिकित्सा हुआ अर्हन को समावस्था में लाना
7. पद्धतिकालों के प्रत्येक काल में को जाने वाली चिकित्सा का सुधि पूर्वक प्रयोग करना

1. चापनुग्रहणः रसाय: सूचकः गत्तव्याया। मर्योद्वारिवेदुत्तमः गत्तव्याया ॥ (प.सू. 7/56-57)
2. मुर्दि विद्यायः सौत्तेष्वैवामृतालक्ष्मीपैदः। मुद्वेषपैदिनो वृद्धः स्वप्नवज्ञा गत्तव्याया ॥ मुमुक्षुः सर्वप्राप्तानो प्राप्तानाः सौत्तेष्वैवामृतालक्ष्मीपैदः। गत्तव्यः गत्तव्याया ॥ पुष्टिव्यायामृतालक्ष्मीपैदः। गत्तव्यः गत्तव्याया ॥ (प.सू. 7/58-60)

8. हेतु विपरीत विकितसा फरना
 9. मानात्मक विकारों परी विकितसा फरना
 10. स्वाधि प्रत्यवीक विकितसा

जब विकृतिसम सम्बोध दोष-दूष सामूहिका में दोष-दूष दोनों से भिन्न होता है (विचित्र संधर) उत्तम होते हैं जब व्यापिग्रालीक विकितस यादी जाती है। इन विकितस के अनार्गत भिन्न बिन्दुओं का भी समावेश होता है—

१. दैवत्यचाक्रय चिकित्सा
 २. सत्यावद्य चिकित्सा
 ३. अदृश्य भूत चिकित्सा
 ४. शत्य (आमुरी) चिकित्सा
 ५. रस-भस्म-आसव-अरिट ह्वारा की जाने वाली संशमन चिकित्सा
 ६. झग्चार्य चारक ह्वारा वर्णित पचास महाकथाय ह्वारा की जाने वाली चिकित्सा
यथा-ज्वरन्, ज्वासन्, श्वासन् महाकथाय प्रयोग
 ७. प्रकृत्य से कर्म करने वाली औपर्यथायां यथा-कूमिज रोग में विहंग, कुञ्ज वे
खदिर, प्रमेह में हहिंडा आदि का प्रयोग

III. ठप्य प्रत्यनीक चिकित्सा

‘बव ठम्पुड देनों प्रकार को चिकित्सा को व्याधि शमनार्थ प्रिंति रूप में प्रयुक्त करते हैं तब उसे दृष्ट्यानंक चिकित्सा कहते हैं।

ठपक्रम : दोषों के ठपक्रम, द्विविध एवं पठविध ठपक्रम
दोषों के विविध ठपक्रम

शारीरिक व्याधियां यात्, पितृ एवं कफ दोष के वैयम्य से तथा मानसिक व्याधियां रुद् एवं तन दोष के वैयम्य से उत्पन्न होती हैं। अतः इन द्विविध दोषों के वैयम्य को दूर का इहें साम्यावस्था में लाना हो चिकित्सा है।

विषय स्वरीतिक दोषों के शामनार्थ क्रमशः बस्ति, विरेचन य वर्मन कर्म तथा तैद, पृथ य मधु का दुक्ति पूर्वक प्रयोग उल्लृप्त औरप है। विकृत मानस दोषों की चिकित्सा के लिये जान, विदान, धैर्य स्मृति एवं समाप्ति उपाय उपलब्ध हैं।

यिपम एवं यिकृत दोनों को साम्यावस्था में लाने के लिए यिभिज आचार्यों ने प्रिय-
भित्र उपक्रम बताये हैं जो निम्न प्रकार हैं—

1. "प्रायकर्त्तव्यः पूर्वे देवतुमन्तव्यः । मातृगो शनीविहारयैस्तुलिपामितिः ॥"
 2. "गायत्रयन् दंतवास्त्रादेव देवतीवप्य् । चलिपिरप्यैषमन् लक्ष हृते पूर्णे मप् ॥" (प.ग. 155) (म.प. 175)

- I. विषयां यात् दोष के उपक्रम

 - (i) गोधनार्थी—वंदन, संदेन, मृदु गंगोग्न, निशह अस्ति, ब्रह्मगमन अस्ति, हिंसा-कर्ता चांग, भाज चांग, वस्त्रहरण, 'प्राप्ति, गिरेकर्त्ता, गंगारु आदि कर्म।
 - (ii) शमनार्थी—अधार, उचाईव, संयज्ञ, पर्दन, वेदन, उत्पादन, उत्पत्ति, कुण्ड-परिपेक आदि कर्म।
 - (iii) आहार धूम औषधि—मधु-उपल, लवदू-चिकित्स के उत्तम वर्णार्थ युक्त आहार, दीपानीय-पाचनीय-यात् गामक आहार, खोड़दक, घटगत, दून या चाल्य वर्णार्थ, मेष्य इत्य, मांस रसा, तील, गोभूष, नक्कल, यज्ञ आदि आहार के औषध युक्त उत्तम वर्णार्थ या मेष्य।
 - (iv) विहार—आत्मविषयन, उत्तम जलावाहारन, उत्तम, सूक्ष्मवर्ण, विष्मारण, विस्मारण, द्वेषन व्युत्पन्न चालन आदि उत्तम।

उपर्युक्त समस्त उपकरणों में विकृत जल द्वारा गमनवश आवश्यकता ये लक्ष्यग्रहण घटना कर्म सार्वोत्तम है। फॉर्मॉल इम्पेक्ट प्रोडोग से श्रीवर्ष दृष्ट्य ये द्वारा जल द्वारा के व्याप्ति वर्णनवश में पहुँच कर सम्पूर्ण वातिलियाएँ यों टॉटक इम्पेक्ट ड्रेसल जल के विवरणोंतर तक देखे हुए विस्त प्रकार वर्णनस्थिति के भूलौच्छेद से उपकरण क्षमत्य, प्रयोग, रखाजा, उत्पत्त्या, तुलना, रक्षण, रक्षणद का विविध रूप से विवरित हो जाता है।

II. विषम पित्त दोष के उपक्रम

- (i) शोधनार्थ—सोहन, विरेचन, रक्तमोक्षन आदि करने।
 - (ii) शमनार्थ—प्रदेह, परिवेक, अम्बुज आदि करने।
 - (iii) आहार एवं औषध—यजुर्-तित्सु-कथा, विद्युत इत्यादि से तित्सु जूँड़ों का नियन्त्रण, खोरापान, शीतल-हृदा-सुगांधित आहार, जड़बूत मांस रस, रक्तता, शिखरिणी, व, चन्दन आदि युक्त पेय पदार्थों का संकेतन।
 - (iv) विहार—शीतल, नरोऽनुकूल विहार, प्रदेह, परिवेक, मुक्तामणि धारण, ल पवन, छापा, भूगूण, घोंडनों गत, जलाशय, उच्चार, नमूद्र-गृह्ण संपर्क, सुगांधित र, श्वेताशार संम्पर्क, कार्यवद्यन्दन सेप, मदोऽनुकूली गौत-वाय पन्थ, विनों का संपोग, काल (शस्त्र रुग्ण) आदि।

उपुर्युक्त सभी उपक्रमों में विषय रिप दोष शमनार्थ 'विरेचन कर्म' प्रभानुष्ठय कर्म है, क्योंकि यह विष फे प्रश्नन स्थान (अधे आनातम व प्राह्णो) में पहुँचकर सम्बूद्ध पिण्ड विषार्थे का समल विक्रोद्धन करता है।

- | | | |
|----|---|-----------------|
| 1. | (i) ने गंगापुरिकारातीलपैदीलक्षणी सोयोदेशवरक्षुकारां..... विचारकरू। | (प.प्र. 23/13) |
| | (ii) पातालोरमाळे सोऽः सोऽः सोयोदेशवरक्षुकारां..... | |
| | साद्विष्णवातीलपैदीलक्षणी विचारकरू। | (अ.इ.ग. 13/1-3) |
| 2. | (i) ने गंगापुरिकारातीलपैदीलक्षणी..... कैरलीगांडे सोयोदेशवरक्षुकारां..... | (प.प्र. 20/16) |
| | (ii) विचारकरू। विचारकरू।..... सोयोदेशवरक्षुकारां..... | (प.प्र. 6/17) |
| | (iii) विचार कर्त्ता: चांग गंगापुरिकारातीलपैदीलक्षणी गंगापुरिकारातीलपैदीलक्षणी | |
| | सुगंगापुरिकारातीलपैदीलक्षणी पातालोरमाळे विचारकरू। | |

काय-चिकित्सा

III. विषम स्तेप्ता दोष के उपक्रम^१

(I) शोधनार्थ—स्वेदन, तीक्ष्णोण संशोधन यथा-यमन, विरेपन, निरोधन, पूर्वान, गण्डूच कर्म आदि।

(II) शमनार्थ—खोन-दूल्हन, उत्सादन, उत्साह, उष्ण रुग्ण, रुक्ष उद्धार आदि।

(III) आहार एवं औषध—कटु-तिष्ठ-कवाय रुग्ण प्रधान, तीक्ष्ण-उल्ल-धू-आहार व औषध प्रब्ल, मेदोप्र उपचार आदि।

(IV) विहार—विषम स्तेप्ता के कारण उत्साह दोष की स्थिति एवं विकारों में ऐसे व्यायाम, बलाचाराह (Swimming), चंडमण, निशुद्ध, स्त्रीरोग्यन, उपरात (लैस), रात्रि जागरण, कूरकनों का सेवन, विळा वारन, उष्ण स्थान निवास एवं वसन स्त्रृजन पालन से आशुकृत लाभ लिला है।

उपर्युक्त तत्त्वों उपक्रमों में विषम स्तेप्ता दोष शमनार्थ 'यमन' कर्म वैदिकम्, क्योंकि यह स्तेप्ता के दोष के प्रधान स्थान उर्ध्व आमाशय एवं डर्ड प्रदेश में स्थित कह को स्थापित कर देता है। इस स्तेप्ता के शरीर से बाहर निकल जाने से सभी स्तेप्ता विकार उसी प्रकार शान्त हो जाते हैं जिस प्रकार खोता के थाँथ (फेदार सेतु) के दूर जले पर शाल-यम-पांडक आदि पानी न विलने से सूख जाते हैं।

IV. विषम दूदून व सत्रिपातन दोषों के उपक्रम

दूषक-दूषक दोषों के जो अलग-अलग उपक्रम बताये गये हैं वे ही संतर्गव (हन्द) तथा सत्रिपातन (विदेष) विकारों में संयुक्त रूप से प्रयोग किये जाते हैं यथा—

(1) दूषित वात-वित्त विकारों में वात तथा पित्त के संयुक्त उपक्रम करने चाहिये तथा प्राप्त श्रीम शत्रुघ्नी में इह गये आहार-विकारों का सेवन करना हितकारी है।

(2) दूषित वात-कफ विकारों में वात तथा कफ दोष शमनार्थ बताये गये अलग-अलग उपक्रमों को संयुक्त कर प्रदूषक करना चाहिये एवं असन्त शत्रुघ्नी में इह गये आहार-विकारों का सेवन व पालन करना चाहिये।

(3) दूषित वित्तकरण विकारों में पित्त तथा कफ के दोष शमनार्थ वर्णित संयुक्त उपक्रम एवं असन्त शत्रुघ्नी का सहान करना चाहिये।

(4) दूषित वात-वित्त-कफ दोष के विदेष विकारों की शान्ति के लिए तीनों दोषों के शमनार्थ वर्णित संयुक्त उपक्रम प्रयुक्त करने चाहिये।

यहां इस तथ्य का ध्यान रखना आवश्यक है कि 'वात दोष' या 'वातु' योग्याहो के

1. १ वै बद्धुत्तिक्षमतां इत्येवं ॥..... श्लोकमात्रावै रद्धादिति ॥ (ग.ग. 20/19)
2. तत्त्वनायकर्म-विविष्टकृति ॥..... गुरुविष्टवै सूक्ष्माविष्टति ॥ (ग.वि. 6/19)
3. इत्यस्त्राविष्टवै विविष्टवै विविष्टवै । श्लोकमात्रावै ब्रह्माविष्टवै ॥ (ग.वि. 6/19)
4. उपक्रम-उपक्रम-प्रयुक्तिर वर्णितः । गांगारोगविष्टवै विविष्टवै ॥ (ग.इ. 15/13)

काय-चिकित्सा विवेचन

हम में स्तेप्ता काना है अर्थात् यह उत्साह व अनुकूल हो जाता है।

दोषों के उपक्रम का विवित काल

स्त्रीप्रथम पूर्णिमा दोषों की उत्तरांश विषयक (Incubation Period) में ही जीवने वाले प्रथम वातान चाहिये, विविक्त दूसरे दोषों के जीवन विषय में उत्तरांश विषय अवस्थाओं (प्रकार-प्रभाव-स्वतन्त्रता-विवर-भेदभावम्) उपक्रम हो जाती है। उत्तरांश विषयाओं के ग्राम हो जाने पर दोष उत्साह हो जाते हैं एवं दूसरे में संवेदन कर सम्भवतीयों के छाता सम्भाली विवित कर देते हैं। अतः संवेदन विषय में दोषों जो जीवित हो उपक्रम विषय विवित दोषों का प्रवर्द्धन पर्यावरण हो रहा हो जो विवित दोषों जो जीवित हो उपक्रम विषय में दोषों का विवित हो जाते हैं।

प्रकुपित वात दोष का वर्ण श्लृष्टि में निम्न दोष जा रहा श्लृष्टि में एवं जल दोष वा वसन्त श्लृष्टि में विविट विवित उपक्रमों द्वारा उत्तरांश विषय में उत्तरांश विषय का उपक्रम कर सकता है।

आदर्श चिकित्सा

जित चिकित्सा का प्रयोग एक रोग को शान्त करने के लिये दूसरे दोषों को उत्तरांश कर, यह तुदू व आदर्श चिकित्सा नहीं है। आदर्श व तुदू चिकित्सा वह है जो एक रोग को शान्त करे और किती अन्य रोग या दोष को कुरीयत व करे।

द्विविध उपक्रम

आचार्य याभट ने चिकित्सा के उपक्रमों पर निम्न दो विभागों में विभक्त किया है—

1. अपतर्पण चिकित्सा

2. संतर्पण चिकित्सा

अपतर्पण जो ही लंबन चिकित्सा एवं संतर्पण वा युद्ध चिकित्सा कहा जाता है। संतर्पण चाव्य रोगों व आम दोष (पित्त, कफ रोग व साम विवर) जीवित विकारों में अपतर्पण (लंबन) चिकित्सा को जाता है। इसके प्रयोग अचर्वन जन्य रोगों व निराम, घातज रोगों की चिकित्सा संतर्पण चाव्य होती है। पित्त व कफ दोष दूष दोष (भातु) होने से अपतर्पण सहन करने योग्य होते हैं एवं शत्रुघ्नी यात्र सदा संतर्पण चाव्य ही है। आचार्य चरक

1. दृष्टः प्रयोग विविते वातानः । उत्तरांश दोषों विविते वातानः ॥ (ग.इ. 13/14)
2. ॥ संग्रहेऽप्यात्मा दोषों स्थाने वेत्तानोः । ३ शत्रुघ्नी तुदू भवति वसन्तानः ॥ (ग.ग. 13/37)
3. ५ चप दूष विविष्टवै ब्रह्माविष्टवै । इति विविष्टवै । श्लोकमात्रावै ब्रह्माविष्टवै ॥ (ग.वि. 6/15)
4. प्रयोगः वसन्तेष्टवै विविष्टवै । वसन्तेष्टवै । श्लोकमात्रावै ब्रह्माविष्टवै ॥ (ग.वि. 8/23)
5. उपक्रमावै द्विलार्द्विविष्टवै विविष्टवै । इति उपक्रमावै द्विलार्द्विविष्टवै ॥ (ग.इ. 14/1)
6. वातिती द्विलार्द्विविष्टवै विविष्टवै । असन्त शत्रुघ्नीविविष्टवै ॥ (ग.इ. निं. 14/4)

काय-चिकित्सा

ने इन द्विविध उपक्रमों को निम्न पद्धतिपूर्ण उपक्रमों में विभागित किया है—

- | | | |
|----------|-----------|------------|
| 1. स्थृत | 2. बृहं | 3. रुग्ण |
| 4. स्नेह | 5. स्वेदन | 6. स्तम्भन |

इन पद्धतिपूर्ण उपक्रमों में से हाँसन-रुग्ण-स्वेदन "अपतर्पण चिकित्सा" के अंतर्गत समाहित होते हैं जो नीचे दृष्टि और दृष्टि व स्नेह के स्तर पर निम्न रूप से कार्य करते हैं—

कार्य का स्तर	अपतर्पण चिकित्सा	संतर्पण चिकित्सा
दृष्टि	रुग्ण	स्नेह
दृष्टि	लंबन	बृहं
स्नेह	स्वेदन	स्तम्भन

अपतर्पण उपक्रम—अपतर्पण चिकित्सा के अंतर्गत प्रथम व महत्वपूर्ण 'लंबन' चिकित्सा का समावेश होता है। जो आहार-विहार औषध शरीर में लघुता व हल्काम डाल करे वह लंबन है। यह उपक्रम इमेह, कुह, ऊर, पाण्डु, कण्ठ, क्षीर, अतिस्थौल आदि संठर्पणेत्र व्याधियों में विशेष लाभकारी है। आवार्य चरक ने लंबन के नियम उपक्रम बताये हैं—

1. चन्द
2. विरेचन
3. शिरो विरेचन (नस्व कर्म)
4. निरह बोल (रस बोल)
5. दिचात्त
6. मालू चेवन
7. आत्रप सेवन
8. पाचन औषध द्रव्य
9. उपक्रम
10. स्वास्थ्य।

शरीर में स्वन विकाये (आम-कफ व आप चित्तज रोगों में) लंबन चिकित्सा करना अनिवार्य है। यिस व्याधि के शरीर में कफ, पितृ, रक्त व मल वायु से युक्त हों, विनक शरीर पड़ा हो और जो व्याधि बदलकर हो उसे संशोधन (याम-विरेचन-शिरोविरेचन-निरह व्याधि) के द्वारा संपन्न करवें। अपतर्पण (लंबन) चिकित्सा का विस्तृत वर्णन

1. स्थृतं बृहं वाये शरीर द्वारा तथा। इवेदेव स्तम्भन करने वाये विषहृ॥ (प.ग. 22/4)
2. "गुणात्मा शोषितः विषव वायनात्। वायन-नुग्रामाद्य व्यायाम विषहृ॥" (प.ग. 22/16)
3. "कृष्ण-भूषणविषाक्ताः संस्कृताः। वृषभं वाये लघुरोप विषहृदिः॥" (प.ग. 22/19)

काय विधिक्तिता विवेचन

पद्धतिपूर्ण उपक्रमों के अन्तर्गत द्वितीय गता है। प्रायः गृहु उच्च, गीर्घा, विशद रुक्ष, मृद्द, रुदा, गार पर्यं वर्तित गृहु प्रथाल इत्यन्य अपतर्पण होते हैं।

संतर्पण उपक्रम—सामान्यतया इमे 'बृहं' भी कहा जाता है और इसका प्रयोग मुख्यतः याम रोगों के व्यापर्याप्त विद्या जाता है। अन्दरीन में जल झोलने में लगाता वह जाती है, खोलांग वाली जाती है तब देह-अर्थात्-जल-वर्ण-झूर-मृद्द-मृद्दन का क्षय हो जाता है और पार्श्वगूरु, अंतर्वक्त, उम्माद, उम्मात, हठज्ञना इत्यादि गोप उपक्रम हो जाते हैं। डास अथवा में बृहं-स्नेह-स्तम्भन प्रथाल संतर्पण उपक्रमों का उपयोग विद्या जाता है। संतर्पण द्रव्य पृष्ठों व जल महापूर्व प्रथाल होते हैं। संतर्पण चिकित्सा निष्ठा द्वारा प्रकार से सम्मादित की जा सकती है—

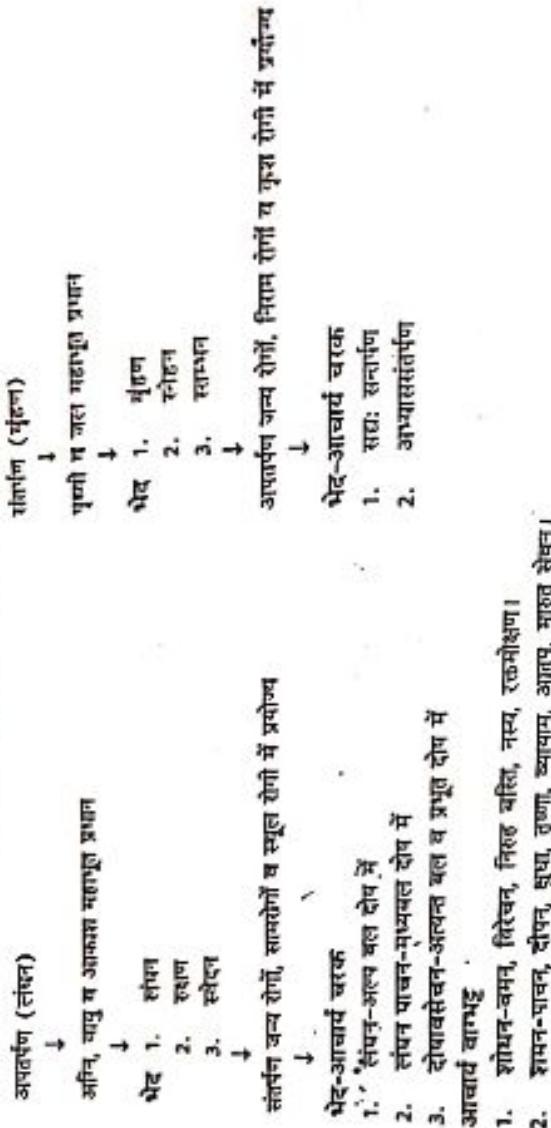
1. सद्य संतर्पण—तत्काल शरीर द्वारा भावुओं को नुन करने वाले इत्य एवं भावुओं को नुन करने वाले द्रव्य एवं भाव। तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति रोक, चिनाय, आचार, न्यूनम, अपितृ ऐदल चलाने आदि कारणों से शोषण होता है उसके लिये सद्य अंतर्वक्त वरने वाली औपचार्यिणी जैसी द्राक्षा, ऊर्जूर, पूर्णपक (फलात्त), बृक्षान्त, दार्ढिन अंतर्वक्त वरना अपेक्षित है। सद्यः संतर्पण व्यस्तियों के प्रयोग से भी भावुओं नुन होते हैं। यदनु जी व्यक्ति शरीर-शरीर भावुओं के शोषण होने से अधिक दिनों में शोषण हुआ ही उसके लिये संतर्पण का प्रयोग कुछ दिन लागता (अभ्यास संतर्पण) करना चाहता है क्योंकि उसको शारीरोक धातुयें शुग्न एवं धोष हो जाती हैं, अतः अल्प दिन संतर्पण से लाभ नहीं हो सकता है। इसके लिये प्रायः क्षीर, मांस रस, धूत, अभ्यंग, उनुवासन बलित व सत्रु वा उपक्रम फरते हैं। प्रायः गृहु, जाति, मृदु, स्त्रिय, स्त्यूल, स्त्रिय, चित्तज्ञ एवं रसायन गृहु बृहं व संतर्पणकारक होते हैं।

द्विविध-उपक्रम

द्विविध उपक्रम (अपतर्पण व संतर्पण) के अन्तर्गत ही द्विविध उपक्रम समाहित हैं। स्थृत गोपी व साम रोगों (संतर्पण व्यवहारों) में 'अपतर्पण' एवं कृष्णरोगों व निराम रोगों (अपतर्पण व्यवहारों) में 'संतर्पण' उपक्रम विद्यित हैं। आवार्य चरक ने सूक्ष्म स्त्यान में निर्देश दिया है कि जो व्यक्ति लंबन-बृहं-रुग्ण-स्नेह-स्वेदन एवं स्तम्भन औपचार्यिणी का प्रयोग उपचित रूप से जानता हो उसे हो योग्य चिकित्सक (पिण्डक) कहा जाना चाहिये।

1. स्थृतं बृहं वाये शरीर द्वारा तथा। अंतिम वीर वायन वायनलत्तहृन् स्तम्भन्॥ (प.ग. 22/12)
2. गोपी संतर्पणं तर्ही वृत्तादवायामीर्थम्। वायनात्य सामर्य स्त्रावद्यानी वा विद्यितौ॥ (प.ग. 23/20)
3. गृहु गोपी वृष्टि विषव वायने म्यूराविषित्यन्तम्। गोपे वर्द्ध विषव वायन बृहं-बृहं-बृहं॥ (प.ग. 22/13)
4. संतर्पणं गृहु वायने वायने संतर्पणं तर्ही वायने वायने वायने वायने वायने वायने वायने वायने वायने वायने॥ (प.ग. 22/4)

द्विविध-पृथ्विध उपकरण प्रदर्शक तालिका



काय-विविधता

114

काय विविधता विवेचन

115

शद्विधि उपकरण के व्याप व उपयोगिता

शद्विधि उपकरणों में शैवों गत्या गुणों की विविधता की छाड़ी है। इनका उपयोग मात्रा य वक्ता के अनुकूल ही चलता चाहिए।

जिस प्रकार शार्तादि दोष के गंगार्ण विवरण में 63 खेद या दो-दोष के खेद में अपर्याप्ति प्रकार होते हैं वहाँ यजुर-विन-कर इन विद्वानों की शैव मूला या अप्यासांतर्पण नहीं कर पाते, दूसी प्रकार विविधता भी विद्वान् वा ये इनका उपयोग की होती है, वहाँ वह विविधता इन प्राचीय उपकरणों का अनिवार्य बनती चलती है।

अपतर्याप्ति उपकरण

इसके अन्तर्गत लंघन-स्त्रव-स्त्रेचन जैसी का व्यापार देखता है, जो विष है—

1. लंघन—जो इव या उपकरण देह में लंघुल (स्त्रवान) उत्पन्न करे देह में होते हैं। अर्थात् 'लंघु' गुण यो वृद्धि में गतिशील दृष्टि लंघुल, स्त्रव दृष्टि सामग्री को दूर किया जाता है।

लंघनीय इव

जो इव लंघु, ठन, तीक्ष्ण, विशद, रुक्ष, मृद्य, चर, चर इति कठिन गुण दुर्द होते हैं ये प्रायः शरीर में लंघन (लंघुल) देखा करने वाले होते होते हैं। संघोन्न इनमें में जाकारा, वायु एवं अन्न महाभूत की प्रयोगता होती है।

लंघन के दो भेद

चार प्रकार यो संहुदि (देवा- यन्त्र, विशेषन, विश्वाविशेषन, विशेषविशेषन) विवरण, वायु सेवन, अल्प सेवन, चाचन और प्रयोग इव उपकरण, उपकरण एवं व्यापार। ये दो उपकरण के लंघन होते हैं। इनमें से यन्त्र, विशेषन, विश्वाविशेषन एवं चाचन में इनमें का साक्षात् प्रयोग किया जाता है, अतः इन्हें 'इवव्यवहार' लंघन कहा जाता है। विशेष (वृक्ष) रोकना, चालत (वायु) सेवन, अल्प (पूर्ण) सेवन, उपकरण एवं व्यापार ये दो विष 'आद्या रूप' लंघन कहे जाते हैं, क्योंकि इन पाँच लंघन के खेदों में किसी इव का प्रयोग नहीं किया जाता है।

चारक भूतानुसार लंघन—10 भेद

- | | |
|-----------------|-------------------|
| 1. यमन | 6. वायु सेवन |
| 2. विशेषन | 7. आलप सेवन |
| 3. निरह वस्त्रि | 8. चाचन और प्रयोग |

- | |
|---|
| 1. शैव उपर्याप्ति दोषः गत्युपकरण। स्त्रवान् योगी विद्वा वाक्यानुसारिः ३ (चम् 22/42) |
| 2. दोषात् वायुसेवनात् दोषोपले इवकरण। वायुं तु विशेषान्ते विन वाक्यो ददा ५ (चम् 22/43) |
| 3. भूतेविविद्यवाचक देह तत्त्वानुरूपम् ५ (चम् 22/9) |
| 4. लंघनात् लंघित्वा वृक्षं वायुं दात् वायुं। वायुन् पैत्र वायुन् वायुलत्तात्तुर्वन्म् ५ (चम् 22/12) |
| 5. "वायुप्रवापत्तुः विवरण व्यक्तादै। वायु वायुवायु व्यक्तव्यतीति सहृन् ५ (चम् 22/18) |

- | | |
|----------------------------|----------------|
| 4. शिरोविरेचन | 9. उपमास |
| 5. विपासा | 10. व्यायाम |
| वाराघट मतानुसार लेखन—2 भेद | |
| 1. शोधन-5 उपभेद | 2. शमन-7 उपभेद |
| i) वर्णन | i) पाचन |
| ii) विरेचन | ii) दौषन |
| iii) निह बल्ति | iii) सुधा |
| iv) शिरोविरेचन | iv) दृग्ग |
| v) रक्तमोहण | v) व्यायाम |
| | vi) आतप |
| | vii) मालत |

शोधन से लंगनीय प्रक्रम

विस व्यक्ति के शरीर में कफ, पिल, रक्त और मल अधिक मात्रा में हों तथा विनोद हाई में कफ, पिल, रक्त और मल वायु से युक्त हों, जिनका शरीर बड़ा हो और वलतम हो। इसे संखेपन के द्वारा लंघन कराना चाहिये।

पाचन से संपर्कीय प्रकृति

विद्युत्पूर्व के शरीर में कफ एवं पित्त के द्वारा उत्तप्त रोग मध्य बल बाले हों, वस्त्र अविकाश, इदमण्ड, निष्ठुरीका, अलसक तथा ज्वर से जो मनुष्य युक्त हों और विने विवर रोग हो, शरीर में गुरुता हो, डकार अधिक आती हों, जो मिचलाता हो अवेनक वर्षा से कृदृढ़ हों तो उन व्यक्तियों को सर्वांगीषय प्राचन द्वारा लंघन कराना चाहिए।

विन पुरुषों के शरीर में ठप्पर ग्रातारे हुये थे हो रोग अल्प बलवान हो तो पिपासा को रोकने और दृष्टिक्षमता को काटकर हँसने फालना चाहिये । बलवान व्यक्तियों के शरीर में रह जाएं भी योग 'मध्य बन' वाले डूबते हो जायें तो व्यायाम, आतप, मालत सेवन कागज सेवन करना चाहिये । यदि बहुतायत् व्यक्तियों ने अल्पवक्ष वाले रोग हो जायें तो व्यायाम, आतप, मालत सेवन से हँसने करायें ।

लैप्टप का यात्रा

तथा दोष युक्त व्यक्ति, प्रेषण, अविभिन्नपद व्यक्ति, अविभिन्नपद — दोषोन्मुक्त

- | | | |
|----|--|------------------------------|
| 1. | "गोली तारे देखि कुप तराही लाहून् । पट्टीयोहियोहोयू एम्बाया होयेन च पाण् ।
गिरावंदर बालावंदोऽसः । शारुक्षुः । १ गोलोऽपि पूर्वोयू लाहौदीतीकरणि ।
प्राप्तं देहं विनाम् ताम् ताम् ताम् । चाचन् दीक्षा शुभूत्युपायगत्यात् । | (ग.इ. 140-7)
(प.म. 22/29) |
| 2. | पूर्वोयू संवादं देहं देहं । शुभूत्युपायगत्यात् । | (प.म. 22/20-21) |
| 3. | पूर्वोयू देहं देहं । शुभूत्युपायगत्यात् । | (प.म. 22/21) |
| 4. | पूर्वोयू देहं देहं । शुभूत्युपायगत्यात् । | (प.म. 22/21) |

के दोस्री में कफ़ भास हो), अूल, बातारीहिल अर्नियों को शिक्षित उम्मी में ददा प्रकार' के संघन कराने चाहिये।

यातान गेंगों में संघन का निरैप किया गया है, क्लोक लंबन से बज दोप व्ही चुम्कि होती है। पर्द और कफ द्रव्य घानु हैं इमलिंग लंबन को महन कर लेने हैं घानु आपु लंबन को जिल्कुड भी नहीं गढ़ पाती है। यदि घानु में अवधारण का सम्बन्ध हो तो कुछ अंशों में अवधारण लोपयात्रन होने तक लंबन को सहन कर सकता है। तिरिल श्वेत में स्वभावतः शरीर में कफ वृद्ध होता है, यदि उस समय यात्र एंगों में या यत्र प्रवृत्ति भन्नाथों में लंबन कराया जाय तो हासि नहीं होती है।

सम्पर्क लंपन के लक्षण।

1. अपानवायु-मूर्ति-पुरीय का सम्पर्क लगा
 2. शहीर में सुनुगा का बुनियद
 3. हृदय, दृढ़गार, कष्ट, मुख तुल रोता
 4. सन्द्रा व क्षण (यक्षावट) नहीं होता
 5. स्वैद आना व भोवन में रुचि होता
 6. भूख व च्यास का एक साथ लगता
 7. आत्पा (जाहीर) में कोई कष्ट नहीं होता।

अति संपन्न के लक्षण

- पर्वथेद, अंगमर्द, कास, मुख रोष की उत्पत्ति
 - सूक्ष्मानाश
 - भोजन में असुचि
 - तृष्णाप्रिक्य
 - कर्ण (शोत्र) य नैत्र दुर्बलता
 - चित्र अस्थिरता
 - हिमका, रसास, जूम्हा को मुक्तःयुक्तः उत्पत्ति
 - चित्तविप्रेरणा
 - देह य अर्द्ध बल नाश

- एवं देवीवाच प्राप्तिकाले निर्वाचितविद्युतिवाचनः। तिनिंहै सहृदय सामरपि कालिकालिक्षण् ॥ (प्रथा 22/24)
 - कफरिते देवे पापा गोते सहृदये बहु ॥ मात्राप्राप्तवैष्णव पापार्था गोते सामरपि ॥ (पाठ्य अर्थ पि. 144)
 - वागापूर्वापाच विगाहे वातसपने ॥ हृष्टवैष्णवापाच गुह्ये कलाकासे गो ॥
स्वेदे जाहे कृषी पौधे वृक्षविशेषादेहो ॥ वृक्षे भृगुवृक्षदेहे निर्विचे चक्रामरपि ॥ (प्रथा 22/34-35)
 - चर्वेदोहु प्रमदेव वरातः ॥ गोते गुह्यामृतः ॥ वृक्षविशेषा ॥ वातिगृजा दीर्घसंखे होतेरप्तेः ॥
भगवान् गोतोहु पौधवृक्षामृते वातसामो हृद ॥ देवार्थि वत्तरहृद सहृदये लिङ्गुहे भवेत् ॥ (प्रथा 22/36-37)

का. पि. - ०

विहारी लंगन की चिकित्सा

इसमें शाही, मोस रस, कीर, गृत आदि वृहणीय द्रव्यों का प्रयोग करें।

संघर्षीय रौगि

गाम दोष, ज्वर, प्रेरण, पुस्त, रक्तसामा, विसर्प, विद्युति, प्लॉहदीग, शिर-फैल, गैर, अवृत्तीत्य, अतिगत्र, उदाष्ट, विसृचिता, अलसक, रस धातु गत समान विष, आपातप्य सामान रोग, छार्ट रोग एवं हेनना य शिरिर ग्रहण में लंघन कराना चाहिए।

ज्ञानुकिं भूत से संबंध में, जित्य होने वाले पारम्पराक (Metabolism) के फैली रूपी आहार द्रव्य (प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, यसा आदि) की प्राप्ति भौजन रूप में न होने वाले देहांतिन (फार्मिन-जर्जरामिन) काय में संवित अगावरणक द्रव्यों (आप-Autoxidants) वाल उपयोग करने लगती है। प्राकृतिक चिकित्सक भी लंबन (ठपवास) काल में भूजन उत्पन्नित विषों का नष्ट होना स्वीकार करते हैं। जिरसे मनुष्य स्वास्थ्य लाभ प्राप्त करते हैं और शरीर में रोग प्रतिरोधक क्षमता की वृद्धि होती है।

२. रास्ता

जो द्रव्य या उत्पाद शरीर में रक्षा या उत्पादन, सुनिदृश्यन और विशदता डाक्टर का है उन्हें 'एहस' कहते हैं।

काष्ठपीय दृष्ट्य^{3, 4}

जो इच्छा प्राप्ति: रुप, संसु, धर, तीक्ष्ण, उष्ण, विश्व, अधिक्षिल (विश्वाद) आपकिन गण युक्त होते हैं ये जीवों में रुक्षण बनने वाले होते हैं।

बटु-लिक-फायद रहा थाले द्रव्यों का सेवन, हसी (मैथुन) असंयम, सर्वप लक्षण विलगती, गत और गम् आदि द्रव्यों का सेवन शरीर परो सूख घनाना है।

अहम् अहम्

अधिष्ठन वाही रोग (सोलोरोध), मात्रादोष (मात्रा में अधिक दोष), मर्म स्पन्दन उत्सर्जन रोग, उत्सर्जन आदि रोगों में रुधण चिकित्सा की जाती है।

- | | | |
|----|---|----------------|
| १. | १) अनुदेश्य द्वारा नियमित वर्षान्ते विभिन्न विभागों द्वारा प्रदत्त।
२) साकारात् विभागों द्वारा सहृदयीकृत।
३) विभिन्न विभागों द्वारा अनुदेश्य द्वारा नियमित वर्षान्ते विभिन्न विभागों द्वारा प्रदत्त।
विभिन्न विभागों द्वारा सहृदयीकृत। | (प.सि. २०१) |
| | सहृदय वर्षान्ते विभिन्न विभागों द्वारा प्रदत्त। | (प.सि. २०२) |
| २. | विभिन्न विभागों द्वारा सहृदयीकृत। | (अ.स. ३४/१०-१) |
| ३. | सहृदय वर्षान्ते विभिन्न विभागों द्वारा प्रदत्त। | (प.सि. २११) |
| ४. | प्रयोग करने वाले विभिन्न विभागों द्वारा प्रदत्त। | (प.सि. ११५) |
| ५. | विभिन्न विभागों द्वारा सहृदयीकृत। | (प.सि. २१०) |

काय खिक्कन्पा खियेचव

साम्यक संक्षण य अनि संक्षण के लक्षण

पूर्व में यांगिंग प्रतिवाद के अंतर्गत "मध्यक संघर्ष" वा "अतिरिक्त संघर्ष" के बीच जो सशक्त बाधाएँ थीं हैं ये सभी सशक्त शक्ति के द्वारा या से पालन करने पर (संघक सुधार) और अधिक बाधा में संघर्ष करने पर (अतिरिक्त सशक्ति) भी उत्पन्न होते हैं।

अति रुक्षण यंत्री चिकित्सा

आति रुक्षण यो अवस्था में भोग्य चिकित्सा में शर्विन धून, तैल, बना, मज्जा प्रिक्षित पश्यप्राप्ति तकी पेटा, तिल-कम्फर्मलिक आदि फूल प्रयोग फैला चाहिए।

३४ स्यंदर्भ

यह उपक्रम अपतर्पण चिकित्सा का गृहीय या अंतिम खंड है। जो द्रव्य या उपाय शरीर की सामग्री या जटिलाहट, गौरवता या भारीपन एवं गतिशीलता को नष्ट करते हैं उन्हें उपक्रम कहते हैं।

सोहनीय दत्त

जो द्रव्य प्राप्तः उर्जा, भीक्षा, सर, सिनाप, रुख, सूखम्, द्रव, स्विर और मुख गुण प्रधान होते हैं ये द्रव्य स्थेटन कार्य करते हैं।

स्लोडन के भेद—स्लोडन के भेद अनेक हैं जिनमें स्वाक्षर है—

(1) प्रयोदश स्वेद (सागि स्वेद) ।— आवार्य चारक ने अग्नि के संयोग से उत्पन्न होनेवाले 13 स्वेदों का निष्ठानसार वर्णन किया है-

1. संकर स्थेद— वात-कफ जन्म रोगों में बातु, भूखी, तिल, उड़द, कुल्याची, अम्ल इत्यादि से पिण्ड (पोटाली) यानकर उससे स्थेद किया जाता है।

2. प्रसार स्वेद— इसमें पत्तर या शिला पर स्वेदनीय इव्व यिष्टाकर स्वेद किया जाता है।

3. नाड़ी स्वेद— एकांक रोगों में नलों के हारा भाप निकालकर स्वेद किया जाता है।

4. परिपेक स्वेद— इसमें वृद्ध वात दोष को अवस्था में औषधियों के सुखोत्तम छब्बीय को शरीर पर भारा के रूप में छोड़कर स्वेद किया जाता है।

- | | | |
|----|--|------------------|
| 1. | पृथगतिकृतात् पर्यन्तु रुद्धि रुक्षिते ॥ | (च.म् 22/9) |
| 2. | स्थापादीपातोरेव स्तोदवै संदर्भात्कम्भः | (च.म् 22/1) |
| 3. | उपर्युक्तैर्मूलैः सां ग्रिहणं कर्म्म शुद्धये इत्यनिवासः।
इत्युग्रं च पश्य वाच्यत्वात् विद्यमुख्यते ॥ | (च.म् 22/16) |
| 4. | गान्धूः प्रसारे मात्रो वाचकोऽवाचानम्। अन्यन्येऽवाचनम्, कृतोः कृतोः पुः कृतिपूर्वकं च ॥
कृतोः हातात् इत्येवं व्याख्यात्वा व्याप्तिः। ततः प्रसारे वृद्धिरूपम् सम्पर्वयन्त्यर्थः ॥ | (च.म् 14/37 - c) |

5. अवगाहन स्वेद— इसमें गालानाशक द्रव्यों के माध्यम सूख, रुग्ण, लैला, जल के फ्लोट (Tub) में खड़ि को विठाकर स्वेद किया जाता है।

6. जेन्टाक स्वेद— इसमें विशेष तीर पर चनाये गए गोपरे (गो) वे आँख प्रवेश कराकर स्वेद करते हैं।

7. अशम्पन स्वेद— इसमें पत्थर की पटिया को गर्म कर उस पर बिछाकर रोगी को तिटाकर स्वेदन करते हैं।

8. कर्षु स्वेद— जमीन में गहड़ा खोदकर उसमें भूमरहित अंगों भाका तथा उत्तर चारपाई (छाट) बिछाकर रोगी को लिटाकर स्वेदन करते हैं।

9. कुटी स्वेद— इसमें एक छोटा सा गोलाकार गृह बनाकर इसमें गोंद बिछाकर स्वेदन करते हैं।

10. भूस्वेद— इसमें जमीन पर अंगों बिछाकर उसे गर्म कर उस पर गोंद लिटाकर स्वेदन करते हैं।

11. कुम्भि स्वेद— इसमें घड़े को जमीन में गाढ़कर उसमें गर्म तरल भक्तकर उसके ऊपर खाट बिछाकर रोगी को बैठाकर या लिटाकर स्वेदन करते हैं।

12. कूप स्वेद— इसमें छोटा सा कुआं खोदकर उसमें अग्नि प्रदीपकर यक्ष कर खाट बिछाकर रोगी को उस पर बैठाकर रोगी का स्वेदन करते हैं। इसमें हाथ, पैर को सौंद या सूखा गोबर ढालकर अग्नि प्रदीपा करते हैं। यह रुक्ष प्रकार का स्वेद है।

13. होलाक स्वेद— इसमें खट के नीचे चोरसी (कौड़ी) रखकर उसमें गोबर अग्नि भक्तकर अग्नि जलाकर स्वेदन करते हैं।

(ii) दश भेद (निरागि स्वेद)^१— अग्नि के बिना संयोग के होने वाले दश संघ निन्द प्रकार हैं—

1. व्यायाम— दण्ड बैठक या कुशी या व्यायाम करने से स्वेदन होता है।

2. ठण्ड स्वेद— बिना अग्नि संयोग के गर्म पार में रहने से स्वेदन होता है।

3. गुण्डावरण— रोगी को थोटे कपड़े, कम्बल आदि ओढ़ाकर स्वेद करते हैं।

4. क्षुपा— इसमें भूज यो रोककर जलाग्नि प्रदीप होने से स्वेदन होता है।

5. व्युधान— इसमें मध्य आदि ठण्डायीर्य द्रव्य बिलाकर स्वेदन करते हैं।

^१ व्यायाम उत्तरार्द्ध गुरुत्वान् शुभं।

पृष्ठान् भक्तिपूरुषावाक्याः ॥

स्वेदन् इति व्युधान् गुण्डान् ॥

(च.ग. 14/44-45)

6. भय— इस भयनकर भय में स्वेदन किया जाता है।

7. क्रोध— इसमें ब्रोध या तुम्हा लिटाकर तिन जीवि करकर स्वेदन होता है।

8. उपचाह— इसमें उपचाह (Poultice) बांधकर छोड़ करता है।

9. युद्ध— इसमें माल युद्ध, लड़ाई, झारड़े आदि से जगता का जलन होकर स्वेदन होता है।

10. आतप— इसमें धूत का सेवन करकर धूत किसी और उत्ता ये स्वेदन किया जाता है।

(iii) द्वार भेद (सुश्रुतानुसार)^२— अचार्य सुश्रुत ने निन्द चर प्रकार के स्वेद यात्रा ए है—

1. ताप स्वेद— इसमें अग्नि के ताप से रोगी को संकरने का विधन है। इसे में आचार्य चरक के संकर व प्रस्ताव स्वेद का समावेश किया जा सकता है।

2. उपचाह स्वेद— इसमें उपचाह या भान द्वारा स्वेद किया जाता है। इसमें ही आचार्य चरक के नाड़ी, जेन्टाक, अशम्पन, कर्षु, कुटी, भू फुर्निम्, कूप इवं होलाक आदि स्वेद का समावेश किया जा सकता है।

3. उपचाह स्वेद— इसमें पोहलों के द्वारा स्वेदन किया जाता है।

4. द्रव स्वेद— इसमें अवगाह एवं परिमेक स्वेद को समाविष्ट किया जाता है।

(iv) द्विविध स्वेद^३—

(अ) (i) रुद्ध स्वेद— कफ प्रधान रोगों में साधकारी।

(ii) द्विप्प स्वेद— वात प्रधान रोगों में साधकारी।

(ब) (i) एकाङ्ग स्वेद— शरीर के विशिष्ट अङ्ग में किया जाने वाला स्वेद।

(ii) सर्वाङ्ग स्वेद— सर्वशरीर में किया जाने वाला स्वेद।

(v) अन्य स्वेद^४—

1. मुदु स्वेद— वृष्णि, हृदय य नेत्र आदि कोनल अंगों पर किया जाने वाला स्वेद।

1. व्युद्धिः स्वेदः, तापा-तापनेदः, उपचाहेऽप्येत्, उपचाहैतीः, ग्रा ग्रावेत्यिकालपत्रोः ॥

(च.ग. 32/3)

2. ० वामभृष्टानि यतो या वृक्षे का स्वेद दद्यते। विष्वाकशाला विष्वाको व्युद्धानुकरिताः ॥

(च.ग. 14/8)

३) व्युद्धान्तर्गतः, विष्वाको व्युद्धानेत्र च ॥

(च.ग. 14/66)

४) वृष्णी हृदय दृष्टि उपेत्यन्युपैय् च ॥

(च.ग. 14/10)

2. भाष्यम् स्वेद— घंकण प्रदेश में किया जाने वाला स्वेद।

3. भाहान् (सप्त्यक) स्वेद— शेष औरों व अवशेषों में किया जाने वाला स्वेद।

सप्त्यक स्वेदन के लक्षणः

 1. गेहों के शीतों में शीतला व शुल् की शांति होना।
 2. शीतों को बर्फङ्गाहट व गुरुता नष्ट होना।
 3. शीतों के अवशेषों में भार्दव व कोमलता होना।
 4. शीतों में स्वेद प्रवृत्ति।
 5. मल-मूत्र-अपानवापु व शुक्र की सप्त्यक प्रवृत्ति।
 6. चातकभृत दोषों का शांत होना।
 7. शाखागत दोषों का कोष्ठ में आ जाना।

अतिस्वेदन के लक्षण

- स्वेदन का प्रयोग अधिक मात्रा में करने से निम्न रोग व लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं।

 1. वित व रक्त प्रबोप होना।
 2. मूत्रांशु व भ्रम की उत्पत्ति।
 3. शरीर सदन (अवसाद) होना।
 4. तुम्हा अधिक लगना य शरीर में दाह होना।
 5. स्वेद अधिक मात्रा में आना।
 6. रक्त व अंगों में दुर्बलता।
 7. ज्वर, संघीणत, क्षत्रण आदि की उत्पत्ति।

अतिथेन की विविधा

स्वेद के अतियोग होने पर मधुर, क्रियथ य शीलन आहार-विहार, ग्राम्य शृणुकर्ता कर पातन एवं स्वत्पन्न कर्म करना चाहिए।-

- | | | |
|----|--|------------------|
| 1. | १) गोदावरीनगरमें स्थानादित्यिणी । मार्गीय गवर्णरे सेवे स्वेच्छादित्यिणी॥ | (प.सू. 14/13) |
| | २) गोदावरीनगरमें स्थानादित्यिणी । | |
| | कुमारप्रतिष्ठान न बनाया क्योंकि ॥ | (प.सू. 14/4) |
| | ३) ज्ञा. सेवे, इत्यन्ते ईर्ष्यामालेश्वरी । | |
| | स्वेच्छादित्यः प्राप्तादेव गदा वाक्यप्रभावम् ॥ | (प.सू. 14/3) |
| 2. | १) विष्णुकोवे दूरी च हातासदृश दूरा । | |
| | दहा विष्णुकोवे विष्णुकोवे दूरा ॥ | (प.सू. 14/14) |
| | २) विष्णुकोवे विष्णुकोवे ॥ विष्णुकोवे ॥ | (मुफि 32/24) |
| | ३) उद्यावतीर्थे उद्यावतीर्थे ॥ | |
| 3. | १) उद्यावतीर्थे ए उद्यावतीर्थे । | (आद्य. 17/16-17) |
| | सोद्यावतीर्थम् कर्तुं यथा: विष्णुकोवे ॥ | (प.सू. 14/15) |
| | २) कुमारप्रतिष्ठान दहा विष्णुकोवे ॥ | (मुफि 32/14) |
| | ३) दहा विष्णुकोवे ॥ | (आद्य. 17/17) |

संस्कृत ग्रन्थ

- | | |
|--|---|
| 1. प्रतिरूपण | 2. कास |
| 3. हिम्मत | 4. शास |
| 5. कर्णमन्यानिःशूल | 6. स्तरभेद |
| 7. गतग्रह | 8. अर्द्धता |
| 9. एकाहृत्यात् | 10. सर्वाहृत्यात् |
| 11. पश्चापात् | 12. विनाम |
| 13. कोष्ठ-आवाह | 14. विषयन्य |
| 15. गृह्यपत | 16. पार्श्वपृष्ठकटिकुसिण्ह
(चाई-पृष्ठ-कटि-कुसिण्ह) |
| 17. गृधसी | 19. चाद उड जनु जंपा ग्रह |
| 18. मूलनाच्छ | 21. आपदोप |
| 20. शोथ | 23. चलकपटक |
| 22. येपथु (कर्मवात्) | 25. स्त्राम-गौरव-सुज्ञा |
| 24. संकोच-आवाम-शूल | 27. ग्रीष्मी रोग |
| 26. अर्द्धुद रोग | 29. आढ़वात् (ठलस्त्रम्) |
| 28. गुज्जावात् | |
| स्वेदन के अयोग्य रोग व रोगी: | |
| 1. प्रतिदिन क्याप रस व मदिता का सेवन करने वाले | |
| 2. गर्भिणी | 3. रक्तपित्त |
| 4. पित्तज रोग व पित्तज प्रकृति | 5. अलिसाद |
| 6. मधुमेह | 7. गुदप्रेरण |
| 8. गुदपाक | 9. नष्टसंज्ञा (Unconscious) |
| 10. गतिस्थूल (Obese) | 11. पित्तज प्रयेह |
| 12. धूधा व तुच्छा पोर्निता | 13. झोप व शोक पीड़ित |
| 14. पाण्डु | 15. कामता |
| 16. उदर रोग | 17. बड़ीश्व |

- | | | |
|----|--|---------------------|
| 1. | i) अस्तित्वात्मक या गतिशील स्वरूपों का विवरण करना। | (अ.सू. 14/20-24) |
| | ii) अस्तित्वात्मक स्वरूपों का विवरण करना। | (अ.सू. 17/25-27) |
| 2. | i) कार्यव्यापाकवाचन या विवरण करना। | (अ.सू. 14/16-19) |
| | ii) विस्तृत विवरण करना। | (अ.सू. 14/32/25-26) |
| | iii) "प्राकृतिकीय विवरण करना। | (अ.सू. 17/22-24) |
| | iv) "न स्वरूपेनादति स्मृतः" विवरण करना। | |

- (ब) तैल
 (स) वसा
 (द) मज्जा
 (iii). मात्रानुसार स्नेह— स्नेह की निश्चित मात्रा के शरीर में पावन होने वें लाभ बाते समय के अनुपान स्नेह के तीन भेद हैं—
 (अ) प्रधान मात्रा— जो स्नेह की मात्रा दिन-रात (24 घण्टे) में पच जाये।
 (ब) मध्यम मात्रा— जो स्नेह की मात्रा दिन भर में (12 घण्टे) में पच जाये।
 (स) हृस्व मात्रा— जो स्नेह की मात्रा आधा दिन (6 घण्टे) में पच जाये।
 स्नेहन-काल व अनुपान^१
 विभिन्न काल (ऋतु) में भिन्न प्रकार के स्नेह को विशिष्ट अनुपान से सेवन करने के विधान शहस्रों में बताया गया है जो निम्न प्रकार है—

स्नेहन	काल (ऋतु)	अनुपान
(i) पूर्व	शरद	ताजा जल
(ii) तैल	प्रवृष्टि (वर्षा)	शूप्त
(iii) वसा	बर्संत (वैशाख)	मण्ड
(iv) मज्जा	बर्संत (वैशाख)	मण्ड

सम्पूर्ण स्नेहन के लक्षण^२

- अपान वायु का अनुलोमन होना।
- जठराप्रिय प्रदीप्त होना।
- पुरीष चिकित्सा व अस्तहत होना।
- शरीर में मार्दव (कोवलता) व चिकनापन होना।
- शरीर में लपुता (हल्कापन) उत्पन्न होना।
- पुरीष ग्राहित व रुक्ष होना।

- आंगोपत्तमः कुरुत्तमपाहं प्रज्ञेष्ठाति ।
प्रपत्त पर्यय इत्या विवरणा जायं प्रति ॥
- (अ) भूषि: शारदि पतार्थ, यस्त मन्त्र च मापये ।
तीर्त्तं प्रवृष्टि, ननुपानांते स्नेह निवेदयः ॥
- (ब) बर्संतां पूर्व एवं पूर्वसौन्दर्यान्तां ।
पूर्व पर्वत्तु पूर्वः स्नेह सर्वेषु प्रमाणयु च ॥
- पत्रनुपाने देवीं विवर्णं, विष्णवान्ताम् ।
गर्वत्तं प्रियान चाहृं विष्णवानुपानाम् ॥
- द्विविद्वान इक्षा यामुपानुपाने भूषुः ।
वदा शारदं गोस्य व वारव्यादिवासाम् ॥

(च.म् १२५)
 (च.म् १२६)
 (च.म् १२७)
 (च.म् १२८)
 (च.म् १२९)

काय चिकित्सा विवेचन

127

- वायु का अनुलोमन न होना।
- जठराप्रिय मन्त्रा।
- शरीर में रुक्षता व खाता रहना।

अस्तिस्तिराय पुरुष के लक्षण^३

- | | |
|--------------------|-------------------|
| 1. पाण्डुता | 6. अस्तिरा |
| 2. गौरवता | 7. ढल्लेश |
| 3. जाङ्गयता | 8. गुददाह |
| 4. पुरीष अविष्टवता | 9. मुख से कफ रखना |
| 5. लड्डा | 10. भक्त द्वेष। |

स्नेहन योग्य रोग व रोगी^४

- जिनको स्वेदन या शोधन कराना हो।
- जिनका शरीर रुक्ष हो।
- जो वातव्याधि से चीड़ित हो।
- जो नित्य व्यापास करते हों।
- जो नित्य अदिरापन करते हों।
- जो नित्य स्वीसेवन करते हों।
- जो नित्य चिन्ता करते हो।

स्नेहन के अयोग्य रोग व रोगी^५

- जिनके शरीर में कफ व य मेद बढ़े हुए हों।
- नित्य मन्दाप्रिय से चीड़ित।
- तृष्णा तथा भूर्चासे से चीड़ित।
- अत्र से अरुचि।
- गुर्भिणी।
- दातु शोष चीड़ित।
- छार्टे से ग्रासित।
- उदर रोग चीड़ित।

-
- पाण्डुता चौरा वाहूं पुरीषस्तिराय ।
वद्वाः चिलकनेऽस्त्वात्तिरायात्ताम् ॥
 - स्नेहा: सोप्तिराय स्नेहा वारव्यादिवासाम् ।
वारव्यादिवासाम्नेत्वाः स्नेहा: मुखे व विनामः ॥
 - संगोपनाद्वारे वैरा इष्टां संगोपने ।
मुद्रामाः ॥
- (च.म् १२९)
 (च.म् १३०)
 (च.म् १३१)

9. ज्ञाम दोष युक्त।
 10. दुर्बल व क्लम युक्त।
 11. स्रेह से उत्पन्न ग्लानि।
 12. मद रोग पीड़ित।
 13. बस्ति कर्म व नस्य कर्म पश्चात्।

3. स्तम्भन— जो द्रव्य या उपाय गतिशील और चल द्रव्यों के नियंत्रण में रुक़ाव़ होता है उसे स्तम्भन कहते हैं। अर्थात् जिससे शारीरिक दोष, धातु, मलों में रुक़ाव़ होता है उसे उपक्रम को स्तम्भन कहते हैं।

स्तम्भनीय द्रव्य— जो द्रव्य प्रायः सीत, मद, मुदु, शूक्ष्म, रुक्ष, सूक्ष्म, द्रव, लिंग और गुण युक्त होते हैं वे शरीर में स्तम्भन ठत्तन करते हैं^१।

वे इच्छा तनु (पतला), स्थिर, शरीर में शोषणता उत्पन्न करने वाले और मधु-
तिक-कथाप्रसाद प्रधान हैं वे सभी इच्छा शरीर में स्तम्भन उत्पन्न करते हैं।

स्तम्भनीय पुरुष— जो व्यक्ति पित प्रकृति का हो, शार-अग्रि से जला हो, वमन व अतिरिक्त से पौंछित हो, विष और स्टेन्ड के अधिक निकालने से कष्ट पा रहा हो, जिस अनुभव में अतिप्रवृत्त प्रकार को स्थोलोद्दृष्टि हो, इस प्रकार के व्यक्ति स्तम्भन करने पोन्य होते हैं।

सम्पूर्ण स्तान्भन के लक्षण— जिन रोगों में स्तान्भन उपक्रम करने का विधान है परिदृष्ट रोगों का क्षय हो जाय और रोगी के शरीर में बल की प्राप्ति हो जाय तो इन्हें **सम्पूर्ण स्तान्भन** किया के लक्षणों का गठन करता चिह्नित है।

अती स्तम्भन के लक्षण— शरीर में श्वासता, जकड़ाहट, मन में उड़ेग, हनुस्तम्भ, दृश्य गदि स्तम्भन आदि अस्तिमास्तन के लक्षण हैं।

साम्पर्नीय औपर्य— जहिफेन, भंगा, पोचरस, कुटज, सोध, जातीफल, लाश, गुण, वास, चादि, टर्वी, चीक, अमुके, प्रवाल एवं कलताल आदि साम्पर्नीय द्रव्य हैं।

- | | | |
|----|---|--------------|
| १. | समर्पित दक्षतावर्ती पदविनामने संसारं पुण्यम् ॥ | (च.म् 22/11) |
| २. | संहेतं पर्वतं पूर्वं रथं दृष्टम् दर्शयिषामः ।
वृद्धास्तु त्रिपुरोर्जातं प्रवालन्ति सम्भवं मनुष्यम् ॥ | (च.म् 22/12) |
| ३. | त्रिपुरं त्रिवर्षाणां वाचवानीं कामनीरप्यु ।
स्वद्वा त्रिकृतं कर्तव्यं च सम्भवं सर्वात्मकं तत् ॥ | (च.म् 22/13) |
| ४. | विश्वामित्रादेवाय च वाचवानीरप्यु ।
विश्वामित्रादेवाय च सम्भवं सर्वात्मकं ॥ | (च.म् 22/14) |
| ५. | सत्याग्निं सम्बद्धं रथं च देवोऽप्यदामार्थीः ।
स्वप्नवत्ता सम्भवं देवोऽप्यदामार्थीः ॥ | (च.म् 22/15) |
| ६. | स्वप्नवत्ता सम्भवं देवोऽप्यदामार्थीः ।
इत्यग्नेन इत्यग्नेन देवोऽप्यदामार्थीः ॥ | (च.म् 22/16) |

पंडविध उपक्रमों की संक्षिप्त गण भेदक तालिका

अपतर्पणीय उपक्रम			संतर्पणीय उपक्रम		
लंघन	रक्षण	स्वेदन	बुद्धि	स्नेह	स्त्रापन
लघु	लघु	गुरु	गुरु	गुरु	लघु
ठण्णा	ठण्णा	ठण्णा	शोषण	शोषण	शोषण
तीक्ष्ण	तीक्ष्ण	तीक्ष्ण	मृद	मृद	मृद
X	X	इच्छा	X	इच्छा	इच्छा
विशद	विशद	X	पिच्छल	पिच्छल	X
X	X	X	बहल	X	X
रुक्ष	रुक्ष	रुक्ष-क्लिय	क्लिय	क्लिय	रुक्ष
X	X	X	मंद	मंद	मंद
सूक्ष्म	X	सूक्ष्म	सूक्ष्म	सूक्ष्म	सूक्ष्म
खर	खर	X	मूक्ष्म	X	मूक्ष्म
सर	स्थिर	स्थिर-सर	स्थिर	सर	स्थिर
—	त्रिविन	X	X	X	X

विकित्सा में दोष, दूष्य, बल, अग्नि, देश, काल एवं प्रकृति का सूक्ष्म विचार चिकित्सक यदि औपचार्य का प्रयोग रोग एवं रोगों परीक्षण करने के उपर्युक्त दोष-दूष्य, स्रोतस, देश, काल, बल, व्याधि, शरीर, आहार, सान्धि, सत्त्व, प्रकृति एवं वय आदि भावों का विचार कर करता है तो निहित रूप से वह औपचार्य फलदायी होती है एवं उपर्युक्त दोषों की संभावना भी बहो रहती है। पद्धति-

१. गृहस्थिति हि देवप्रेषणदेवाकालकलनागमेद्याम् साम्यस्थवर्णवृत्तिस्थवर्णवृत्तिर्विना। (गुरु १५५)
 २. स्त्रीप्रेषणः क्षिप्रद्योगं निरानन्दित्यवैष्टन्।
 वाचादेवा प्रतीपतः प्रेषणो विकारः पूर्वः ४ (मुख १२३)

चिन्दुओं का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार अवश्य करना चाहिए। मानसिक रोगों में भी शामि, देवों का प्रकोप होकर दोषानुसार योग्य होती है। काय-ग्रोथ-शोक रोगानुसार योग्य, वित का एवं देवता आदि के क्रोप से त्रिदोष का प्रकोप होता है।

विस प्रकार हेतु-दोष-दूष एवं स्रोतस् आदि के विशिष्ट संयोग को गण वहाँ। इसे प्रकार इनके विषयन को चिकित्सा कहते हैं। रोगोत्पत्ति में हेतुभूत दोषों के योग्य, देश-काल-प्रकृति-बल आहार-विहार आदि भी वार्ता होते हैं। अतः इन योग्य व्यास्तविकता घटावना का विचार करके ही चिकित्सा करने से सफलता प्राप्त होती है।

2. चिकित्सा में औषध का विचार— औषधियों-गुण, आदि-वालावस्था, उत्तमवस्था एवं बुद्धावस्था की तीव्रता है। औषधिय किस तरह की भूमि में, किस रूप में डलन होता है? औषध का कौन सा भाग-छाल-पत्र-पुष्प-बीज-फल-मूत्र-हीं, पंचोंग ग्रहण करता है या औषध किस रूप में प्रयुक्त करना है, व्याधा-लासम-हीं, कल्क-हिं-फाट-चूर्ण-बटी-अवलोह-पार्क-आसव-आरट-तैल-घृत-अकर्णि देश-काल का प्रयोग करता है तथा रस-गुण-वीर्य-विपाक-प्रभाव का विचार, प्रकृति तथा समवेत्-विषयी विषयमन्तर्बोत आदि संयोगों का विचार कर ही औषध प्रयोग करना चाहिए। इससे अशानुकूल परिवर्तन प्राप्त होते हैं।

3. चिकित्सा में देश का विचार— भूमि व आत्म भेद से "देश" दो अवृत्ति प्रयुक्त होता है। भूमि आनुप-जाहूत-साधारण भेद से तीन प्रकार की होती है। अप्तो-द्वारा-योग्य-लवण्यो भेद से भी भूमि के भेद किए जाते हैं।

रोगों किस देश में पैदा हुआ है? किस दूर के देश में उसका पालन हुआ है? किस देश में उत्पत्ति की प्राप्त हुआ है? इन सभी देशों में आहार-विहार एवं बल घटा कैसे है? इन सभी तथ्यों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार कर चिकित्सा प्रारम्भ करना लाभकारी रहता है।

चिकित्सा रूपी बलों का देश रोगों का शरीर होता है। शरीर की परीक्षा आप के प्रयोग को जानने के लिए या रोगों के बल-दोष के प्रयोग को जानने के लिए की जाती है। दोष के प्रयोग के अनुरूप ही औषध का प्रयोग निर्धारित किया जाता है या रोगों का यह वर्णन देखकर औषध यात्रा निर्धारित की जाती है। यदि बलवान् रोगी या रोग होने वा अल्प बल वाली औषध रोगी को दी जाये तो यह प्रभावी नहीं होती है। अतः रोगों के बल के प्रयोग की जानने के लिए आत्म परीक्षा निम्न दराविधि चिन्दुओं के आधार पर की जाती है।

1. ० देशानुभवानुसार।
१। तत् भूमिपात्र व्यागुरात्मकान्तरं त्वयीत्पर्यात्मकान्तरं।
.....पूर्णपूर्ण वस्त्रोऽ।
(च.पि. ३७)
2. रामानुसार चोक्त वृष्टिपूर्ण, विषुविष्य, स्त्राव, भारवात्म, प्रयावर्त्त, व्याप्त्याव, स्त्रवात्म,
आहारावात्म, व्यावात्मवित्त, वस्त्रपूर्ण, पर्यावर्त्तावात्मवित्तः ३
(च.पि. ४३)

दशग्रन्थ आत्म परीक्षा

1. प्रकृति (Constitution)
2. विहृति (Disease Susceptibility)
3. गति (Quality of Dhatus - tissues)
4. सीलन (Compactness of the body / body built)
5. प्रमाण (Anthropometry)
6. संतत्य (Adaptability)
7. सत्त्व (Mental Stamina)
8. आहार शक्ति (Digestive power)
9. व्यायाम शक्ति (Exercise tolerance)
10. वय (अवस्था) (Age & rate of aging)

4. चिकित्सा में काल का विचार

काल नित्यण एवं आवस्थिक भेद से दो प्रकार का है। नित्यण काल में शर्क, चुड़ान्त, सैकेन्ड, निनिट, धंटा, दिन, रात, पक्ष, नास, जल्द, अवन, संवत्सर, चुग आदि का समावेश होता है।

आवस्थिक काल व्यागुसार या रोगानुकूल होता है। चैम्स-मुखावस्था के रोग प्राप्त सुखसाध्य होते हैं, बुद्धावस्था के रोग कह साध्य या दुःखसाध्य होते हैं।

साधारणतया तीन चतुर्ऊों यथा प्रावद्ध शरद, चतुर्ंत में छठनवारः चूल्हा, विशेष तथा व्यवनं कर्म करने का विचार है। इन साधारण लक्षण वालों चिन्दुओं में तदों, गर्भों, चरसत्त मंद रूप में होती है, इसलिए व्याधि प्राप्त: सुखसाध्य होती है।

रोगानुसार ज्वर को आंध्र अवस्था में लंघन (उपशाल) करना चाहिए। भास के बीच में चार-बार औषध का प्रयोग करना चाहिए।

5. चिकित्सा में बल का विचार

बल स्थापाविक (सहज), कालव व मुक्तिकृत, अवस्थानुसार, देशानुसार चढ़ता व घटता रहता है। शरीर के बल से भी आंध्र बल में प्रियता आती है। शरीर बल, रोग बल एवं आंध्र बल ज्वर विवार कर ही चिकित्सा सूत्र निर्धारित कर व्याप्तिहरण का प्रयास करना चाहिए।

6. चिकित्सा में शरीर का विचार

शरीर के कृत्ति चूल्हा, सम, मध्य, सुसंहग, असंहग, मृदु, कठोर, सुकुमार, अविहस्य,

1. बलः पुरुः संक्षेपानुप्रस्था।
.....हारीप्रिपाद् ३
(च.पि. ८/१२५-१२६)
2. विविध भल्लिपति-गहानं, कलार्जं, युद्धकृतां च।
साम्बं प्रमुहोत्तावद्यः चतुर्णं, कलार्जं चतुर्ण विचारं चतुर्णः कृतं च,
पुरुषानु पुरामाद्याहायोन्नत्रपृ।
(च.पि. ११/३६)

इन्हीं अडिगेर, अति कृष्ण स्वस्य य अस्यम्य आदि मृश्माति-युग्मं पूर्णं ।
सर्वे का विचार चिकित्सा करते समय आवश्यक है।

7. चिकित्सा में आहार का विचार

अरित, दोट, लोट, छाइत, राजकाहारी, मांसाहारी, यिरुदामन, अणगन, अर्द्ध-
अर्द्ध-प्रकृति, लघु, गोद, उष्ण, प्रकृति, करण, संयोग, राशि, टेश, दान, दान-
संयोग, दृपचोदा आदि भेदों से आहार के कई भेद होते हैं। इनका भी चिकित्सा पूर्ण
करने में आवश्यक है।

8. चिकित्सा में सत्त्व का विचार

सत्त्व दसे कहते हैं जो स्वप्रकृति अनुकूल हो। यह देह सत्त्व, प्रकृति एवं
स्तुत्य, दोष-सत्त्व, औंक सत्त्व, बाति सत्त्व, काल-सत्त्व, चल सत्त्व इति
अनेक इकात जै होता है। सत्त्व आहार-विहार एवं औषध का सम्पूर्ण प्रयोग किए
जाने के लक्ष्यानुरूप नियमित कर चिकित्सा प्रारंभ करनी चाहिए।

9. चिकित्सा में सत्त्व का विचार

मन को "सत्त्व" कहा जाता है। मन में सत्त्व-रज-तम यह तीन गुण अधिकारी है। इनके आधार पर सात्त्विक, ग्रावस-तामस तीन प्रकार के पुरुष होते हैं। अतः मन की
विचार में चिकित्सा में आवश्यक है।

10. चिकित्सा में प्रकृति का विचार

शर्वर्थिक दोषानुसार वातव, पितॄव, श्लेष्मव, दृढ़व एवं सत्रिपात्रव, ते प्रकृतिं
होती है। मन के गुण के अनुसार सात्त्विक, राजस, तामस प्रकृतियाँ भी होती हैं। ते
दृढ़वातु के आधार पर भी पांच भौतिक प्रकृतियाँ होती हैं। अतः इन सभी का विचार
चिकित्सा में किया जाना आवश्यक है।

11. चिकित्सा में वय का विचार

बाल्य, कीमाद, किंशोर, तरुण, प्रीव, वृद्ध, जाग आदि भेदों से वय का विचार विव
रक्त भी आवश्यक है।

अतः निदान-दोष-टूप के संयोग से होना उत्पत्ति की प्रक्रिया ही सम्भाली है। इन सम्बन्धित का विषयन किया जाना ही चिकित्सा है। अतः प्रत्येक रोग की सम्प्राप्ति में रोग-
दोष-संतुल-अग्नि-ओज आदि का विचार सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्तर तक किया जाना आवश्यक है। अतः चिकित्सा में दोनों का शोधन, दूष की शय यूद्ध, स्वोत्सु का शोधन, अग्नि एवं
सिंक्ति एवं ओज यूद्ध ये सभी उपचार आवश्यक हैं।

1. ते उपर्युक्तवात्तात्र विधि विशेषज्ञताति भवन्तः तात्पर्य-प्रकृति-
संयोगात् दृढ़वात्तात्र योग संयोगात्तात्र विवरणः ।

(पृष्ठ 113)

चिकित्स्य पुरुष

चिकित्स्य पुरुष का विचार अन्तुर्वेद वायुमन में व्याप्त विशिष्ट ग्रन्थ है। अन्तर्वेद व्याप्ति एवं ग्रन्थानि इन विचारग्रन्थ में द्वय व्याप्ति होता है। अन्तुर्वेद की यह
अवधारणा है कि चिकित्स्य पुरुष (अन्तुर्वेद या ग्रन्थ) के विचार के किन्तु चिकित्स्य के
किसी भी व्यक्ति का विचार नहीं अथं यदो ग्रन्थानि अन्तुर्वेद चिकित्स्य का विचार अन्तुर्वेद हो
रहता है। अतः चिकित्सा की व्यवस्था के लिए चिकित्स्य पुरुष का व्याप्त अवधारणा है।
योग की यता योगी (चिकित्स्य पुरुष) में ही होती है।

अतः यह पुरुष, विषको विभिन्नग्रन्थों जा नक्षे व्याप्त विभिन्न चिकित्सा व्याप्त पुरुष है।
चिकित्स्य पुरुष है। चिकित्सा में योगी का विचार अन्तुर्वेद की विवेचना है। अन्तुर्वेद का
सिद्धांत है कि एक ही योग विभिन्न पुरुषों में उनके द्वारा अन्तुर्वेद के अन्तुर्वेद देश-काल
की विभिन्नता से विभिन्न रूप में उक्त हो सकता है। अतः चिकित्स्य पुरुष को द्वारा
आदि पर ही चिकित्सा को व्यवस्था निर्धारण होती है।

शरीर, इन्द्रिय, सत्त्व (मन) और आत्मा के व्यंग्यों को 'व्याप्त' कहते हैं। अन्तुर्वेद-दुख, हित-आहित, रोग-आत्मेय सत्य कुछ अन्तुर्वेद के व्यंग्यों नहीं होने विवेचना है।
क्रिदण्ड या विपादिका के समान सत्त्व, अन्तुर्वेद व रत्नीर (इन्द्रिय लहित) के संयोग पर ही
प्राणी भाव का ज्ञान व कर्म विवर होते हैं। इन्हों के व्यंग्यों को ही तुन्दू (तुर्च) कहते
हैं। वही चेतन रूप भी है। अन्तुर्वेद व्याप्त का अधिकरण (चिकित्सा का विषय) ये यही
पुरुष हैं। अतः प्राणियों में जो चिकित्सा देनी जाती है वह मन और मरींग की
विविधिताओं के कारण होती है। किन्तु व्याप्त अन्तुर्वेद व्याप्त के व्याप्त विवरण और
एक सा रहता है। वह सत्त्वगुण, भूतगुण तथा इन्द्रियों के द्वारा सब व्यक्तरों को देखता है
वर्णत् दृष्ट्य है।

शुक्र व आर्द्धव का गर्भाशय में संयोग होने पर तत्काल ही उसने सूक्ष्म शरीर सहित
आत्मा का प्रवेश होता है। इस सूक्ष्म शरीर में अन्तुर्वेद (अव्यक्त, बहान, अंडकार और
पञ्चान्त्रात्राये) व पांच सूक्ष्म जानेविद्याय, पांच सूक्ष्म कर्मेन्द्रियाय तथा एक उपमात्रक
(ज्ञान-कर्मेन्द्रिय) मन, ये 11 इन्द्रिय होते हैं। इन सूक्ष्माय में जाता द्वारा संबोधन जाता है।
इस समुदाय को ही गर्भ कहा जाता है। यहो गर्भ पश्चनाभूतों द्वारा वृद्ध होकर शरीर
जाता है। अतः शरीर के सभी अवयव-अन्तुर्वेद (दोष-प्रकृति-मन) पश्चनाभूतों से ही बने

1. शारीरिकदात्तव्यात्तात्रोंयोगं पर्वत चोकितिः ।

(पृष्ठ 140)

2. स्वप्नग्रहणं शारीरं च प्रक्षेप्तुर्विवरणः ।

स्वप्नाशेषात् लक्ष्य तात्पर्यात् शर्व प्रातिक्रियाः ।

तात्पर्यात् लक्ष्य तात्पर्यात् शर्व प्रातिक्रियाः ।

त

है। जब आहार-विहार में कोई व्यतिक्रम होता है तो शरीराचयकों में इन पूरुषों या स्त्री होता है जिससे उस अवयव (दोष-धातु-मल) में बृद्धि या क्षय होने वाली है।

अतः ज्ञात्वा उपर्युक्त पुरुष ही चिकित्सा का अधिष्ठान है। इन पुरुष चिकित्स्य हैं।

चिकित्स्य पुरुष पर्याय

चेतना पुरुष, कर्म-पुरुष, संयोग पुरुष, स्थूल पुरुष, राशि-पुरुष, चतुर्विंशति तत्त्वात्मक पुरुष ये सभी एकार्थक व पर्यायात्मीय हैं जो एक ही अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। चिकित्स्य पुरुष कहा जाता है।

धातु भेद से पुरुष प्रकार

धातु भेद से पुरुष निम्न तीन प्रकार के बतलाये गये हैं-

1. एक धातुव पुरुष
2. पद्धातुज पुरुष
3. चतुर्विंशति तत्त्वात्मक पुरुष

1. एकधातुव पुरुष— केवल आत्मा (चेतना धातु) को एक धातु व कहा गया है।

"पुरि (शरीर) शैति इति पुरुषः" अर्थात् आत्मा शरीर में रहता है इससे ही कहा जाता है। आयुर्वेदीय चिकित्सा के प्रयोजन की दृष्टि से यह एक धातुव चिकित्स्य पुरुष वही हो सकता, व्यांक रोग के अधिष्ठान तो शरीर व मन है। इन पुरुष (केवल आत्मा) निर्धारित हैं।

2. पद्धातुज पुरुष— पश्चमाभूत व आत्मा (चेतना) इन 6 के संयोग से पुरुष को पद्धातुज पुरुष कहा जाता है। अतः पद्धातुज पुरुष अपने में इन अधिकार पुरुष व चिकित्स्य पुरुष को धारण करने में सक्षम है। यह चतुर्विंशति तत्त्वात्मक संस्करण है।

3. चतुर्विंशतिक पुरुष— यह पुरुष सांख्य शास्त्र के दर्शन में कई आयार्य चरक के अनुसार उत्कृष्ट से महान्, महान् से अहंकार एवं अहंकार से अन्तर्भूत पुरुष व उपर्युक्त चरित्रों।

- | | |
|--|----------|
| 1. दम्भायेव पुरुषे उपर्युक्त चरित्रोऽतः ।
भौतिकत्वं पौद्याद्यात्मुद्देव वर्द्धने तांसोद्वयवर्यः ॥ | (मुरुः) |
| 2. एव चम्पार्णवीर्याद्यात्मपूरुषः ॥ | (मुरुः) |
| 3. वैतापात्रायेवः भूतः पुरुष गौवः । | (दत्रः) |
| 4. विर्विषः चामवाय । | (वृद्धः) |
| 5. ॥ वद्यक्षपूर्वामीविवायः पुरुष इपुरुषोऽ ॥ | (मुरुः) |
| 6. ॥ वद्यक्षपूर्वामीविवायः पुरुष इपुरुषोऽ ॥ | (दत्रः) |

काय चिकित्सा विवेचन

चायु, तेज, रस, पृथ्वी यों ऊपरि होती है। ये ही उपरि प्रकृतियों हैं। पश्चान्तिक्यों, पश्चान्तिक्यों, इन के बीच अर्थ (राज्य-स्वर्ण-रस-ग्रन्थ) एवं इन से 16 विकार हैं। ये सभी (आण्डकृति + गोद्वाग विकार) निनक्त चतुर्विंशति तत्त्वात्मक पुरुष का निर्माण करते हैं। इसी यों रीति पुरुष या चिकित्स्य पुरुष भी कहा गया है। आयार्य गुम्बुत मांड्यम भत्तानुमार 24 दृष्टियों के साथ चेतना (आत्मा) को जोड़कर पश्चान्तिक्यों पुरुष मानते हैं। आयुर्वेद के लक्षण एवं प्रयोजन ज्ञान्यम् योग्यता व अधिपि खोलन का अधिष्ठान यही कर्म पुरुष का परिवर्तित रूप है। यद्यपि पर्यु-वशी भी पद्धातुज व चतुर्विंशति धातुज होते हैं किन्तु चिकित्सा में यनुष्य सर्वोक्तुक प्राणों होने के लक्षण ग्रहण किया गया है।

आधुनिक मात्र से चिकित्स्य पुरुष

मानव शरीर को रखना भीतीक, वैद्यव स्थायानिक, मानसिक तथा आत्मिक तत्त्वों के मिश्रण से होती है। मनुष्य के शारीरिक (Biophysical), जैव शास्त्रानिक (Biochemical) एवं मानसिक (Psychic) भावों में विकृति आने से शारीरिक व भास्त्रानिक रोग उत्पन्न होते हैं। अतः आयोग्र ग्रन्थि के लिये इन भावों को ज्ञान्यम् योग्यता में लाना ही चिकित्सा का प्रयोजन है। अतः इन्हों भावों से युक्त पुरुष चिकित्स्य पुरुष कहलाया है।

अधिकित्स्य पुरुष

हितकर वर्धनों को न मानने वाला, धनहोन, दरिद्र, सेवक रहित, अपने को चिकित्सक समझने वाला, झोपी, दूसरों को निन्दा करने वाला, अधर्म में लिप्त, विसक्त बल, मांस क्षीण हो गया हो, असाथ रोग के लक्षणों से युक्त, अर्थट लक्षणों से युक्त पुरुष की चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। इनको चिकित्सा करने से चिकित्सक को अपवश या पाप हो लगता है।

काय चिकित्सा : अर्थ, परिभाषा एवं कार्य क्षेत्र

'काय चिकित्सा' का शाब्दिक अर्थ है- काय को चिकित्सा। यिहिन आचार्यों ने इस विषय में भिन्न-भिन्न नव प्रस्तुति किए हैं। विनम्रे से बुद्ध यहाँ वर्णित किए जा रहे हैं—

1. "कायस्तान्तरायोद्धिकित्सा।" (चक्रपाणि)
2. "काय चिकित्सा इति कायस्य अन्तर्योद्धिकित्सा।" (गंगाधर)
3. "जातरः प्राणिनामग्निः कायः इत्याभिप्रयते।
4. "यस्तं चिकित्सेत् सीदनं स वै काय चिकित्सकः।" (भोव)

1. चारोनि चुरुद्विव्याहमहात्मानायाऽप्य ।
.....शिक्षा इति गौवः ॥ (ग.ग. 1-6)
2. तत्र चर्च द्वा चोका द्वा चारः पुरुषः पश्चान्तिक्यात्मक वैतापात्रायेव भवति ॥ (ग.ग. 1-6)
3. तत्र पुरुषः प्रपत्ने, सांख्यकरणमन्, तत्त्वात् पुरुषोऽप्यात्मकः ॥ (ग.ग. 1-6)
4. तदाया-उत्तरपद्याद्योवायात्मक वैतापात्रायेव चिकित्सकः ॥ (ग.ग. 1-6)

काय-विकित्सा

अक्षर्य भोज "काप" शब्द से जात्राग्नि का ग्रहण करते हैं। उनके अनुसार के अवस्था पाक व पानु पाक (Metabolism) के विकारों को चिकित्सा "काप चिकित्सा" है। अग्नुर्वद में अग्निपाणि को सभी रोगों का मूल कहा गया है। अग्निपाणि आप दीप व आपविष की उत्पत्ति होकर ही सभी रोग उत्पन्न होते हैं। अतः अक्षर्य नेपाल व चक्रचार्य ने भी अन्तराग्नि (जात्राग्नि) की विकृति से उत्पन्न होनेवाले विकार की चिकित्सा को ही "काप चिकित्सा" के रूप में ग्रहण किया है।

आचार्य सुकृत के अनुसार सम्पूर्ण शरीरगत व सम्पूर्ण शरीर पर प्रभाव दाने के सर्वाङ्गाकृति रोप जैसे चर, रक्षणित, उन्माद, अपस्मार, कुष्ठादि की व्याख्या व वैदेश उपहासन के उपाय चिकित्सा शास्त्र की विद्या शास्त्र में वर्णित हों उसे "कल्याण चिकित्सा" कहते हैं।

सर्वांगीनित लाभण ४० प्रतिशत विकार काय चिकित्सा के अंतर्गत आते हैं। अनुष्ठि-
विकार स्थान, निदान व चिकित्सा की विशिष्टता के व्याधार पर काय चिकित्सा के होते हैं।
होते हुए भी शल्य, शालाक्य, प्रसूति अथवा अगद तंत्र आदि आयुर्वेद के अन्य अंगों
का सांगीकृत कर लिए गए हैं। यथा-ग्रन्थि, अर्द्धुद, भग्नदर, अर्सा, आदि योग शल्य तंत्र
संबंधित रोग हैं।

'कह्य' शब्द से समूर्वशरीर का बोध होता है एवं शरीर दोष धातु एवं प्रथ शुद्धित है। अतः इनकी विकृति से उत्पन्न होने वाले सर्वाङ्ग शरीर आकृति रोगों की चिकित्सा को "कह्य" चिकित्सा कहते हैं।

आत् चिकित्सा के विस भेद के अंतर्गत सर्वाङ्गी शारीरिक ज्वरादि रोग, मारणिक रोग, सांस्थानिक रोग यथा इद्यु रोग एवं अन्य विकृति जन्य रोगों को चिकित्सा का वर्ण हो दर्शे काफ़िय चिकित्सा कहते हैं।

क्रास डिक्टिला का कार्य क्षेत्र एवं मौलिक घटक तत्व

आयुर्वेद के जात अंद्रों में काय चिकित्सा को प्रधान अंक माना गया है। क्यों आयुर्वेद के अन्य जाहू भी किसी न किसी रूप में काय चिकित्सा पर ही आधित हैं। अ-आयुर्वेद वा प्रधान जल काय चिकित्सा ही है। आयुर्वेद के इस महत्वपूर्ण अंक की चिकित्सा का ऐसा बहुत मिलता कार्य थेरू है। काय चिकित्सा का चिकित्सा विज्ञान के दो में अन्तर्मिलिक पटक फलों (Basic Components) के कारण विशेष स्थान है। अ-चिकित्सा के कुछ महत्वपूर्ण पटक तत्वों का सब रूप में यहाँ वर्णन किया जा रहा है-

1. (i) गोप, भूतीष पर्वती मुकामुख्यमि च। (अ.ह.नि. १०) ।
 (ii) वासिनी शुद्धिरेत्वा, तत्प्र निर्विकल्प काम परिकल्पात्।
 मध्यग वासीं देवताम् परिकल्पना काम परिकल्पना ५
 2. अत्र वाय संवेदे देवं-पापु वाय संवेदा उक्तो, तेवं कामय लिङ्गानां अव्याहारानि परिकल्पना काम परिकल्पना,
 प्राप्तं वाय संवेदं १७ पा इत्यत्प तंत्रा । (सु.म्. १७ पा इत्यत्प तंत्रा)
 प्राप्तं वाय संवेदं ३९० पा इत्यत्प तंत्रा ।



1. चिकित्सा के चतुर्पाद
 2. विषय आयुर्वेद
 3. अग्निदोष की चिकित्सा
 4. संरोधन चिकित्सा
 5. मानस रोग चिकित्सा
 6. संक्रान्तक रोग चिकित्सा
 7. रसायन - चार्जीफरण चिकित्सा
 8. ऋग उपस्थिति
 9. सर्वदा आतुर व्यक्ति
 10. दोगों की सर्वसामान्य चिकित्सा

1. चिकित्सा के वरपाद

किसी भी रोग के उपचार में चिकित्सा के चारों पाद आपस्यक होते हैं जो निम्न प्रकार हैं-

- i. भिषक् या चिकित्सक (Skilled & well trained physician)
 - ii. द्रव्य (Medicine / Drugs)
 - iii. उपस्थिता (Nursing Staff)
 - iv. रोगी (Patient)

i. भिपक्ष— विकित्सा में सफलता के लिए चिकित्सक का योग्य एवं नियुन होना अत्याधिक है ज्याकिं विकित्सा के बारों पारों में चिकित्सक हो प्रभुत है। अतः उचित चिकित्सक में नियम घार गुण अनिवार्य रूप से होने चाहिए—

1. शास्त्रों का अच्छी तरह से ज्ञान होना।
 2. अनेक बार दोस्री, औपचारिक निर्माण तथा औपचारिक प्रयोग का प्रत्यक्ष दृष्टा होना।
 3. दक्ष होना अर्थात् सम्पद के अनुसार युक्ति को कल्पना करने में परम चतुर होना।
 4. मन, वचन व कार्य से भवित्र होना।

ii. द्रव्य (औपैथ)— द्रव्य (औपैथ) चिकित्सक के पात्र, चिकित्सा का दूसरा प्रधान पात्र है। औपैथ के ज्ञात्य में चिकित्सक चिकित्सा करने सम्पादन करने में अत्यधिक रुद्धि होती है। उत्तम घ प्रशंसन औपैथ में निम्न गुण अवश्य होने चाहिए-

- | | | |
|----|---|-----------|
| १. | पित्राद्वयाद्युत्सवात् एतीं पदयतुर्वक्ष।
गुणवत् कार्यं तेर्व विकलाल्पसान्तर्वे ॥ | (च.म् ७३) |
| २. | कुरु पर्यदत्तर्वं पदुर्वं द्वाकर्वीता।
द्वाक्यं शीर्षप्रवर्त्तं द्वयं विंश्टुतुप्राप्तयम्॥ | (च.म् ७६) |
| ३. | पद्मात् संग्रहयनेकविषयक्षवक्षा।
सप्तवर्षीति सप्तवर्षोऽप्य द्वाक्यं गुणवत्त्वम् ॥ | (च.म् ७७) |

1. बहुलता— औषधियाँ सर्व मूलभ, अनेक गुणों से युक्त, बहुत होनी चाहिए।
 2. योग्यता— औषधि व्याधि नाश में समर्थ होनी चाहिए।
 3. अनेक विधि कल्पना— एक ही औषध से स्वरस, कल्प, काष, रुक्ति, अवलोह आदि कल्पनाओं का निर्माण किया जा सके।
 4. सम्पत्ति— औषध अपने गंध, वर्ण, रस, गुण, वीर्य, विग्रह प्रभृति गुणों से युक्त हो।

‘औषध ग्रहण काल’— आचार्य चरक ने औषध ग्रहण करने के दराकाल तिथि किये हैं जो निम्न प्रकार हैं—

(1) अधिक, (2) मध्य भक्त, (3) पक्षात् भक्त, (4) सांगम् अपीक्षक, (5) संशासि, (6) ग्रासन्ता, (7) मुहूर्मुहू, (8) सामुदाग, (9) सभक्त, (10) प्रग् क्षादि। इनका विश्लेषण से वर्णन आगे किया गया है।

iii. परिचारक (उपस्थाना) — आतुर की सेवा करना प्रत्येक छांकि के लिए सहज नहीं है। प्राकृतिक रूप से किसी किसी में ही सेवा भाव के गुण पार जाते हैं। इसलिए जो स्थानाधिक रूप से सेवा करना जानता हो उसे ही रोगी की सेवा करने के लिए विशुद्ध करना चाहिए। आजकल परिचारक को शिक्षा (training) देकर Nursing Staff के रूप में विकसित किया जाता है जिससे आतुरालय के कार्य में चुविपा होती है। और कल्प, द्वाष व अनुपान की कल्पना व इनका समय पर रोगी को सेवन करना विकित्य की सहकाला के लिए आवश्यक है और यह कार्य परिचारक के अधीन है। इन परिचारक में निज गुण अनिवार्य रूप से होने चाहिए—

१. उपचाराज्ञता— सेवा कार्य का पूर्ण ज्ञान।
 २. दक्षता— अपने कार्य में दक्ष या निपुण होना।
 ३. असुरग— रोगों के प्रति प्रेम-प्रीति होना।
 ४. शौच— आचरण में पवित्रता होना।

iv. रोगी (आतुर) २— रोगों चिकित्सा का अंतिम व महत्वपूर्ण पाद है, क्योंकि रोगी नहीं होगा तो चिकित्सा किसको को आपेगी? अतः उत्तम रोगी में निज चार गुणवत्त्व होने चाहिए—

१. पैदलाली भुजाली मध्ये पैदलालीपुर्णः ।
गान्धुली भावारीपुर्ण द्वारालालीद्वयः ॥
 २. उपवासना उपवासनापुर्णात् पर्तिर्णी ।
राखं पंच अख्यातो गुण चांपे जडे ॥
 ३. स्मृतिरैत्रीविकल्पकलेवलमध्ये ।
दारुपात्र गं गैववस्त्रामुग्रं गुणः स्मृतः ॥

- स्मृति सम्पन्नता — रोगी की स्मरण शक्ति अच्छी हो ताकि अहं रोग के बारे में सम्पूर्ण जानकारी दे सके।
 - पिंडेश्वरातित्व — चिकित्सक के निर्देशों का सम्पूर्ण रूप से पालन करेयाला होना चाहिए।
 - आभीरु — रोगी को निःशर इवं ठज्जम सत्य गुन मुक्त होना चाहिए।
 - ज्ञापक — रोग य उसके उपद्रवों को अच्छी तरह से बता सके।

2. विस्तृ आव्हेद

स्वस्थ एवं आत्मों (रोगियों) के लिए उत्तम मार्ग चलाने वाला है तु (प्रिदान), लिङ् (लक्षण) और औषध का शाधत ज्ञान कराने वाला त्रिसूत्र आपुर्वद है। इसे "त्रिस्कन्ध" भी कहा जाता है। यही रोग का हेतु लक्षण एवं उसके उपचारार्थ औषध का ज्ञान चिकित्सा का महत्वपूर्ण अंक है।

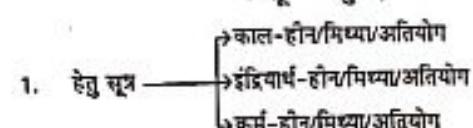
- (1) हेतु सूत्र— किसी भी व्याधि को उत्पत्ति में प्रधान हेतु (निदान) काल
संक्षिप्त रूप से अर्थ का हीन-पिण्डा-अति चोग, प्रदापराप्त व परिणाम है।

(ii) लिङ्ग सूत्र — किसी भी व्याधि के पूर्णत्व, रूप, उपराय, अनुपराय एवं सम्बन्धि, ये लिङ्ग सूत्र कहलाते हैं। “रोगस्तु दोषप्रभयं दोषप्रसाप्यमारेण्टा॥” दोषों का विवर होना ही रोग है, यही व्याधि का लिङ्ग है।

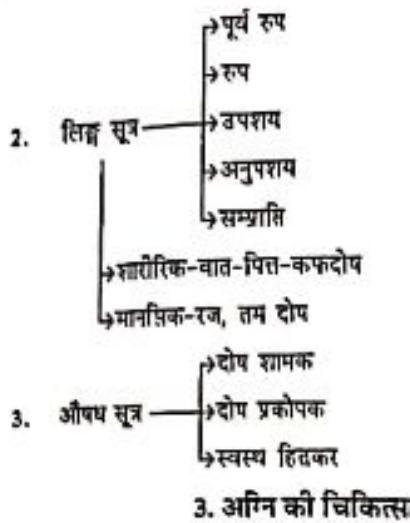
(iii) औषध सूत्र— द्रव्य को औषध कहा जाता है। औषध से पथ्याप्य व चिकित्सा दोनों का ग्रहण होता है। किसी भी रोग के प्रतिकार के लिए औषध का प्रयोग किया जाता है। ये औषध भी दोनों को शांत करने जाती, धातुओं को दूषित करने वाली तथा स्वस्थता में हितकारी होती हैं।

संक्षेप में विस्तृत आपर्वेद को निम्न ग्रालिका में दर्शाया जा रहा है-

त्रिसत्र आयर्वेद



१. देवताप्रियान् स्वस्युपदेष्यम्।
विश्वे तापां तु पुरे युक्ते यं तिरमहः ॥ (च.म् 1/14)
 २. हयसन्तोषीप्रियान्तोयोगः, इत्यपादः परिमाणेति प्रपत्तिक्षिप्तिकद्वा हेतवो-
विवर एव, तत्प्राप्तिकर्त्तु इत्युक्तिवयो परमि ॥ (च.म् 11/43)
 ३. किञ्चित्प्रियान् किञ्चित्प्रियान्।
स्वस्यात् एव तिरिप्रियान् ॥ (च.म् 1/68)



"काप" का अर्थ जटराग्नि किया गया है तथा विकृत जटराग्नि की विविधता "कांपदंबिकलसा" कहा है। आयुर्वेद में अग्नि को 'जीवन' की स्थिति का मूल भूमि है। आयु, बल, वर्ण, स्वास्थ्य, डत्साह, शरीर संवर्धन, प्रभाव, ओज, देहानि एवं इन स्थिति का मूल कारण जटराग्नि का सम्पूर्ण व्यापार है। जटराग्नि सभी अग्नियों के लिए है। इसके जाता (नट) होने पर प्राणी को मृत्यु हो जाती है एवं विकृत होने पर दुष्ट हो से ग्रस्त हो जाता है।

सामन्य रूप से सभी रोगों का मूल कारण मन्दाग्नि माना गया है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत अग्नि विकृति जन्य समस्त रोग यथा-च्छ, ठडररोग, ग्रहणी दोष, अंतःग्नि विशुद्धिका, अलसक एवं विलम्बिका आदि रोगों का समावेश कर इनकी चिकित्सा की जाती है।

13 अग्निपाँच निम्न प्रकार की जगह उपयोग हैं-

- (i) 1 जरानिं (अन्तरानिं या कोष्टानिं)
 (ii) 5 भूतानिंयौ
 (iii) 7 धात्रिनिंयौ

- अयुवंशेषं व्याप्त्याद्युक्तोपचर्ये इति ।
वैक्तसेऽप्यद्युक्तोपचर्या दैवानिर्देशम् ॥
ततोऽप्यैषां चिकित्सा, युक्ते चिकित्सान्वयम् ।
ऐती स्मृतिः तृणांश्चिकित्सान्वयम् ॥
 - धौप्राप्त्येवकथम् एवाद्याप्तम् ॥
 - सर्वपर्फैक्षण्ये ततोऽप्युक्तं युतः ।
यज्ञसर्वान्वयः पाण्डित्यां चिह्नप्रसादात् ॥

इन सभी में जठराशिन प्रधान है। इन अग्नियों के कारणों में मन्दना आ जाने से विभिन्न ग्रेह उत्पन्न होते हैं। जठराशिन की विकारी को निम्न 3 भागों में विभक्त किया गया है—

- मन्दारिन**—यह अग्नि उचित माझा में सेवन किये गये आहार को भी नहीं पचा पातो है। कफ दोष की प्रधानता के कारण मन्दारिन डालक होतो है।
 - तीरण्याचिन**—इस प्रकार की अग्नि गुण य अधिक माझा में किये गये आहार को भी शीघ्रता से पचा डालतो है। आहार न मिळते कबी स्थिति में दोष को, दोष के बाद धनुजुओं को एवं अन्य प्राणों को पचा डालतो है। पित दोष की प्रधानता के कारण तीरण्याचिन (भास्मक) जैसे रोग उत्पन्न होते हैं।
 - विषमाचिन**—अपथ सेवन से अग्नि विषम हो जाती है। विषमाचिन घाह किये गये (भुज) आहार को कभी ठोक से पचा देती है और कभी ठोक प्रकार से नहीं पचा पातो। विषमाचिन में वाटदोष की प्रधानता होती है।

प्राकृत अग्नि [समाप्तिन]

इस अवस्था में अग्नि सम प्रमाण में रहते हुये उचित गान्धी में ग्रहण किये गये आहार को उचित समय पर भाली-भैंसी पचा देती है। सन्तानिन की सियति स्वस्य पुरुष में होती है।

अग्नि दृष्टि के प्रधान हेतु

आधार्य चरक ने अतिन दुष्टि के कारणों का विस्तृत वर्णन किया है। भोजन न करने से, अर्जांश्चाल्पा में भोजन करने से, अतिमात्रा में भोजन करने से, कभी ज्वाला-कपो कम व कपो समय पर कफ़ी आसानी पर (विषमासन) भोजन करने से, असाध्य (प्रकृति विपरीत) भोजन से, मुख-दौलत-अत्यन्त रुदा-दूषित आहार सेवन से, विरेचन-वमन-स्नेहापान के विभ्रम से, दोर्चकलत तक रोग ग्रस्त रहने से (व्याधिकर्ण) उत्पन्न कुशाता से, देश-कालत व अतु की विषमता से, मल-मूत्र आदि के खोगों को रोकने से दुष्ट हुई जटरानिं घ्राहण किये गये लघु अल्प को भी उचित रूप से नहीं पचा पाती है। यह अपचित अल्प शक्ति (विष) बन जाता है।

आचार्य मुश्रुत के अनुसार विषपात्रन से, अति जलतान से, वेगवरोध से, स्वप्न या निद्रा विषर्पय (दिन में सोना, रात में जागना) से, डकित य लपु भोजन भी ठीक प्रकार से

- | | | | |
|----|--|--------------|------------------|
| 1. | a) गरिन्पु तु शारोरु पूर्विंपि निरोगे गतप्रेतं परवति । तथा-सीरो, अद्व, सो, विषयन्ते ति । | भवनप्रवापः ॥ | (च.पि. 6/12) |
| | b) विषयोऽनु वैष्णवं करोति विष्णवं च ॥ | | |
| | दुर्योगे विद्वद्वयं तथावृत्त्यगतेऽति ग ॥ | | (च.पि. 15/50-51) |
| 2. | अप्तेनकृद्देवतामेवत्तिष्ठमान् ॥
असत्यन्युद्योगाद्विद्वयान्तु भेदवत् ॥
अपवृद्धानि शाकं च पूज्य विषयप्रप ॥ | | (च.पि. 15/42-44) |

जीर्ण (पान) नहीं होता। इसी प्रकार ईश्वा, भव, ग्रोथ, लालची, शोकप्रसन्न व दोनों ।
कुछ ग्रन बाटे पुल्प का भी अन भली-भाँति नहीं पचता।

अजीर्ण को चिकित्सा होने पर जब जड़तांत्र मद हो जाती है तब अजीर्ण रोग छुट्ट होता है। भोजन को अपरिचलनावस्था ही अजीर्ण है। अजीर्ण का उत्पत्त उत्पत्त न होने पर असमक, विलिङ्गका, विसृचिका, अतिराष, प्रहणी दोष, अम्लपित्त, तिरु, भ्रम, ज्वर, प्रपाहिजा, अजीर्ण, चक्षना, पीनस आदि रोग उत्पत्त हो सकते हैं। अजीर्ण के दोषानुसार जिन भेद यादे यादे हैं—

1. आजाजीर्ण—कफ की अधिकता से जब अन्न में मधुरता उत्पन्न हो जाते हैं तब उत्पत्त का नाम 'आजाजीर्ण' होता है। इसमें पाचक रसों का साव कम हो जाता है तथा कफ के निश्चय हो जाने से पाचक रसों की कार्य शक्ति भी कम हो जाती है, परिणामतः अन्न का परिपाक ढीक से नहीं हो पाता। इस 'लंघन' कारण से लाप होता है। इस अजीर्ण से यक्षमा, चोनस व इयेह औ उत्पत्त हो सकते हैं।
2. विद्युत्तजीर्ण—जब दित दोष के कारण धाचक रसों का साव बढ़ जाता है तब मुक्त गाहार कुछ पक्व व कुछ अपक्व रहता है तब रोगी में अस्थान्, भ्रम, दह, लूपा, मुख्योग, मुर्छा व वित्तज रोग उत्पत्त हो सकते हैं। उन अजीर्ण में 'गमन' कर्म ही मुख्य चिकित्सा है।
3. विकृत्तजीर्ण—बुद्ध यामु दोष के कारण जब पाचक रसों का साव अल्प व अल्पविकृत होने से भुक्त अन्न का सम्मक्ष परिपाक सही समय पर नहीं हो पाता है, परिणाम स्वास्थ्य उत्तरशूल, आहार, आध्यात्म, प्रवाहण (Tenesmus), उदाहरित व आतंत्र रोगों को उत्पत्ति होती है। इसकी चिकित्सा में 'स्वेद' कर्म काम किये जाते हैं।
4. रसशोषाजीर्ण—कुछ आचार्य आहार के परिपाक से शोष बचे रहे व अपरिवर्तन के कारण उत्पत्त चौथे प्रकार का अजीर्ण भी मानते हैं। इसमें गुड़

1. गुड़ उत्पत्त विकृत्तज रसशोषाजीर्ण।
गोदारि समय सहु चर्चे पूर्वमें न पढ़े भवते नरम्।
परिपाकोरातिरीत सुधों द्वारा निर्दिष्टितेन।
गुड़कृत व सम्बद्धनक्त न उत्पत्त रातिरीतेति।
2. १ ग्रन लितन विकृत्त वर्गमें द्विविकृतिः।
सर्वत्र विरित्याति गुड़ गर्तेतः।
२) विवर्तन्य राम्यतांत्र, विवर्तन्य लक्ष्मसाम्यत्।
३) एवं उत्पत्त वर्गमें विवर्तन्य गर्तेतः।
४) विवर्तन्य गर्तेतः विवर्तन्य गर्तेतः।
५) विवर्तन्य गर्तेतः विवर्तन्य गर्तेतः।
६) विवर्तन्य गर्तेतः विवर्तन्य गर्तेतः।

(गु.गृ. 46/500-521)
(गु.गृ. 46/439)
(गु.गृ. 46/522)
(गु.गृ. 46/525)

उद्गार आने पर भी भोजन अनियन्त्र, हट गुस्ता, मुख में लालात्ताव आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसकी चिकित्सा में 'जायन' लगाना बहताया है।

5. दिनवार्षीय अजीर्ण—ज्ञानात्मनः भोजन का गुरु चरित्रक वात 24 वा 26 घण्टे है। यदि अधिक यात्रा में अस्थान व अकाल भोजन किया जाता है तो परिपाक उत्त निश्चय समय में न होकर आगे दिन होता है उसे दिनवार्षीय अजीर्ण कहते हैं। अधिक यात्रा में पचने वार दिन याकी अजीर्ण अध्ययन आदि उपदर्शीयों को नहीं करता, अतः उपर्युक्त चारों से भिन्न है। पाचन काल तक प्रतीक्षा करना जब्त भोजन न करना इसकी चिकित्सा है।

6. प्राकृत अजीर्ण—यह प्रतिदिन प्रतिब्लूमिंग को रहता है। भोजन करने के पश्चात् परिपाक की निश्चय अवधि में पूर्व अन्न अपरिचक हो रहता है और अपक्व आहार को ही अजीर्ण कहते हैं। विकार उत्पत्त न करने के कारण यह अजीर्ण 'प्राकृत अजीर्ण' कहलाता है। यह स्वाधारिक है। भोजनेवरान् याम यार्थ में सोने से यह ढीक रहता है।

4. संशोधन चिकित्सा

संशोधन चिकित्सा आयुर्वेदीय कायाचिकित्सा का विशिष्ट व प्रधान अंग है। संशोधन चिकित्सा के अनर्तात पंचकर्म का समावेश किया गया है। संशोधन (पंचकर्म) द्वारा दोषों का समूह निहरण हो जाता है तथा उनको पुनः उत्तर्पत्ति नहीं होती है। सम्पूर्ण पंचकर्म को निष्ठानुसार प्रदर्शित कर सकते हैं—

पंचकर्म (संशोधन चिकित्सा)

पूर्वकर्म	प्रधानकर्म	पश्चात्कर्म
1. पाचन	1. वापन	1. संसर्जन ऊम
2. स्वेदन	2. विवेचन	2. परिहार काल
1. उद्गारानुसारि धकार्द्ध व जायते हस्तुता व पल्ल। स्वाप्तोरेण तु नापतेकं चुप्तपेत्ता उद्देशनदीर्घं।		(सु.गृ. 46/523)
2. अजीर्ण वान्यवे केविनदीर्घ दिवसकि च। स्वाप्तोरेत्ता वान्यवे अजीर्ण।		(पर्नि. 6/6)
3. वापन विवेचन नायं निरहारानुकालन्। एवानि वाप्त फलांति विवितानि पुरोहीः।		(गा.स.3. व. 8/63)
4. दोषः स्वाधार्वं कृप्यनि वित्त लक्ष्मपापनैः। वित्तः संगोपनेते तु तेऽप्ते पुरात्प्रभव।		(प.म. 16/20)

- | | | |
|-----------|------------------|-----------------|
| 3. स्वेदन | 3. आस्थापन यस्ति | 3. रसायन रोगन |
| | 4. अनुपासन यस्ता | 4. शमन चिकित्सा |
| | 5. नस्य कर्म | |

दोषों का कोष्ट से शादा गमन!

दोष का बारे में अतिथिक व्याख्याम करने से, उपमा तीर्थयज्ञ से, अहिंसकर आहार-विधान का पैकड़ करने से और चायु वीं अतिथिक गति से दोष कोष्ठ को छोड़कर भाष्णा (रस, रेत, धातुओं) में चले जाते हैं एवं अनुकूल परिस्थिति पाकर रोग उत्पन्न करते हैं। अतः लोक शब्दनार्थ परोप के निर्वरणार्थ दोषों को यथास्थान (कोष्ठ) में लाना एवं निकटतम के (मुख, गुद, नासा) से बाहर निकाल देना ही चिकित्सा का एक मुख्य सिद्धान्त है।

दोषों को शाखा से कोष में लाना।

1. दोप्हे को शाखा से काढ़ न हानि।
 2. दोप्हे का चिलाय करना।
 3. दोप्हे का शाक करना।
 4. सोते का मुख शोधन करना।
 5. शापु का निष्पत्रण करना।

५. बातु का नियम-
ये सभी प्रक्रियाएँ पंचकर्म (पूर्वकर्म-स्नेहन, स्वेदन) हारा सम्पादिता को जाती हैं। स्नेहन से दोषों का विलयन, मृदुता व जलतीयांश को बढ़ावा देता है। स्वेदन से दोषों का नाश होता है तथा सोतों से विषेष दोषों के स्थान छोड़ने से लोतसों के मुख शुद्ध बनते हैं। वपन, विरोचन, चक्षि (निरुह) व नस्यकर्म (शिरोविरोचन) के माध्यम से दोष निकटतम भाग से आहर निकाले जाते हैं।

आचार्य चरक ने निर्देश दिया है कि दोषों के उपस्थित (डॉल्स्टिट) होने पर स्नेह-स्वेदन कराकर मात्रा व काल का विचार करते हुये पंचकर्म कराना चाहिये। उपस्थित होने वाले हैं जो स्वयं स्वाहर निकलने के लिये चलायमान हो। यदि दोष स्वयं उपस्थित न हो तो पूर्वकर्म (स्नेह-स्वेदन) द्वारा उनके बहिर्मुख का शोधन (पंचकर्म) का प्रयोग करना चाहिये। कृषि ज्ञावालों के विचार से यदि दोष स्वयं उपस्थित हो तो स्नेह-स्वेदन करने

१. अद्यतात्पुराणामीत्यन्विषयवाचयत्।
कोषाद्याना मतावर्द्धनं द्रुताद्यन्वालय च ॥
द्रवाद्यसु विलम्बते कर्त्तव्यं सप्तमीतः ।
गदेश्वरास्ते कुप्यति भूयो हेषुलोकिः ॥ (च.म. 2831-32)
 २. शुष्टप विवन्दनाग्रं पात्रां रोहनेषुर्विकारप्रभाः।
सातां शुष्टां वासः कोष्ठं दर्शनं कर्त्तव्यं निधानम् ॥ (च.म. 2833)
 ३. गच्छुर्विकारानां स्नेहादेवदेवददैः ।
पञ्च कर्त्तव्यं कुर्वीत मात्राकानी विवाचय ॥ (च.म. 2835)



अलगावादशयक नहीं है। आचार्य नरक ने अधिगत प्राप्ति में समूर्ण पंचकर्म करने का निर्देश दिया है। प्राचीभारत जैया के संस्थानों में उभकं पंचकर्म में दृष्टि होने की ओर संकेत किया गया है। नरक संहिता के सिद्ध स्थान में पंचकर्म का गविन्दार वर्णन किया गया है। आचार्य सुभूत तथा गाप्तन ने भी पंचकर्म में उपयोगों द्वारा का संग्रह य उनके नियमों का सविस्तार वर्णन किया है।

संस्कृत से लाभ

1. कोहु शुद्ध होना
 2. जठराग्नि प्रदीप होना
 3. रोगों का शमन होकर स्वास्थ्य लाप होना
 4. इन्द्रिय, मन, सुदृढ़ एवं वर्ण निर्मल होना
 5. घत की घुड़ि होना
 6. संतानोत्पत्ति की क्षमता बढ़ना व शरीर पुष्ट होना
 7. शुक्रधातु यूद्ध होकर पौल्य शक्ति बढ़ना
 8. यूद्धावध्या देर से आना
 9. रोगमुक्त दीर्घ जीवन प्राप्त होना
 10. दूषित वाता-पित्त-कफ-मूत्र-पुरोग का दोषर्हित होना
 11. रसायन व वाचोकरण प्रयोग से सम्पूर्ण फल प्राप्ति

शंखकर्म का वित्तत वर्णन कायचिकित्सा चतुर्थ भाग में किया गया है

5. सार्वजनिक चिकित्सा

शरीर एवं मन ये दोनों रोग (दुःख) व सूख के आश्रय स्थान हैं। मन का व्याधिग्रस्त होना अनुमान द्वारा निश्चित किया जाता है, यद्यपि शारीरिक रोग कालानार में मानसिक एवं मानसिक रोग शारीरिक रोगों में परिवर्तित हो जाते हैं। जिन रोगों का प्रभाव पहले मन पर पड़ता है उन्हें 'मानस रोग' कहते हैं। इन एवं तम को मानसिक दोष कहा जाया है। सत्त्व अविकारी व प्रकाशक होने से दोष की द्रेणी में नहीं आता।

- | | | |
|----|---|-------------------|
| 1. | बक्षप्रान्तुक्तिरात्यू देवतावहर्मस्तद्।
मुद्ग ज्वरहरात् कलै यम्याना पासीति॒॥ | (च.पि. 3/146-147) |
| 2. | अस्मद्या यापीनो चत्वक्यामि षेषद्। | (च.मृ. 284) |
| 3. | हता विधा हि केपसे शरीर छो...।
..... सवात्तवहारक्तहै व्यवहारेत्वा। | (च.मृ. 297) |
| 4. | एवं विशुद्धोऽुष्टय कायानीनामिवधी।
.....। | (च.मृ. 16/17-18) |
| | तत्त्वात् संरक्षणं कलै द्वुष्टिकृ विकेतः। | (च.मृ. 185) |
| 5. | शतोरं सत्त्वात्तु च यापीनामाक्षमी मी। | (च.मृ. 157) |
| 6. | प्रापाः प्रदत्तिरो इत्यह तम् एव च। | |

मानस दोष रज व तम को दृष्टि करने में निम्न तीन प्रमुख कारण होते हैं—

1. असाध्येन्द्रिनार्थ संयोग
2. प्रवापराध
3. परिश्रम या काल

मानस रोगों के बनक अन्य कारण भी हैं, यथा-इच्छित वस्तु का न मिलने वा अनिच्छित (अवांछित) वस्तु का प्राप्त होना।

मानस रोगों की चिकित्सा में धर्ष, अर्थ एवं काम का सामर्जनस्य स्थापित कर, स्वयं समुचित उपयोग करना चाहिये। त्रिविध चिकित्सा में 'सत्त्वाजय' चिकित्सा मुख्य मानस रोगों में ही प्रयुक्त की जाती है। मन को आहतकर विषयों से हटाना ही मानस चिकित्सा है। इसके अल्लिरिक आदायों ने मानस रोगों की चिकित्सा में पञ्चकर्म चिकित्सा (संशोधन) व संशयन चिकित्सा का भी वर्गन किया है। आचार्य चरक ने ज्ञान, विद्या, धैर्य, सृति व समाधि द्वारा मानस रोगों को शान्ति करने का विधान बताया है।

इस प्रकार मानस रोगों की चिकित्सा का अन्तर्भूत भी काय-चिकित्सा के अन्तर्भूत ही समाहित है।

6. संक्रामक रोग (जनपदोद्घवंस) चिकित्सा*

प्रकृति आदि भावों के पित्र होते हुए भी मनुष्यों के अन्य सामान्य भाव यथा-ज्ञान, वृत्त, देश एवं काल के विकृत होने पर एक ही समय में, एक सामान सक्षणों वाले ही दररक्त होकर बनस्पूत् को नष्ट कर देते हैं, इस प्रकार के रोग जनपदोद्घवंस या संक्रामक रोग (Epidemics) कहलाते हैं। प्राचीन समय में युद्ध के समय खाद्य-ऐप पदां (जलार्दि) में विष का प्रयोग द्वारा विषेली गैस, चूर्ण, तैल आदि के छिड़कात्र द्वारा वा एवं भूमण्डल को दृष्टि करके सामूहिक नरसंहार (जनसंहार) किया जाता था। वर्तमन समय में भी प्रयुक्त कार्बन मोनो आमसाइड, बल्टोरोफ्लोरो कार्बन, अमु गैस, क्लोरीन, मिथाइल बाइसो-साइनाइड (MIC) आदि जहरीली गैसों का प्रयोग भी जिनकाले होता है। बहुत सी व्यापियाँ यथा-यिसूचिका, अतिसार, आन्त्रिक ज्वर, नेत्रापिण्ड, तुप दौंग, ज्वर, प्लाग, डॉग, यद्धा, डिझोरिया, सार्स, इलीपद, मूर्धिकर्दा ज्वर, धनुषर्त आदि में जीवाणुओं के लक्ष्य मा अन्य माध्यमों से शरीर में संक्रमण होने पर विभिन्न अवयवों की व्यापियाँ ढल्प हो सकती हैं एवं बहुत हो गीव्रता से संक्रामक रोगों के रूप में जनसामान में फैल सकती हैं।

1. तत रुद्धिर्ण्यो द्वयनामि दोषात्प्रियं चिकित्प्रकारम्।
तद्यथा-असाध्येन्द्रिनार्थदोषोऽप्यप्रवाप्तः। प्रद्युपाधः पर्याप्त्यर्थितः॥ (च.वि. ६४)
2. मानसं प्रति वैष्वर्यं विकाराव्यवैष्वर्यम्। अर्द्धसंया विकाराव्यवर्यार्थो च गर्वशः॥ (च.सु. ११५)
3. मानसो ज्वानवजानवैष्वर्यं भूति गर्वशिष्यः। (च.सु. १५८)
4. ते चात्मने भावः स्वामन्यं बनान्तु भवन्तः तद्यथा-यात्; उद्देशं, देशः, कालः इति॥ (च.वि. ३६)

संक्रामक रोगों की चिकित्सा में निम्न दो तरह के उपाय किये जाते हैं—

- (1) अनागतवापा प्रतिवेध या स्वयम्भास्योर्वैक्षक या प्रतिवेदनम् चिकित्सा (Prophylactic treatment)
- (2) आगतवापा प्रतिवेध या अतुरास्य गोगनुत चिकित्सा या आर्वास्यक चिकित्सा (Symptomatic treatment)

अनागतवापा प्रतिवेध चिकित्सा में दैवव्यवहारप्रय चिकित्सा यद्या यन्त्र-मणिप्राप्त, चति, उपहार, यज्ञ, हवन आदि का प्रयोग एवं रसायन चिकित्सा, स्वयम्भूत, सद्यूत आदि का प्रयोग आरोग्य लाभ दिलता है।

आगतवापा प्रतिवेध चिकित्सा में रोग के सकान दल्पत होने पर दोष के संरोपनप्रय धंककर्म चिकित्सा एवं संशयन चिकित्सा प्रयुक्त की जाती है। इनमें युक्तियन्त्रय, दैवव्यवहारप्रय व सल्वादय चिकित्सा का समावेश है। रोग प्रतिवेधक धनता बढ़ाने के लिये रसायन द्रव्यों (Immunomodulators) का प्रयोग भी किया जाता है। इसके अल्लिरिक आचार्य चरक ने जनपदोद्घवंस से चर्वने के निम्न उपाय बताये हैं—

1. सत्य वचन जोलना एवं सद्यूतवहार करना।
2. प्राणिमात्र के प्रति जीवदया का भाव रखना।
3. देवताओं की पूजा करना व चर्ता देना।
4. दान करना।
5. सद्यूत व सदाचार का पालन करना।
6. ज्ञात्वर्चय का पालन करना।
7. धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र की चर्चा करना।
8. ज्वरी, मुनि, महर्षि, नितेन्द्रिय पुरुष की सेवा करना।
9. आचार रसायन का सेवन करना।

7. रसायन-वाजीकरण चिकित्सा

आयुर्वेद के प्रथम प्रयोजन 'स्वस्यस्य स्वास्मरकम्' को पूर्ण के लिये आद्य चरक ने विविध रोगों की चिकित्सा देने के पूर्व रसायन-वाजीकरण (स्वस्यस्यस्योर्वैक्षक चिकित्सा) का उल्लेख किया है। रसायन चिकित्सा का प्रयोग स्वास्थ्य व्यक्ति व चिकित्सा) की उत्तमता एवं रोगी के रोग के उत्तमता प्रयोग किया जाता है। वाजीकरण व स्वास्थ्य की रक्षार्थ एवं रोगी के रोग के उत्तमता प्रयोग पुरुषों में प्रथान लूप से मैथुन शक्ति वृद्धि के लिये एवं उत्तम सन्तानप्रयोग (सुवहुप्रजा:) की कामना से किया जाता है। आदायों ने रसायन-वाजीकरण सेवन संशोधन (धंककर्म) व संसर्जन के पक्षात् अन्न प्रदीप होने पर ही सेवन करने का नियम लिया है।

1. यार्थ धन्यालिङ्गं तेषां भेषजं परमुच्चये।
रसायनेन विधिव्यवोपयोगः इत्याप्तो॥ (च.वि. ३/१३-१४)
2. यार्थं भूते.....
.....सुवर्णं ॥ (च.वि. ३/१५-१६)
3. स्वस्यस्योर्वैक्षकं चतु ल० यूर्वं तदसामन्॥ (च.वि. ३/१६)

काय-चिकित्सा

दिया है। रसायन-वाचीकरण का विस्तारतः वर्णन कायचिकित्सा चतुर्थ भाग में किया गया है।

8. त्रय उपस्तम्भ^१

आहार, निदा व ब्रह्मचर्य-से स्वास्थ्य के तीन उपस्तम्भ बताये गये हैं। उपस्तुक तीव्र उपस्तम्भ स्वस्थ व्यक्ति व आत्म के लिये अति महत्वपूर्ण है। ये तीन जीवन के आधार हैं। एवं इनका जीवन पर्यन्त सतत् पालन करना आवश्यक है। ये स्वस्थपूर्ण के प्रमुख अवस्थाएँ होती हैं ही साथ ही आत्म परिचर्या में इनकी व्यथोचित पालना आवश्यक है।

9. सर्वदा आत्मर व्यक्ति^२

आचार्य चरक ने श्रेष्ठिं (वेद पाठी-अध्ययनत), राजसेवक, गणिका तथा वैद्य को सदा रोगी ज्ञाता है। यहाँ आचार्य यह कहना चाहते हैं कि ये व्यक्ति स्वस्थामें नहीं रह पाते यद्योंकि इहें अन्य लोगों के लिये सदा तत्पर रहना पड़ता है जिससे ये सदा आचार रसायन एवं स्वस्थपूर्ण का पालन नहीं कर पाते। यस्तुतः ये चारों ही व्यक्ति इत्यादिक या मानसिक रूप से सदा अस्वस्थ रहते हैं। इस प्रकार के व्यक्तियों के तिरंस्वस्थ संबंधक उपाय किए जाने अत्यावश्यक हैं।

10. दोषों की सर्वसामान्य चिकित्सा

दोषों की सामान्य चिकित्सा के लिये आचार्य वाग्भट्ट ने पृथक-पृथक दोषों के लिये पृथक-पृथक व्यवस्था बर्तित की है। शोधन औपचार्य क्रम से बात हेतु वस्ति, पित के लिये विरेवन एवं कफ के लिये बवन कर्म ढाकूष्ट हैं। आचार्य चरक ने बात दोष के शमन के लिये हेतोपद, पित दोष के लिये धूत तथा कफ दोष के लिये मधु प्रधान शमन औपचार्य करने का विधान बताया है।

काय चिकित्सा का सामंजस्य आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में वर्णित Internal Medicine से स्थापित किया जा सकता है जिसके अन्तर्गत विभिन्न रोगों की चिकित्सा करने का निर्देश आवाजों द्वारा किया गया है।

आयुर्वेदीय काय चिकित्सा का चिकित्सा क्षेत्र में विशिष्ट योगदान

आयुर्वेदीय काय चिकित्सा विषय को अन्य चिकित्सा पद्धतियों व आयुर्वेद के अन्य अंगों में विभिन्न है। इसको निम्न मौलिक विशेषतायें हैं जिनके कारण यह आधुनिक चिकित्सा विज्ञान एवं अन्य चिकित्सा पद्धतियों से पृथक् व विशिष्ट हैं-

- उप उपस्तम्भः इच्छाः स्वान्दे, ज्ञानविर्भवः। एर्फिल्यापूर्वितुं पुक्तेन्द्रियस्त्रियुत्तराणीः, शारीर बल वर्णोरुद्धै-पूर्ववर्त्तिक व्यवहारः। लोकाण् त्रिव्यक्तिर्विकल्पमुन्मुक्तेष्वात्मन्य, व इहोपदेशवते॥ (च.सू. 11/36)
- अस्तर्विवेतः, नक्षत्राद्वापाग्नि च एव्यायामसाधारणः। (च.सू. 11/37)
- शरीरवार्य देवता इत्येवं वार्षीयवद्। वर्तिविविक्तिवाचन तथा देवी धूर्ण चपुरः। (च.सू. 11/37)
- मधु रसेन्द्रियवाचनवर्णं, वर्तिविविक्तिवाचनवर्णं, विनं वाक्त्वेष्वायामवर्णं, वपर्य त्वंवाचनवर्णं, विवर्य विवहारां, वर्तिविविक्तिवाचनवर्णः॥ (च.सू. 25/30)



काय चिकित्सा विवेचन

1. दोष परक चिकित्सा

एक ही व्याधि में दोष की प्रधानता के अनुसार चिकित्सा विकल्प भिन्न हो जाता है। यथा—यातिक फास व कफज कास को चिकित्सा में भिन्नता है। उदाहरणार्थ गुरुक फास में सिरोपलादि चूर्ण तथा आईकास में तालोमादि चूर्ण का, माम अन्तरिति में सूखेखर रस का तथा निराम अन्तरिति में कामदुफारस का प्रयोग सर्वत्र पूर्वक किया जाता है।

2. व्यक्ति परक चिकित्सा^३

आयुर्वेदीय चिदानन्दों के अनुसार चिकित्सा को द्रुटि से प्रत्येक व्यक्ति दस्ती देण से वीड़ित अन्य व्यक्तियों से पूर्णतः भिन्न है। अतः एक ही औपचार्य रोग विशेष के अनेक रोगियों में ज्ञात लाभकारी नहीं हो सकता। प्रकृति-विकृति, वय, देश, काल आदि प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न होते हैं। उसी के कुनूर एक ही रोग की चिकित्सा निष्ठ-भिन्न रोगियों में अलग-अलग ढंग से करने का विधान है। आचार्य चरक ने कहा था है कि यही व्यक्तिसक वेष्ट होता है जो प्रति उपर अलग-अलग औपचार्य योगों की कल्पना करता है।

3. निदान परिवर्जन चिकित्सा^४

जिन चिदानन्दों के सेवन से रोग उत्पन्न होता है सर्वप्रथम उन्होंने निदानों का परिवर्त्यन करना ही चिकित्सा है। यद्यपि रोग के कारण का परिवर्त्यन नहीं किया जायेगा, तब उक्त रोग मूलरूप से नष्ट नहीं होगा। इसलिये प्रत्येक रोग के संरोधन, संरक्षण उपचार के साथ निदान परिवर्जन का भी वर्णन किया गया है। जो कि चिकित्सा को संरक्षण के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

4. रोग रोगी परीक्षा^५

किसी भी रोगी की चिकित्सा के पूर्व रोग परीक्षा एवं निदानों (निदान, पूर्वरूप, रूप, उपचार, सञ्चारिति) के द्वारा रोगी परीक्ष, दशाविधपरीक्ष (प्रकृति-विकृति-सार-संहनन-प्रयाण-प्रयाण-सत्त्व-व्यायामशक्ति, आहार शाङ्क-वय) के द्वारा करने के पक्षात् ही रोग-विनिश्चय कर, चिकित्सा कर्म सम्पादन के लिये औपचार्य किया जाता है।

- प्रोगमांस तु ये विद्यादैशकातोलादितम्।
पुरुष पुरुषं वृत्तं स त्रैषो विद्युतान्॥ (च.सू. 17/24)
- संरोपनं संरामनं निदानम् च वर्जयत्।
संरोपनं संरामनं निदानम् च वर्जयत्॥ (च.सू. 1/25)
- एषवृत्तिविवाकार्य रोगे रोगे वर्तिविविपि॥
प्रत्येकवृत्तिविवाकार्य रोगे रोगे वर्तिविविपि॥ (च.सू. 7/30)
- प्रत्येक विविक्तिविवाकार्य देवदत्तोऽप्यवाचित्।
वपेवत्वात्तीर्थादेवता हि वर्ती वर्ती॥
दामदत्तेवीषपादीवत् पाठ्यवद् वर्ती वर्ती॥
कुरुक्षिर्विविक्तिविवाकार्य देवदत्तो न वर्ती वर्ती॥ (च.सू. 30/320, 326)

5. उपराह रहित चिकित्सा
 आयुर्वेद में वही चिकित्सा मान्य एवं श्रेष्ठ है जो रोग विनियोग का गमन के साथ अन्य रोग (उपराह) को उत्पन्न न करे। आयुर्वेदीय चिकित्सा में प्रयुक्त ग्रन्थियाँ और प्रायः उपराह एवं विशाक प्रभाव (Side/Toxic effects) रहित होती हैं।

6. जरा (Premature Ageing) :— इसके
रसायन औषध के प्रयोग से दीर्घ जागु, सूति, बल, चर्ण, मेध, वांश्य आदि अंडा
प्राप्ति होती है। रसायन चिकित्सा के विधिवत प्रयोग (वातातिपक व कुटोवंशतिपक)
बल, चर्ण, सूति, रौप्यन तथा आज्ञातिपक ज्ञान की प्राप्ति अनेक मरीचियों ने स्थैतिक
है। रसायन चिकित्सा का विधिपूर्वक सेवन व्यक्ति को वाक्सिन्डो युक्त प्राप्ति करा-
सकता है।

७. संशोधन (पंचकर्म) चिकित्सा द्वारा रागा का अनुभव आयुर्वेदिक संशोधन अन्तर्गत वर्णित संशोधन (पंचकर्म) चिकित्सा में सम्बन्धित होकर शीघ्र रोग उत्पन्न नहों करते रखने के लिए लाभ प्राप्त होते हैं। शोधन द्वारा कुपित हुये दोषों को समोपस्थ यां (द्रव्य, घटकालीय, नासा) से निर्हरित कर देने के पश्चात उनके पुनः उत्पन्न होने को संप्रवृत्त रहते हैं।

८. काप्रीयपि प्रयोग

मायूर्वेदिय कार्याचिकित्सा में काष्ठीपथियों का प्रचुरता से प्रयोग किया जाता है। भवन्तिपथ कथाप कल्पना के आधार पर स्परस, कल्प, शृतपीत, फलाण्ट एवं कपत इनमें काष्ठीपथि का प्रयोग रोगियों के रोग निवारणार्थ उनके बल, चम्प एवं रोग के कारण किया जाता है। काष्ठीपथियों के किस भाग को, किस स्थान से, किस त्रैम् तें तद इसमें एकत्र करना चाहिये, इस भवन्त्य में स्पष्ट नियम एवं विधान संहिता व नियम में वर्णित हैं। यथा—तेवप्त्र के पते, विंडंग के बीज, आमलकी का फल, नामरो दुक्षिण लूटि का चयन औपरि निर्वाणार्थ किया जाता है। कौन सा द्रव्य नवन अपृष्ठन तेना चाहिये उभके भी स्पष्ट संकेत हैं। औपर निर्माण य उभके संरक्षण

१. दासः स्वेच्छाप्रति देवतानामुदारेत्।
दासी शिष्यः शुद्धा हमलोन न करेत्येत्।
 २. दीर्घाक्षुः स्मृति पैदाकालीनं तात्परं यथः।
इत्याकालीनां दीर्घाक्षयानं चाप्तु।
 ३. वर्णस्तुद्दृष्टिं दृष्टिं वर्णनं सप्तं न याताद्युग्मत्।
दीर्घः कर्तव्यं कुरुत्यन्न विद्य दातुरात्यर्थः।
 ४. दिवं संस्तोषद्वैष्टे तु न तेऽपि प्राप्तवाप्तः-

सुप्राप्त उत्तरेण संहिताओं में उल्लेख है। काठीवर्गितों का वैदिक संग्रह (रम-गुण-
शीर्य-विषयक आदि फा) पञ्चमहार्षीतिक होते में यह पाञ्चर्षीतिक गंगा (विंग) के
तिष्ठ हास्तिनेश नहीं होती है।

१ रसीषधि प्रयोग

आयुर्वेद में रसीषधियों का प्रयोग प्राचीन काल में होता था इह है। गोद, यज्ञोपवी, उपरस, साधारण रस, रत्न, उपरस, धातु, उपरस, यिद, उर्द्धवर्ष एवं सुधार्यां के द्रव्यों का प्रयोग उनके शोधन-पारण परवान औरण योग के रूप में किया जाता है। गोदन में उनमें विशिष्ट दोष, मल व असुखदाय अलग हो जाती है तथा गोदन से निर्मित भस्त्र व पिण्डी उत्तम गुणवत्ता वाली होती है। भस्त्र अटिमृद्घम (Micro particles) रूप में होने से योग्य ही शरीर में अवशोषित होकर अन्ने औषधों प्रभावों को उक्त करती है। रसीषधियों का प्रयोग दोष-दूष-देत्ता-कहन एवं यंगी-पारंशु की अवैष्ण के बिना किया जाता है। रस भस्त्रे वात्सन अस्त्र मात्रा में प्रयुक्त होने के कारण, स्वर्वदीन होने के कारण एवं स्वचकर व योगी हो रसादि धातुओं में रोकित होने के कारण यंग हर व शैष्ठ दोषी हैं।

१० राजीवरण चिकित्सा

वाजीकरण में अल्प, दुष्ट, क्षीण एवं गुप्त वीर्य वाले ननुओं के वीर्य की पुष्टि, स्रोतन, बृहिं और उत्पत्ति तथा स्वस्य लोगों में मैदून के समय हर्ष बढ़ाने के लिये उत्ताप और दौधप का वर्णन किया गया है। यह चिकित्सा आवश्यक वही भौतिक चिकित्सा है।

11 प्रायापद्म चित्तिला

आचार्य लोलितम्प्रसाद ने कहा है कि "यदि ये गो पश्च सेवन कर रहा है तो अप्यप सेवन की क्षमा आवश्यकता ? और यदि अपश्च सेवन कर रहा है तो भी अप्यप सेवन से क्षमा लाप्ति ?" इससे "पश्च-अपश्च" के महत्व का ज्ञान होता है। अनुरुद्ध में पश्च का बहुत महत्व है। अतः देश-काल-प्रकृति सार-मंहान्-मात्रा-भूमि इन सभी के देखते हुये पश्च का निर्पाण करना चाहिये। आचार्य चरक ने कहा है कि सारो रूपो मार्गं (पथ) का जो अपकार करने वाला नहो है और जो मन को ड्रिये है, वह पश्च कहन्ता है। किसी व्यापि के निवारण हेतु चिकित्सा के स्थ॒-साप पश्च सेवन का स्म॑ निर्देश

- | | | |
|----|--|---------------------|
| 1. | न देवात्मा न देवता न दूष्यात्मा परोपाध्यः।
न देवात्मा न कालवय वार्ता रामचिकित्साते ॥ | (रामचिकित्सा 4/29) |
| 2. | अलक्षणादेवप्रदीप्तिप्राप्ताद्वयेऽग्रहात् ।
किञ्चनादेवप्रदीप्तिप्राप्ताद्वयेऽग्रहात् राम ॥ | (रामेश्वर मंडप 1/4) |
| 3. | सर्वे सती गदावीर्य किलोपुरुष निरेवते ।
सर्वोऽग्रहा गदावीर्य किलोपुरुष निरेवते ॥ | (वीर वीरा) |
| 4. | सर्वे सर्वैऽन्तेऽग्रहावीर्योऽग्रहावीर्य निराश ।
सर्वावीर्यप्रवर्त्य एव निराश तत्त्वावृत्येव ॥ | (अथ 25/45) |

आचारों ने किया है। पर्य सौंदर्य व्याधि जनक कारणों के गिरफ्तारी गुण गाला अतः चिकित्सक को प्रत्येक दृष्टि से विचार कर समुचित पथ का निर्देश देना चाहिये।

12. दयालुता का भावः

रोगी के प्रति दया का भाव रखना, पुण्यत् उपचार करना एवं उपके रोगों के दूर करना ही आयुर्वेद का उद्देश्य है। आयुर्वेद में दया, अपेक्षा में स्थायी की कल्पना, त्याग य संयम को सदाचार का मन्त्र कहा गया है।

13. धर्म परायणता की भावना

आयुर्वेद मठानुसार रोगों का एक कारण पूर्व जन्मकृत पाप को माना जाता है। इस कारण के लिये दैवत्यप्राणीय चिकित्सा यर्जित है। आचार्य चरक ने चिकित्सा का व्यवसाय का साधन नहीं यत्न निष्ठाय सेवा का माध्यम कहा है एवं चिकित्सा के रोगों से भ्रष्टाचार करने को सोने की गठी के बदले धूल की गठी बौने की भी की।

प्राचीन काल में आयुर्वेद का उपयोग दुर्लभी जनों की निष्ठाय भेदों के लिये रखा था, वर्तमन समय में इसका स्वरूप बदल गया है।

14. मोक्षप्रयत्नक नैष्ठिकी चिकित्सा

आयुर्वेद में नैष्ठिकी अर्थात् मोक्ष प्रयत्नक चिकित्सा का वर्णन मिलता है। इस उत्तरार्थ कृत्य प्राप्ति के उपायों का वर्णन भी किया गया है। दुर्लभ में पूर्णतः निष्ठा द्वारा दीर्घकालीन चिकित्सा के माध्यम में बतलाया है। मोक्ष प्राप्ति के साधने वश विकार का विधि विज्ञान में विनाश आन्ध्राकाश करने से मनुष्य जीवन-मृत्यु के एवं नुड होकर मौत प्राप्ति कर सकता है। यह आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति की मिठाइ है।

15. आयुर्वेद प्रकृति के मर्माय प्राकृतिक चिकित्सा

आयुर्वेद चिकित्सा के गिराव ग्रन्ति के गिरावों के बहुत ही नवाँ अनुकृति संगठनों यथा यन्मर्म, यन्त्रिज, धनु, जाग्रम् इत्य आदि के द्वारा

1. अनुकृति ग्रन्ति यन्मर्म यन्त्रिज धनु।
स्वर्व धूट गर्वे एवं ग्रन्ति गिरि गिरावः।
2. निष्ठा द्वारा दीर्घकाल वश वश नैष्ठिकी।
नैष्ठिकी दीर्घकाल दृष्टिकृत्यादः।
3. धूटी एवं धूमावे विविधानान्तरावल्यः।
वै विव वशवश एवं नैष्ठिकीन्द्रियः।
4. धूट दीर्घ धूमावे विविध वश वशिषः।
वैष्ठिकी विविध एवं वशिषेवायः।

(वृत्ति १)
(वृत्ति २)
(वृत्ति ३)
(वृत्ति ४)

की जाने वाली चिकित्सा आयुर्वेद में गर्जत है। आयुर्वेद में अन्वेषणात् प्रथम दृष्टियों में चिकित्सा यीं जाती है एवं यारी भी इनीं पांच यदृग्मूलों से बना है। अतः "यदृ दृष्टे दृष्ट व्याप्तेः" के ग्रन्त में आयुर्वेदीय चिकित्सा विद्याओं के अन्यतर चिकित्सा करने से शोध ही साध प्राप्त होता है।

16. सामी एवं सर्व सूलभ चिकित्सा

किंचिद् स्वर्ण-यज्ञ आदि जीवन रक्षक औरप गोर्गों को छोड़कर मानवान्दः आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति साती य वर्ति गुलभ है। अधिकांश औरप इत्य आमतदे में ग्रन्त हो जाते हैं। ईतिक चीयन में उपयोग में आने वाले अनेक इत्यों का इत्योग आयुर्वेद में चिकित्सा के रूप में किया जाता है। यथा-हिंग, जीरक, रात्ता, दैयन, लवज, अब्जाइन, लवन, दूष, भुजक, गुण्डी, गोरी, दालघोंडी, तेजवश, कर्ण, धूत, मृदु, नरिच, रिन्जी, गुड, गल्हा आदि का प्रयोग वीथि के रूप में किया जाता है जो कि सर्व सूलभ ग्रन्ते इत्य हैं और विशिष्ट साधकारी हैं।

17. विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा मान्यता प्राप्त चिकित्सा पद्धति

आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति को विश्व स्वास्थ्य संगठन ने वैकल्पिक चिकित्सा पद्धति (Alternative System of Medicine) के रूप में मान्यता प्रदान की है। आयुर्वेद में वर्जित स्वस्थ्य पुण्य की परिभासा विश्व स्वास्थ्य संगठन के स्वस्थ्य पुण्य की परिभासा से अत्यधिक सामर्जन्य रखती है।

स्वपदोपः समाग्निशु समपातुम्भत फ्रिदः।
प्रसात्रात्मनियमना: स्वस्थ इत्यभिधीयते॥

(नु. ८, १५/४१)

आयुर्वेद में शारीरिक, मानसिक, मामादिक देश आप्तविक चुनून की ग्रन्ति करने वाली अवस्था को ही 'स्वस्थ' माना है। वेष्यन रूपा या देवाभाव को ही स्वस्थ्य नहीं कहा जा सकता। इसी भाव की दौलत एवं स्वास्थ्य यो आपुनिक्तम् व्याकर परिवास विश्वस्थ्य संगठन ने भी ग्रन्तकार को है तिमकं अनुमत-

"Health is a state of complete physical, mental, social and spiritual well being and not merely absence of disease or infirmity".

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विश्व में अनेक धूमर की चिकित्सा पद्धतियां उत्तम्य एवं प्रतिलिपा हैं। पाल्नु आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति की ग्रन्तों विशिष्ट प्रवचन है और अपने विशिष्ट ग्रन्तों के कारण गर्वान में उपयोग अनेक वैकल्पिक य सम्मानिक चिकित्सा पद्धतियों (Alternative Systems of Medicine) में आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति सर्वोपरि एवं अग्रण्य है।

*** (८) ***

पष्टम् अध्याय

४५४
व्याधि विवेचन

व्याधि की विषयता

1. "हृद् पीड़ावों अहे च" धातु से 'धन्' प्रत्यय लगाने पर 'रोग' जनक है विसका अर्थ है—पीड़ा देने वाला।
2. विभाष्म उपसर्गपूर्वक धारण तथा पोषण अर्थ की "दुधान् धारण पोषण" (जुहोलायादि) धातु से "उपसर्गं धोः किः" (पाणिनोप सूत्र ३/३२) : 'किः' प्रत्यय देने पर व्याधि शब्द बनता है।
3. "दुधान्" धातु में "वि" उपसर्ग लगाकर "विविधा आप्तेऽप्तम्" (अपरकोश १/७/२८) विविध दुःखमादधारीति व्याधि (च.च. १/५) अर्थात् विशेष एवं मन में विविध दुःख हो उसे व्याधि कहते हैं।
4. व्याधि शब्द "व्यथाडने" धातु से बनता है जिसका अर्थ है शाहन कह घटनाना, चीढ़ित करना। "व्यथा ताढ़ने इति—अस्य रूपं व्याधि।"

व्याधि की निरूपिका

1. "कुलाधिर्मनसी व्यथा" (अपरकोश १/७/२८) तथा "आपीपते दुःखं इति व्याधिः" (चामाक्रमी टीका) अर्थात् विसके द्वारा दुःख हो इति व्याधि कहते हैं। यहां 'आपि' शब्द मानसी पीड़ा के अर्थ में प्रयुक्त है।
2. "व्यक्तं व्यसनं चोः पीड़ापिष्ठान माधवः।" (अपरकोश ३/३२) इति व्याधि शब्द से व्यक्त, व्यसन, मानसी पीड़ा एवं अधिष्ठान का नाम है।
- ✓ 3. "विविधं दुःखमादधारीति व्याधिः" (च.च. १/५) अर्थात् विसके द्वारा मन में अनेक प्रकार के दुःख हो उसे व्याधि कहते हैं।
4. पुरुष का दुःख के साथ संयोग व्याधि कहलाता है।

✓ नोट—व्याधिर्मनसी व्यथा शब्दने।

5. उन शारीर अवस्थाओं को व्याधि कहा जाता है जिनसे मन को कह दोता है एवं जिनके प्रतिकार करने के लिये मन प्रयत्न करता रहता है।

6. जो शरीर, मन अथवा दोनों को कष्ट दें उसे व्याधि कहते हैं।

व्याधि की परिभाषा

1. धातु वैवाय की अवस्था विसके शरीर या मन को कष्ट हो 'रोग' कहलाती है। धातुओं की साम्य मिथित रहने पर आरोग्य रहता है। आरोग्य को सुध कहते हैं तथा विकार को दुष्कृती कहते हैं।
2. चिकित्सा पुरुष अर्थात् चिकित्सा करने वाले पुरुष का कार्यिक, वाचिक या गानकिक दुःख के साथ संयोग होता ही 'व्याधि' है।
3. दोषों की विषयावस्था का नाम 'रोग' अथवा 'व्याधि' है। दोनों के विषय या विकृत होने पर ही योग को उत्पत्ति होती है।
4. लक्षणों के समूह को व्याधि कहते हैं फँकाक इन्होंने समूहों के समूह से व्याधि विविद्यता किया जाता है।
5. दोष-दूष सम्बन्धित (दोष दूष की एक दूसरे के साथ प्रतिक्रिया संयोग) ही रोग या व्याधि है। दोष एवं दूष के विसेष प्रकार के संयोग को ही दोष-दूष सम्बन्धित कहा जाता है। यह दो प्रकार से प्रकट होती है—

✓ प्रकृति समस्पर्शवत्—दोष-दूष के सम्बन्धित होने वाले दोष के लक्षणों को उत्पत्ति होना यथा—आपात, अतिसार आदि में दोष-दूष के अनुसार ही विकृति होती है।

- ✓ प्रकृति विषयसम्पर्शवत्—दोष-दूष के अनुरूप लक्षण प्रकट होने वाले विविध प्रकार के विविट्ट लक्षण प्रकट होते हैं। यथा—आपात यथा व्याधियाः।
6. चात्-पित्त-कफ (त्रिदोष) के हारावन्य में किसी भी प्रकार के वैवाय या व्याधि जाने से रोग उत्पन्न होता है। अतः त्रिदोष को विषमता ही रोग है यथा इनकी साम्यावस्था ही आरोग्य है।

1.	पितोषण मार्पणो अर्थिनिवेशने प्रतोक्त्वात् वर्तेऽरोग द्विष्ट व्याधिः।	(हात्तलेपनमार्पणः)
2.	विविधं दुःखपादवृत्तं हस्ती वर्तित व्याधिः।	(अप्त दृष्ट)
3.	विसको पातुरेवाय साथ प्रकृतिलक्षणोः।	(प.पृ. १०४)
4.	सूख संत्रक्षमतोर्य विकारो दुःखये च।	(पुरुष १२३)
5.	रोग दुःख संयोग व्यापयः उच्चन्ते।	(वृद्धा १२०)
6.	रोगानु दोषवैवर्यः।	(संघार)
7.	त्रिदोषप्रदायनकौशी व्याधिः।	(त्रिवर्धितः)
8.	दोष-दूष सम्बन्धित विसेषे अर्थात् दुष्कृत व्याधिः।	(५ मात्स्यान् टीका)
	पातुरुद्योगावलम्ब्य तामृतं प्रकृतिर्वा स।	(कलावय महित्य पृ. २७६)

१. शरीर या मन में उत्पन्न प्रतिकूल घोटना को दुःख या 'व्याधि' कहते हैं।
२. पुरुष के आगन्तुक, मानस, शरीर एवं स्वाभाविक रोगों के साथ दुःख लक्षण संयोग को 'व्याधि' कहते हैं।
३. संताप उनके अनुभव हो 'व्याधि' है।
४. जिनके रहने पर या जिनके कारण या जिन परिस्थितियों से दुःख उत्पन्न होता है वे 'व्याधि' कहताती हैं।

यहाँ पर संदेह होता है कि जब हम दुःख को ही व्याधि मानते हैं तो शरीर वे होने वाली व्याधि को हम दुःख नहीं कह सकते, व्याकुल सुख-दुःख को अनुभूति तो आत्मा का लक्षण है न कि शरीर कह। अतः व्याधि आत्मा में होती, परन्तु आत्मा ने विचिकित्सा की।

इसके समाप्तन में आचार्य विजयरक्षित ने कहा है "दुःखयति इति दुःखम्" अर्थात् दुःख के हेतु भावुकैश्च एवं उसके कार्य को ही व्याधि स्वीकार करते हैं। यह भावुकैश्च शरीर में होता है आत्मा में नहीं।

भावुकैश्च होने के पश्चात् उसके कार्य स्वरूप जो लक्षण प्रकट होते हैं वह व्याधि हो है। आवाय चरक ने कहा है कि जिन रोगों का उत्सौख किसी विशिष्ट रोग के ज्ञान नहीं होता है उन्हें उस अवस्था में लक्षण ही मानना चाहिये न कि व्याधि, जैसे ऊरु (Fever) एवं स्वार्थीक रोग भी हैं किन्तु 'कास' एवं 'रक्तपित्त' के साथ प्रकट होने पर व्याधि उपराश्मा रोग का प्रधान लक्षण होता है।

मुख्यांकों दृष्टि से लक्षणों को निम्न दो भागों में विभक्त किया जा सकता है-

१. लक्षण (Symptoms)—जिन लक्षणों की अनुभूति रोगी स्वयं करता है तथा विनका ज्ञान रोगी से प्रश्न पूछकर किया जाता है वे लक्षण कहे जाते हैं। यथा— अलीच, अलिनिया, शुष्पा, तृप्ति, दाह आदि।
२. चिह्न (Signs)—जिन लक्षणों की अनुभूति चिकित्सक स्वयं परीक्षा हार्दि करता है उन्हें 'चिह्न' कहते हैं। यथा—पाण्डुता (Pallor), नेत्र का वर्च (Icterus), यकृत प्लॉडा की स्थिति, नाड़ी गति (Pulse Rate), श्वासाल्ली (Respiration Rate), हृदय गति (Heart Rate), शॉकिंग परीक्षा (X-Ray) आदि वा ज्ञान चिकित्सक रोगी की परीक्षा करके करता है।

- ✓ १. गत इन्सुलिन दुर्बलता।
 २. गत पुरावक दुर्बलता विकासी वैषम्यानुभूतिनामे व्याधि। (गुग्ग १/२३ पर उत्तर दीक्षा)
 ३. दुर्बलताने उत्तरवाद्य अनुभव व्याधि।
 ४. गत पुरावक देख सम्भव विवरणहीं ऐसों वा दुःख व्याधि व्याधि। (गुग्ग १/२३ पर उत्तर दीक्षा)

व्याधि के पर्याय

"व्याधीनां व्यवहारार्थं सक्षणार्थं च पर्यायानाह व्याधित्वादि।" (च.नि. १/५ पर चक्रपाणि दीक्षा) से स्पष्ट है कि व्यवहारार्थ तथा लक्षणार्थ एकमर्गाची अनेक शब्दों का प्रयोग शास्त्रीयों में मिलता है उन्हें पर्याय कहते हैं।

आचार्य पुनर्वसु आद्रेय ने व्याधि के निम्न पर्याय वर्णित किए हैं—

१. व्याधि
 २. अपाय
 ३. गद
 ४. अर्तंक
 ५. यक्षा
 ६. ज्वर
 ७. विकार
 ८. रोग
- आचार्य वाग्भट्ट ने इन पर्यायों के अतिरिक्त पापा, अवाय एवं गम को भी व्याधि के पर्याय बताया है। इन सभी से कष्ट या वेदना का दोष होता है।

१. व्याधि—अर्थात् जिसके उत्पन्न होने से शरीर एवं भूमि किसी प्रकार का कष्ट हो वह व्याधि है।
२. आपाय—"प्राप्येणासमुत्पत्तेनामय इत्युच्चते।" (च.नि. १/५ पर चक्रपाणि दीक्षा) अर्थात् सभी रोगों के मूल में आप रस या आम कारण भूत बनता है। अतः सभी रोगों को आपाय भी कहते हैं। अधिकांश रोगों का मूल कारण मंदाग्नि है एवं मंदाग्नि से निर्धारित ही आप दोष को उत्पन्न होती है। आमाशयोत्तर व्याधि हीं या पञ्चाशयोत्तर दोनों में ही "आप दोष" अवस्थित हो सकता है।
३. गद—"गद इव गदः।" अनेक कारण उत्पन्नाद् भवादि व्याधि गदानेक कारणजस्तथा गदोपीति गद शब्दस्वार्थः। (उत्तर दीक्षा) जिस प्रकार अनेक कारणों से 'गद' बनता है उसी प्रकार व्याधि भी अनेक कारणों से उत्पन्न होती है अतः उसे भी 'गद' कहते हैं।
४. आर्तंक—"तकि कृच्छूजीवने" भागु से आर्तंक शब्द बनता है। रोगी को अत्यन्त कष्ट के साथ दुःख मुळ दोषन विलापा पड़ता है इसलिये व्याधि को आर्तंक भी कहते हैं।
५. यक्षा—आपुवेद में रोगों के सपूर्ण को भी यक्षा कहते हैं। प्रत्येक रोग में अनेक लक्षण होते हैं एवं प्रत्येक लक्षण रोग भी हो सकता है। इसलिये

- ✓ १. गत व्याधिग्राहणे गद अलंकृते यक्षा व्याधि विकारी रोग इत्यनामतम्। (च.नि. १/५)
 २. व्याधित्वादे विकार आलौक यक्षा व्याधि व्याधित्वादे दुर्द्यामये यक्षा रोग इत्यनामतम्। (च.नि. १/६)
 ३. आर्तंक गति कृच्छू जीवने उत्पन्न यक्षा रोग गृह्णन्ति व्याधि।
 गैरिग्राहकवासी यक्षा व्याधि विकारी रोग व्याधि व्याधि। (आपद्व)

पश्चा के संपादन अनेक रोग समूह से मुक्त होने के कारण आगे बढ़ते हैं। पर्याप्त 'यज्ञमा' भी माना गया है।

6. ज्वर—व्याधि का एक पर्याप्त 'ज्वर' भी है यांत्रिक प्रतोक्ष यांत्रिक एवं मन में संताप होता है। ज्वर के होने पर शरीर में ताप की अवधि गति वैधित, अतः इन्हाँनि आदि मनःसंताप के लक्षण उत्पन्न होते हैं 35. ये की एक संज्ञा 'ज्वर' भी है।
7. विकार—व्याधि से प्रसिद्ध होने पर मन, शरीर, चुंडि वाहा इन्डियों के कल हिम या विकृत हो जाते हैं अतः व्याधि को विकार भी कहते हैं।
8. रोग—प्रत्येक रोग में रुग्ण (पीड़ा) होती है, कोई रोग ऐसा नहीं है जिसमें पीड़ा न हो। अतः व्याधि का एक पर्याप्त 'रोग' भी है।
9. पाप्ता—पूर्वजन्म में या इस जन्म में किए गए पापों से व्याधि उत्पन्न होती है। अतः आचार्य वागभृत ने व्याधि का एक पर्याप्त 'पाप्ता' भी बताया है।
10. आवाध—व्याधि के कारण रोगी के विभिन्न कार्य सम्पादन में वापि उत्पन्न होते हैं एवं रोगी को अनेक प्रकार की पीड़ा होती है। अतः व्याधि का एक पर्याप्त 'आवाध' भी है।
11. दुःखम्—'दुःखमित्यनेन उपतापकल्व अनुभवं गमयति।' (अर्थ दृष्टि) रोगवास्त्वा में शरीर एवं मन को कम या अधिक मात्रा में दुःख की अनुभूति अवश्य होती है। अतः व्याधि का पर्याप्त दुःख भी है। इनके अविरिक निष्ठ संज्ञाओं को भी रोग-व्याधि के पर्याप्ति के अर्थ में प्रदृश किया जाता है।
12. रुक्—'रुक्ति देहम् इति रुक्।' (अमरकोश) जो देह को पीड़ा से लोड़ दे या अत्यधिक व्यथित या दुःखी कर दे उसे 'रुक्' या 'रोग' कहते हैं।
13. रुक्ता—'रुक्ता त्वामयभङ्गयोः।' (हेमः) शरीर में पीड़ा या भङ्ग होना 'रुक्ता' या 'रोग' है।
14. उपताप—'उपतापो गदे तापे।' (हेमः) शरीर एवं मन में ताप या संताप करने के कारण योग को उपताप कहते हैं।

1. मस्यादेवं प्रवद्यत्येत् अनेक रोग मुक्तार्थिकात्पार्ण दर्शयति लया यस्याकृत्यक्षमा पर्या पश्चा रोग भवत्यात्।
इन्द्रियः।
(अर्थ दृष्टि)
2. अस्यादेवं च देहम्, मनःवासनम्।
(च.पि. 1/5 च चतुर्वर्षी)
3. विद्युते वृद्धादिव यनः लोकाचापि विकृति अन्यथात् जनयतीत्यर्थः।
(अर्थ दृष्टि)
4. यन्ते गव्यान् वृद्धादिवयम्।
(च.पि. 1/5 च चतुर्वर्षी)
5. पापा इति वित्त चर्वे गोप, वाप्त्य वर्त्यः; अनेक इति पापा इत्युच्छौ।
(अर्थ दृष्टि)
6. आवाध इति वृद्धादिवयम्, काव्य मनांये पापने पीड़ा इत्यर्थः।
(अर्थ दृष्टि)

व्याधि विवेचन

15. आधिः—'आधीऽप्यतैन्येन अस्यन् या द्विं आधिः।' (अमरकोश)। नारी एवं मानसिक पीड़ा उत्पन्न करने के कारण योग को 'आधिः' कहते हैं।
16. तम्—'ताम्भति इति तमः।' योग होने पर जीवन में नियन्ता या जल्दी है एवं आंतर्णों के सामने अंधेरा दिखाता है। इन्हिन् योग को 'दम' भी कहते हैं।
17. दोष प्रकृति—योगों के मूल कारण दोष ही होते हैं। अतः योग को दोष प्रकृति कहते हैं।
18. दोष—दोष ही योग को उत्पन्न करते हैं। अतः योग को 'दोष' भी कहते हैं। चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, अष्टांग चिकित्सा अद्यान इत्यर्थ में द्विद्वय व्याधि के पर्याप्तों का वर्णन करव किया जा चुका है। विभिन्न वर्णों में व्याधि के सर्वांकों को एकत्रित करने पर व्याधि के निष्ठ 36 पर्याप्ति मिलते हैं—

- | | |
|----------------|---------------|
| 1. व्याधि | 19. दुःख |
| 2. गद | 20. रुक् |
| 3. आर्तिक | 21. आच |
| 4. आवाध | 22. अस्यादेव |
| 5. रुक्ता | 23. भप्त् |
| 6. उपताप | 24. घङ्ग |
| 7. उपताप | 25. अर्ति |
| 8. अमः | 26. दानोविकार |
| 9. अनार्द्धवम् | 27. गतानि |
| 10. भृत्युभय | 28. शय |
| 11. मान्य | 29. विकट |
| 12. आकृत्यवम् | 30. विकृति |
| 13. यश्चा | 31. दोष |
| 14. ज्वर | 32. दोषिक |
| 15. विकार | 33. शरीरव्य |
| 16. रोग | 34. यश्मन् |
| 17. पाप्ता | 35. व्याधि |
| 18. आवाध | 36. तक्षा |

1. निवास्य तु मुख्यं या यात्पर्यहमेवाप्यन्ते विरप्यत्।
2. सप्तांशो हि रोगात्पदो दोषेषु च व्याधिषु च।

काय-चिकित्सा

160

वेदों में भी गुणकर्म घेद से ज्वर के लिए निर्मांकित शब्द प्रयुक्त होते हैं।
श्रीरत्नोकः अथर्ववेद 19/36/10 शिर को पकड़ने वाला
अर्चिः अथर्ववेद 1/25/2 ज्वाला
तपुः अथर्ववेद 6/20/1 तपानेवाला
तक्षाः अथर्ववेद 5/22/1 कृच्छ जौवनकर्ता
ग्रहोदाः अथर्ववेद 1/12/2 पकड़ने वाला
आभिरोकः अथर्ववेद 1/25/3 सन्ताप कारक
विषदः अथर्ववेद 5/22/6 विशेष रोग
व्यहृः अथर्ववेद 5/22/6 विकलाङ्ग बनाने वाला
रुदः अथर्ववेद 6/20/2 रुलाने वाला
पहृषः अथर्ववेद 5/22/3 त्वचा में रुक्षता करने वाला
रिश्वशारादः अथर्ववेद 9/8/6 शरद ऋतु में व्यापक फैलनेवाला
च्वनः अथर्ववेद 7/116/1 स्वेद साने वाला
अङ्गभेदः अथर्ववेद 9/8/5 जिससे अङ्गों में पीड़ा हो
शूष्मः अथर्ववेद 1/12/3 शोषण करने वाला
सर्दनिदः अथर्ववेद 5/22/3 सदा रहनेवाला
शारदः अथर्ववेद 5/22/3 शरद ऋतु में होनेवाला
चारिंकः अथर्ववेद 5/22/3 चर्पा ऋतु में होनेवाला
अवृतः अथर्ववेद 7/116/2 विषमज्वर
वधुः अथर्ववेद 6/20/3 गीत ज्वर
अहगः अथर्ववेद 6/20/3 रक्त ज्वर
अध्रः अथर्ववेद 1/12/3 मेष से उत्पन्न होनेवाला

व्याधि घेद

'त एवार्थिसंख्येः पिण्डमाना भवन्ति हि।' तथा 'न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति भूय निर्यतः।' (च.म् 18/42-44)। आचार्य चरक के अनुसार रोगों के असौंख्य घेद हो सकते हैं और उनका नामतः दलेख नहीं भी मिल सकता है परंतु शास्त्रों में जिन नामात्मव एवं साम्बन्धित या अविष्फूटतम रोगों का वर्णन मिलता है, उनके आधार पर रोगों के खेदों एवं इकाग्रे का ज्ञान करना संभव है। विभिन्न आपुर्वोदीय संहिताओं में व्याधि को विभिन्न व्याचारों ने विभिन्न नामों से वर्णित किया है। विभिन्न संहिताओं के आधार पर व्याधि का विस्तृत वर्णन निम्न इकाइ है-

1. नामतः अनुवृत्तः।

(पुस्तक से संभाल दिया)

व्याधि विवेचन

161

आचार्य सुश्रुतोक्त व्याधि घेद (सु.म् 24)

आचार्य सुश्रुत के मानवानुसार व्याधि को निष्ठ खेदों में वर्गीकृत कर सकते हैं-

- I. I. शारीरिक
- II. I. मानसिक
- II. II. साध्य
- III. I. असाध्य
- III. II. स्नोहादिक्रियासाध्य
- IV. I. शस्त्र साध्य
- IV. II. औपसर्विंक
- IV. III. प्राक्तेवल
- V. I. अन्यत्वाध्यण
- V. II. आध्यात्मिक-इस वर्ग के मुनः 3 घेद बताये गए हैं-
 - (अ) आदिवल प्रवृत्त - मुनः 2 घेद हैं-
 - (1) मानून्
 - (2) पिण्ड
 - (ब) जन्मवल प्रवृत्त - मुनः 2 घेद हैं-
 - (1) रसकृत
 - (2) दीदापचामकृत
 - (स) दोषवल प्रवृत्त - मुनः 2 घेद हैं-
 - (1) शारीरिक
 - (2) मानसिक
- II. आधिभौतिक - इसका मुनः एक घेद है-
 - (अ) संघात वल प्रवृत्त - मुनः 2 घेद हैं-
 - (1) शस्त्रकृत
 - (2) व्यालकृत
- III. आधिदैविक - इस वर्ग के मुनः 3 घेद बताये हैं-
 - (अ) कालवल प्रवृत्त - मुनः 2 घेद हैं-
 - (1) व्याप्त ऋतु कृत
 - (2) अव्याप्त ऋतु कृत
 - (ब) दैववल प्रवृत्त - मुनः 2 घेद हैं-
 - (1) विषुत दानिकृत
 - (2) पिशाचादिकृत
 - (स) स्वभाववलप्रवृत्त - मुनः 2 घेद हैं-
 - (1) काल कृत
 - (2) अकाल कृत

- vi. i. आग्नुज
 - ii. शारीरिक
 - iii. मानसिक
 - iv. स्वाभाविक
- आचार्य काशयोक्त व्याधि भेद
आचार्य चतुर्थ ने व्याधि को निम्न भेदों में वर्गीकृत किया है-
- i. i. शारीरिक
 - ii. मानसिक
 - ii. i. साध्य
 - ii. असाध्य
 - iii. i. निव
 - ii. आग्नुज
 - iv. i. स्वतंत्र
 - ii. परतंत्र
 - v. i. तुष्टपचारज (दोष)
 - ii. चूर्वपचारज (कर्मज)
 - iii. दृष्टिष्ठ कर्मज (दोष-कर्मज)
 - vi. i. सहज- इसके पुनः 2 भेद हैं-
 - (अ) मातृज
 - (ब) पितृज
 - ii. गर्भज - पुनः 2 भेद हैं-
 - (अ) जल रसज
 - (ब) दौड़ापचारज
 - iii. जातज - इसके पुनः 2 भेद हैं-
 - (अ) संतोषज
 - (ब) असंतोषज
 - iv. कालज - पुनः 2 भेद हैं-
 - (अ) व्याप्तज
 - (ब) अव्याप्तज
 - v. पोषण - पुनः 2 भेद हैं-
 - (अ) शारीरिक
 - (ब) मानसिक
 - vi. प्रधावज

vii. स्वाभावज - पुनः 2 भेद हैं -

- (अ) कालज
- (ब) अकालज

आचार्य काशयोक्त व्याधि भेद

आचार्य काशय के मतानुसार व्याधि के विष भेद हैं-

- | | | |
|-----------|------------------------------------|---------------|
| i. i. | निग | ii. आग्नुज |
| ii. i. | साध्य | ii. यात्रज |
| iii. : | असाध्य | ii. कफज |
| iii. i. | आग्नुज | ii. यात्रज |
| iii. ii. | पितृज | iv. कफज |
| iv. i. | आग्नुज | ii. यात्रज |
| iv. iii. | पितृज | iv. कफज |
| v. | जिदोपन | |
| v. i. | मधुरज | ii. अन्तर्व |
| v. iii. | लवण्यज | iv. कटुज |
| v. v. | तिक्तज | vi. कथायज |
| vi. i. | चातज | ii. पितृज |
| vi. iii. | कफज | iv. चात-पितृज |
| vi. v. | चात-कफज | vi. पितृ-कफज |
| vii. | सात्रियातज | |
| vii. i. | चातज | ii. पितृज |
| vii. iii. | कफज | iv. चात-पितृज |
| vii. v. | चात-कफज | vi. पितृ-कफज |
| vii. vii. | सात्रियातज | viii. आग्नुज |
| viii. i. | अपरिसंख्येय (साम हीनाधिक दोषभेदात) | |
- i. एकविध व्याधि—'रुक्ष सापान्यात्' व्याधि एक प्रकार की होती है। आचार्य काशय ने महर्षि भार्गव के मत को लिखा है कि सभी रोगों में रुक्ष (पीछा) समान होने से रोगों का वर्ग एक ही है। आचार्य चरक के अनुसार सभी व्याधियों में दुःख सामान्य होने से रोग एक ही प्रकार के होते हैं।
- आचार्य हारीत व्याधियों की उत्पत्ति इस जन्म के या पूर्व जन्म के कर्मों को मानते हैं उनके अनुसार सभी व्याधियाँ 'कर्मज' हैं।

1. एको रुक्षे इवाकरण सापान्यादिति भार्गवः।
2. एकविधे पितृजे, दुःखसापान्यात्।
3. कर्मज व्याधः सर्वे भवति हि शारीरिकात्।

(काशय संहिता)

(पितृ. 6/3)

(हारीत संहिता)

II. द्विविध व्यापि—व्यापि के भेद आचारों ने अनेक दृष्टियोगों में । । ।
तथा उन्हीं के उपाय पर व्यापि के भिन्न-भिन्न प्रकार से द्विविध भेद याए गए हैं को ।
प्रकार हैं-

I. दशरोग्योक से द्विविध भेद

- I. प्रभाव भेद से - इसके पुनः 2 भेद हैं-
 - (अ) साध्य (ब) असाध्य
- II. बल भेद से - पुनः 2 भेद हैं-
 - (अ) मृदु (ब) दारुण
- III. अधिष्ठान भेद से - पुनः 2 भेद हैं-
 - (अ) मनोधिष्ठान (ब) शरीरधिष्ठान
- IV. निमित्त भेद से - पुनः 2 भेद हैं-
 - (अ) स्वधातु वैषम्यज (ब) आणनुब
- V. आशय भेद से - पुनः 2 भेद हैं-
 - (अ) आमाशयोत्थ (ब) पक्षाशयोत्थ

II. शल्य तंत्र की दृष्टि से

- I. शस्त्रसाध्य II. लेहादिक्षियासाध्य

III. द्विविध भेद

- I. प्राकृति II. वैकृति

IV. द्विविध भेद

- I. अनुबन्ध्य
- II. अनुबन्ध्य - पुनः 2 भेद हैं-
 - (अ) पूर्वज (ब) पश्चात्यात्

V. कर्म भेद से

- I. प्रत्युत्कर्म कर्मज II. पूर्वकर्मज

VI. साध्यता की दृष्टि से

- I. मुख्यसाध्य II. कुच्छसाध्य

VII. असाध्यता की दृष्टि से

- I. वाय्य III. प्रत्याख्येय

VIII. दोषानुसार भेद

- I. ग्रामन्त्रज III. नानात्मज

I. दश रोगानीक

आचार्य चरक ने विमान स्थान में प्रभाव, बल, अधिष्ठान, निमित्त य आवय भेद से रोग के द्विविध प्रकारों का वर्णन किया है तथा इन्हें सम्पूर्णतया रूप से 'दश रोगानीक' कहा है।

(I). प्रभाव भेद से —प्रभाव भेद से रोग दो प्रकार के होते हैं-

- I. साध्य II. असाध्य

साध्य रोग वे हैं जो चिकित्सा द्वारा शांत हो जाते हैं यथा ज्ञान। असाध्य रोग वे हैं जो चिकित्सा द्वारा साध्य नहीं होते तथा सभी दपक्रम करने पर भी असाध्यता प्राप्त होती है और रोगी को मृत्यु निश्चित होती है। यथा—अरुद (Cancer)।

(II). बल भेद से—बल भेद से रोग दो प्रकार का होता है—

- I. मृदु II. दारुण

बल निदान, दोष व दूष्य परस्पर अनुबढ़ नहीं होते या काल के प्रभाव से निवंत होकर अनुबढ़ होते हैं तब रोग मृदु स्वरूप का अत्यबलयुक्त होता है। परन्तु बल निदान, दोष व दूष्य अनुबढ़ होकर काल के प्रभाव से बलवान होकर रोग घटक्षय करते हैं तब यह दारुण स्वरूप का होता है।

(III). अधिष्ठान भेद से—अधिष्ठान भेद से रोग दो प्रकार के होते हैं—

- I. मनोधिष्ठान II. शरीरधिष्ठान

मनोधिष्ठान अर्थात् मन को आक्रमित करने वाले रोग या मानसिक रोग तथा हायोडिष्ठान यह रोग अर्थात् सर्वाङ्गी शरीर में होनेवाले शारीरिक रोग। अंडोगत्वा मानसिक रोग शारीरिक रोगों में एवं शारीरिक रोग मानसिक रोगों में बदल सकते हैं एवं देह-मनस रोग (Psycho-somatic disorders) के रूप में प्रकट हो सकते हैं।

(IV). निमित्त भेद से—निमित्त भेद से व्याधि के दो भेद हैं—

- I. स्वधातु वैषम्यज II. आणनुब

स्वधातु वैषम्यज-दोष-धातु-मल (3 रोग), 7 धातु (रस, रक्तादि), 3 मल तथा स्तूप, आर्तवादि उपधातुओं में विषमतां (क्षय-वृद्धि) होने से जब रोगोत्पत्ति होती है वह स्वधातु वैषम्य निमित्तज व्याधि कहलाती है।

१. है रोगोंके भेदः प्रधारोदेन - साध्यम् असाध्यम् च।
२. है रोगोंके भेदोदेन - मृदु दारुण च।
३. है रोगोंके अधिष्ठानभेद - मनोधिष्ठान, शरीरधिष्ठान च।
४. है रोगोंके निमित्तभेद - स्वधातुवैषम्यनिमित्तम्, आणनुबनिमित्तम्।
५. है रोगोंके अधारोदेन - आमाशयानुसारं, पक्षाशयानुसारं चेति।

कार्य-चिकित्सा

166

आगन्तुक-अधिकार, अभिशाप, अभिचार एवं अधिगंग आदि याता जगत् ॥ १ ॥
बाते रोग आगन्तुक कहलाते हैं । आपुनिक चिकित्सा शास्त्र में गोपन गोपन
(Traumatic) एवं संक्रमण जन्म (Infectious) व्याधियाँ आगन्तुक जगत् ॥
अन्तर्गत ही आती हैं ।

(V). आशय भेद से—आशय भेद से व्याधियाँ दो प्रकार की होती हैं—

i. आमाशयोत्थ ii. प्राणशयोत्थ

आमाशयोत्थ व्याधियाँ वे हैं जो आमाशय स्थल में विकृति उत्पन्न होने पर होती हैं ।
यथा शास, काल, ज्वर रोग आदि ।

प्राणशयोत्थ व्याधियाँ वे हैं जो प्राणशय स्थल में विकृति होने पर उत्पन्न होती हैं ।
यथा अविलार, आत्माह, विसूचिका आदि ।

ii. शल्य तंत्र की दृष्टि से व्याधि भेद

शल्य तंत्र को दृष्टि से आवार्य मुशुरा ने व्याधि के द्विविध भेद किए हैं—

i) शल्य साध्य ii) स्नेहादि क्रिया साध्य

शल्यसाध्य (Surgical Disorders)

शल्यसाध्य व्याधियाँ वे हैं जो शल्यकर्म या शल्य चिकित्सा द्वारा साध्य होती है जैसे लंगन-स्वेदनादि कर्म भी निषिद्ध नहीं है यथा अर्ह, भान्दर, मूडगर्भ आदि । इन के अन्तर्गत वर्णित समस्त व्याधियाँ प्रायः शल्य कर्म (Surgery) साध्य होती हैं ।

स्नेहादिक्रिया साध्य—इसके अन्तर्गत वे व्याधियाँ आती हैं जो केवल स्नेहादि क्रिया द्वारा साध्य होती है इनमें शल्यकर्म की आवश्यकता नहीं होती है । यथा लक्षण, रक्तान्तर, चुल्ल आदि । कार्यचिकित्सा के अन्तर्गत वर्णित समस्त व्याधियाँ प्रायः स्नेहादि क्रिया साध्य होती हैं ।

iii. प्राकृत-वैकृत भेद

i) प्राकृत रोग—जिस ज्ञातु में जिस दोष का प्रकोप प्राकृत रूप से होता है जैसे इस दोष से होने वाला रोग प्राकृत कहलाता है । यथा—वर्षा में जौ प्रकोप, बालन में कफ प्रकोप तथा जरद में पित्त प्रकोप होता है । अहं वर्षा वर्षन तथा जरद ज्ञातु में होने वाले क्रमशः बालज, कफज एवं पित्तज व्याकृत रोग कहलाते हैं ।

1. द्विविध व्याधि—शल्यसाध्य, निषिद्धित्वा-निषिद्ध तर शल्यसाध्ये प्राणशयोत्थ चिकित्सानि, योगी विशेषज्ञ शल्योत्थ चिकित्सा । (म.सं. १११)
2. व्याधिगमना योगीः प्राकृत-वैकृत ।
3. विशेषज्ञ योगीः प्राकृत-वैकृत ।

(म.सं. १११)

ii) वैकृत रोग—जिस ज्ञातु में विग दोष का व्याधावतः प्रकोप नहीं होता, उस ज्ञातु में उस दोष गे होने वाला रोग वैकृत रोग कहलाता है यथा—यर्था ज्ञातु में वापन ज्वर, शरद ज्ञातु में यावत ज्वर एवं वर्षन ज्ञातु में विनत्र ज्वर आदि वैकृत रोग के डाकारण हैं ।

iv. अनुवन्ध्य-अनुवन्ध्य भेद

i) अनुवन्ध्य—इसे स्वतंत्र व्याधि भी कहते हैं । वो रोग शास्त्रों में वर्णित निदानों से उत्पन्न हुआ हो, स्वयं स्वतंत्र वाला हो तथा शास्त्रोंके चिकित्साम द्वारा शांत हो, उसे अनुवन्ध्य या स्वतंत्र व्याधि कहते हैं ।

जैसे—अधिक परिव्रम जन्म सुदूर राघव विद्यम करने से टॉक हो जाता है तथा ऊप्पा, तीक्ष्ण विद्याही अव योग्य में उत्पन्न अन्तर्वित निद शास्त्रक (कार्य-तिक्त-मधुर) आहार व शोतन उपचार में शांत हो जाता है ।

ii) अनुवन्ध्य—इसे परतन रोग भी कहते हैं । अद्यां जो रोग दूसरे रोग के कारणों से उत्पन्न हुआ हो तथा दूसरे रोग की परिक्रमा से शांत होने वाला अस्पष्ट लक्षणों वाला हो तब वो दूसरे रोग को परतन रोग कहा है ।

जैसे—राज्यद्वया से पौष्टिक रोगों में ज्वर, काल, चौकन आदि रोग परतन की चिकित्सा करने पर स्वतः ही शांत हो जाते हैं । आवार्य महाभृत ने अनुवन्ध्य के दो भेद कहे हैं—

(अ) पूर्वज

(ब) पश्चात्जात

पूर्वज—जो लक्षण रोग के पूर्व उत्पन्न होते हैं वे नूरस्त कहे जाते हैं ।

पश्चात्जात—जो लक्षण रोग उत्पन्न होने के बाद में उत्पन्न स्वरूप उत्पन्न होते हैं ।

वा—राज्यद्वया के अंत में कर्ष्णमूलसांघ उपद्रव स्वरूप उत्पन्न होता है ।

v. कर्म भेद से

कर्म की दृष्टि से रोग के दो भेद हैं—

i) प्रत्युत्पत्र कर्मज

ii) प्रत्युत्पत्र कर्मज—इस जन्म में शरीर द्वारा किये गये कर्म । यथा—पित्ता आहार-विहार, विलुदाहार सेवन एवं प्रज्ञापराप आदि द्वारा उत्पन्न होने वाले रोग ।

iii) पूर्वजर्कर्मज—पूर्वजन्मकृत कर्मों से इस जन्म में होने वाले रोग पूर्वकर्मज रोग कहे जाते हैं यथा—कुष रोग ।

1. स्वतन्त्रे व्यक्तिस्त्रौ व्योक्तास्त्रमुक्तास्त्रायो भावन्तुपत्तः, तद्वास्त्रापत्तास्त्रम् । (प.सं. ६.११)

2. पूर्वजः पूर्वकर्मज, जातः पश्चात्जातः । (म.सं. १२.६०)

3. वा दो लक्षणः पूर्वजर्कर्मज योग्यानि प्राप्तु-प्राप्तं तद्वास्त्रम् । (म.सं. १२.२)

VI. साध्यता की दृष्टि से
स्वास्थ्यता की दृष्टि से रोग के 2 भेद हैं-

- i) मुख्यसाध्य
- ii) पूर्णसाध्य
- i) सुखसाध्य—जिस रोग के हेतु, पूर्वरूप, रूप, अल्प हो, दूषण रोगान्वयी दोष के समान न हो, रोग रोगी की प्रकृति के समान न हो, रोग एवं गति दोष के समान न हो, रोग घर्षणशान पर न हो, रोग परी गति एवं गाहों से, रोग नवीन व उदाहरण रहित हो, शरीर बलवान हो, चिकित्सा के लक्षण सम्म हो तब वह रोग 'मुख्य साध्य' होता है। इस प्रकार के रोग चिकित्सा करने पर शोध शांत हो जाते हैं।
- ii) कृच्छ्रसाध्य—जब रोग के हेतु, पूर्वरूप व रूप मध्यम बल के हों, वात-प्रकृति व दूष में से कोई दोष के समान हो, रोगी गर्भिनी, वातक वा दूष हो तथा रोग उदाहरण मुक्त हो, रोग पुराज व मर्मांशित हो, डिमार्गी हो गा गल्ल खार व अविनियम साध्य हो तथा चिकित्सा के चतुर्पाद सम्प्रत्र न हो तब रोग 'कृच्छ्रसाध्य' कहलाता है। इस प्रकार के रोग करिनाई से रीक होते हैं।

VII. असाध्यता की दृष्टि से

- छिसो रोग की असाध्यता के अनुसार रोग दो प्रकार के होते हैं—
- i) चार्य
 - ii) प्रत्याख्येय
 - i) चार्य—रोग असाध्य हो किन्तु पथ्य सेवन व औषध सेवन के बल पर रोग चंचित रहता है। इस प्रकार के रोग चिकित्सा चलने तक शांत रहते हैं एवं चिकित्सा बंद होने पर उसका गुनर्भ वह जाता है।
 - ii) प्रत्याख्येय

1. दुष्कर्त्तव्य वर्षीय कृच्छ्रसाध्यमर्दित।
2. दुष्कर्त्तव्य दूषण व दूषण दोष।
3. दूषण दूषण दूषण व दूषण दोष।
4. दूषण दूषण दूषण व दूषण दोष।
5. दूषण दूषण दूषण व दूषण दोष।
6. दूषण दूषण दूषण व दूषण दोष।
7. दूषण दूषण दूषण व दूषण दोष।
8. दूषण दूषण दूषण व दूषण दोष।
9. दूषण दूषण दूषण व दूषण दोष।
10. दूषण दूषण दूषण व दूषण दोष।
11. दूषण दूषण दूषण व दूषण दोष।
12. दूषण दूषण दूषण व दूषण दोष।
13. दूषण दूषण दूषण व दूषण दोष।
14. दूषण दूषण दूषण व दूषण दोष।
15. दूषण दूषण दूषण व दूषण दोष।
16. दूषण दूषण दूषण व दूषण दोष।
17. दूषण दूषण दूषण व दूषण दोष।
18. दूषण दूषण दूषण व दूषण दोष।
19. दूषण दूषण दूषण व दूषण दोष।
20. दूषण दूषण दूषण व दूषण दोष।
21. दूषण दूषण दूषण व दूषण दोष।
22. दूषण दूषण दूषण व दूषण दोष।
23. दूषण दूषण दूषण व दूषण दोष।
24. दूषण दूषण दूषण व दूषण दोष।

(च.म. 139)

(च.म. 1011-11)

(च.म. 1371-18)

(च.म. 1017-19)

प्रत्याख्येय—इसे 'अनुप्रवाम' भी कहते हैं। जिसमें किसी भी प्रकार की विधिकित्सा नहीं लाभ न हो, रोगी की डॉक्टर गिरिल हों, रोगी दूर्जन हो तथा उत्तरां मरीष लक्षण उत्तरां होता। इस प्रकार के रोगों में विकित्सा ग्रांथ करने के पूर्व रोगी के परिजनों को रोग के परिणाम (Prognosis) (अनुप्रवाम) के बारे में स्पष्ट रूप से जानकारी दे देना चाहिए।

VIII. दोषानुसार भेद

रोगारम्भक दोष के आधार पर स्थूल रूप से रोग दो प्रकार के होते हैं—

- i) सामान्यज (Non Specific)
- ii) अनन्तर्मत्र (Specific)
- i) सामान्यज (Non Specific Disorders)—इन गर्भों के अनुग्रह व रोग आते हैं जो वात, पित्त या कफ इनमें से किसी एक दोष, दो दोषों में या तीनों दोषों से या आगन्तुक कारणों से उत्पन्न होते हैं। उन रोगों के उत्पन्न होने में उत्तर में से कोई भी एक या अधिक कारण ही सकते हैं। आवर्ग चरक ने सामान्यज रोगों में निम्न 48 प्रकारों के रोगों को गठन की है—

- | | |
|---------------------|------------------|
| 1. 8 मूत्राधात | 13. 5 श्वास |
| 2. 8 ठड़र रोग | 14. 5 हिम्बा |
| 3. 8 कीर दोष | 15. 5 तृष्णा |
| 4. 8 वार्ष दोष | 16. 5 छन्दि |
| 5. 7 कुष | 17. 5 अस्त्रच |
| 6. 7 विसर्प | 18. 5 निरोग रोग |
| 7. 7 प्रमेहपिण्डिका | 19. 5 हृदयोग |
| 8. 6 अतिसार | 20. 5 शाप्तु रोग |
| 9. 6 उदावर्त | 21. 5 उन्नाद |
| 10. 5 गुल्म | 22. 4 अपल्लार |
| 11. 5 स्त्रीहा रोग | 23. 4 नेत्र रोग |
| 12. 5 कास | 24. 4 कर्ण रोग |

1. ददू प्रत्यक्षेप लिहेपने।
किष्यालक्ष्मिकार्द शर्वामार्दुसाग्राम् रसारुपेष च । (च.म. 13/19-20)
2. ० वर्ष विकारी—मामाचारा, नामाचारा।
ग्रष्म सामान्यज: पूर्वमहोदीने व्याघ्राचारः ॥ (च.म. 22/10)
३. न एवको ग्रामो हिंसे या, दोषः प्रदुषा दुष्कर्त्तव्य वात वातान्वयान्वयी उत्तरां वातान्वयान्वयी उत्तरां वातान्वयान्वयी ॥ (च.म. 20/12 व च.म. 20/13)
४. न व चल्यान्तुरुदण्ड अटी मूत्राधातः, ।
..... वैतालिकामान्वयान्वयन् शांते भक्तिदृष्टिः ॥ (च.म. 13/3)

- | | | | |
|-----|--------------|-----|----------------|
| 25. | 4 प्रतीतिवाय | 37. | 2 आयाम |
| 26. | 4 मुख रोग | 38. | 2 गृहस्थी |
| 27. | 4 घट्टही दोष | 39. | 2 कालमला |
| 28. | 4 मद रोग | 40. | 2 आप |
| 29. | 4 मूर्च्छा | 41. | 2 अर्श |
| 30. | 4 शोष | 42. | 2 बातरक्त |
| 31. | 4 नैनुसकता | 43. | एक उरलत्तन्प |
| 32. | 3 शोष | 44. | एक संन्यास |
| 33. | 3 किलास | 45. | एक महागद |
| 34. | 3 रक्तचित्त | 46. | 20 कृति रोग |
| 35. | 2 ज्वर | 47. | 20 प्रमेह |
| 36. | 2 ज्वर | 48. | 20 योनिव्याप्त |

iii) जानात्मक रोग^१ (Specific Disorders)—जानात्मक रोग उन्हें कहते हैं जो निश्चिंह रूप से किसी एक ही दोष से उत्पन्न होते हैं।

नानात्पर्य से अभिशाय है कि उन-उन रोगों को उन्हीं विशेष दोषों से उत्पन्न जाग्रत् उन्हीं दोषों के विपरीत उनकी चिकित्सा को जापे वस्त्रोंका सही दोष का जान होने पर मूलचिर चिकित्सा को जा सकती है।

‘नानवन्ज रोग ‘निज’ होते हैं वर्धा सभी निज रोग बिना चात-पित्त-काढ़ औन्हेव्व से नहीं होते।

आचार्य चक्र ने नानाभूमि (केवल एक दोषज) विकारों में 80 प्रकार के वा विकार, 40 प्रकार के पितृ विकार व 20 प्रकार के कफाज (श्लेष्मज) विकारों का वा ध्रुक सौहित्य के सत्रस्थान अध्याय 20 में किया है।

४० बाल नानासुज विकार (आचार्य चरक मतानुसार)

वालू दांप से उत्तरान होने वाले रोग अनगिनत हैं। उनमें से विशेष रूप से प्रकट हो वाले 80 प्रकार के रोग हैं जो निम्नानुसार हैं—

- प्राचीन वैदिक धर्मानुषासनम्; तथा अतीतवर्तिकाणां चतुर्विद्विति विकापः, एवं संपर्यवज्ञः। [प्र. ३५]
 - मर्त एव तिर्यकाण नान्द वालिष्ठादकंपयो निर्विद्वेषः; यस्माहि..... वातिपतकप्रवर्तिविद्वेषः [प्र. ३६]
 - तत्त्वं क्षम्यविद्वानुषासनम्;
तिर्यक-नान्द विद्विद्वात् च, वालिष्ठान् च.....।
..... पारिषद्वाग्यापतिविद्वेषः एवं विद्विद्वात् वातिपतकः। [प्र. ३७]

1. नखभेद (नाखूनों का टूटना-Cracking of Nails)
 2. धिपादिका (हाथ पैर फटना- Cracking of Soles)
 3. पाद गूल (पैरों में दर्द- Pain in feet)
 4. पादभृता (पैर लद्धवृक्षाना- Foot drop)
 5. पादसुन्ता (पैर सुन्त्र होना- Numbness in feet)
 6. बातपुद्दलता (लाटी संधियों में दर्द- Pain in small joints)
 7. गुल्फाह (गुल्फ में जकड़ाहट- Stiffness in ankles)
 8. पिण्डकोहृष्टन (पिण्डितियों में घेरन- Cramps in calf region)
 9. गृध्रती (गृध्रसे नाड़ी में शोथ एवं वेदना- Sciatica)
 10. जानुभेद (जानुसंधि में टूटने सी रीढ़ा- Tearing pain in knees)
 11. जानुविश्रेष्ट (जानु संधि में शीघ्रत्य- Dislocation of knees)
 12. ठरस्तम्भ (ठर प्रदेश में जकड़ाहट- Stiffness in thighs)
 13. ठरमाद (ठर प्रदेश में थकावट- Loss of movement in thighs)
 14. पामुल्प्य (संगु होना- Lameness)
 15. गुदभूंश (गुदा का बाहर निकलना- Prolapse of rectum)
 16. गुदार्ति (गुदा में वेदना- Pain in anus)
 17. वृण्णाकेपरच (वृण्ण का ऊपर उठाना- Twitching in scrotum)
 18. शोक: स्तम्भ (लिंग स्तव्यता- Stiffness in penis)
 19. वंक्षणानाह (वंक्षणाप्रदेश में तनाव- Pain in groins)
 20. श्रोणिभेद (कटिशूल- Pain in pelvis - backache)
 21. विह्रेद (पतला मल त्वाण- Dianthoea)
 22. उदावर्त (डुकार आना व पेट फूलना- Upward movement of Vayu)
 23. खञ्चता (तांगाढ़ाकर चलना- Limping)
 24. कुञ्जता (झुककर चलना- Hunch back)
 25. वामनत्व (नाटा-बौना) होना- Dwarfism)
 26. त्रिकृग्रह (कटि में जकड़ाहट- Stiffness in sacral region)
 27. पृष्ठग्रह (कमर में जकड़ाहट- Stiffness in back)
 28. पार्श्वायर्द (Sides pain)
 29. उदरावेष्ट (उदरशूल- Twisting pain in abdomen)
 30. इन्सोह (हृदकार्य अवरोध- Cardiac dysfunction)
 31. हृदय (हृद गति तीव्र होना- Palpitation)
 32. वक्षउर्ध्व (वक्ष प्रदेश में घर्षण की अनुभूति- Shivering in chest)
 33. वक्षोपरोध (हृद व फुफ्फुस की गतियों में रुकावट- Constriction in chest)

काय-विकितस

34. व्यथतोद (जली में चुभन- Chest pain)
35. बाहुरोप (बांह सूखना- Wasting of arms)
36. ग्रीवास्तम्भ (गर्दन में जकड़न- Stiffness of neck)
37. मन्यास्तम्भ (श्रीवा नाड़ी में जकड़न- Stiffness of sternum/muscles)
38. काप्तोर्धवंस (काप्त में गीढ़ा होना- Hoarseness of voice)
39. हनुरोद (जबड़े में दर्द- Pain in Jaw)
40. ओहपेद (ओह कटना- Cracking in Lips)
41. आँखेद (आँख में दर्द- Pain in eyes)
42. दंतभेद (दंत में दर्द- Pain in teeth)
43. दनहैशिल्य (दंत का ढीलापन- Looseness of teeth)
44. शूक्रत (गूँगापन- Dumbness)
45. बाहु संग (बोलने में कठिनाई- Stammering)
46. कण्यास्त्वत (मुख का कासैलापन- Astringent taste in mouth)
47. मुखशोष (मुख का सूखना- Dryness of mouth)
48. अरसजता (स्वादानुभूति न होना- Loss of taste)
49. प्राणनाश (सूखने की झाँकि का अभाव- Loss of smelling power)
50. कर्णरोत (कर्ण में दर्द- Otalgia / earache)
51. अराद्व्रवण (Tinnitus in ears)
52. उच्छःश्रुति (Difficulty in hearing)
53. व्यापिर्य (Deafness)
54. वर्तपत्तम्भ (Stiffness in Eye lids)
55. वर्त संकोच (Contraction of eye lids)
56. निपिर (Loss of vision / Cataract)
57. अधि शूल (Pain in eyes)
58. अदिल्युदम (Squint)
59. ख्युराम (Twisting of eyebrows)
60. राखभेद (Pain in temporal region)
61. तेलाट पेट (Pain in forehead)
62. गिरेहक (Headache)
63. कंतपूर्षिम्पुद्द (Cracking of eelap)
64. अर्थित (Facial Paralysis)
65. एकलंग रोग (Monoplegia)
66. गलोंग रोग (Polyplegia)

व्याधि विवेचन

67. आशेपक (Convulsions)
68. दण्डक (Tetanic convulsions)
69. नम (Feeling of darkness in front of eyes)
70. भ्रम (Vertigo, giddiness)
71. बेपम् (Tremors)
72. जूँभा (Yawning)
73. हिक्का (Hiccough)
74. विपाद (Depression)
75. अतिप्रलाप (Excessive delirium)
76. रौद्र्य (Roughness)
77. चारुम् (Coarseness)
78. श्यावाल्णाभासता (Bluish / Reddish texture)
79. वास्वप (Insomina)
80. अनवस्थितचित्तत्व (Unstability of mind)

अन्य नानात्मज वात विकार

आचार्य चरक ने निम्न अन्य वातव्य लक्षण चरक साहिता शूद्र स्फून में वर्णित किए हैं—

1. संस (Separation)
2. भ्रंश (Dislocation)
3. व्यास (Division or Attachement)
4. संग (Obstruction)
5. भेद (Tearing)
6. साद (Malaise)
7. हर्ष (Exhilaration)
8. दर्प (Thirst)
9. कम्प (Tremors)
10. वर्त (Circumvention)
11. चाल (Looseness)
12. लोद (Piercing pain)
13. व्यथा (Body pains)
14. चेष्टा (Movements)

1. गद्या रोग-भ्रंश-धाराम-संग-भेद-साद-हर्ष-तर्प-कम्प-यर्ष-चाल-लोद-व्यथा-चेष्टा-धारा-व्यथा-विपिर्य-अराद्व्रवण-कंतपूर्षिम्पुद्द-गिरेहक-गूत-मूर्च्छ-संकोच-स्वप्न-घड़ादीनी ए घायो. कल्पान्ति, तीर्त्तिवात वातविकारस्याभ्यन्ते।

15. छर (Coarseness)
16. पहल (Roughness)
17. विशद (Non Sliminess)
18. गुप्ति (Porousness)
19. अल्प लवर्ण (Reddish Lustre / Texture)
20. कशाय (Astringent taste)
21. विवारनुभूति (Unnatural taste of mouth)
22. रोत्र (Wasting)
23. शृति (Pain)
24. शुष्टि (Numbness)
25. संकोश (Contraction)
26. स्थग्नि (Stiffness)
27. चक्कता (Limping)

आचार्य शुद्धनसेन ने भी अन्य प्रकार के नानाभूज चारों विकारों का वर्णन किया।

वो निम्न हैं-

1. आध्यान (Tympanitis)
2. स्थग्नि (Stiffness)
3. गौड़ (Roughness)
4. स्क्रूटन (Crackling)
5. निप्पन (Pricking pain)
6. झाप (Irritation)
7. कम्प (Tremors)
8. प्रोट (Piercing pain)
9. कष्टाव्यंति (Hoarseness of voice)
10. अवसाद (Depression)
11. प्रवक्त (Vertigo)
12. किरण (Tenderness)
13. स्वित (Separation)
14. शृति (Pain)
15. पात्र्य (Coarseness)
16. कर्णित (Tinnitus)

1. "स्वप्ना अन्यथा मृदुता लिपया दीपकम् प्राप्तः ।
विषा कर्मण्यात् उमुक्षिः गात्रः स्वत् कर्मणोदयः ॥"
(च.स. ३० शुद्धन देवा वै शुद्धा)

17. शाब्दन विषमता (Indigestion)
 18. झंगा (Dislocation)
 19. दृष्टि प्रवोह (Disturbance of vision)
 20. विस्पन्दन (Throbbing, Pulsations)
 21. ठट्पट्टन (Opening up as a lid)
 22. गलपन (Cold Extremities, Numbness)
 23. अनिद्रा (Insomnia)
 24. ताङ्गन (Beating)
 25. चोड़न (Pressing)
 26. नाम (General movements)
 27. उत्ताप (Raising, Lifting up)
 28. विपाद (Depression)
 29. भ्रम (Vertigo)
 30. परिपतन (Falling, Injuring)
 31. जूँझा (Yawning)
 32. रोग्हर्व (Horripilation)
 33. विक्षेप (Throwing away, hurling)
 34. आदोप (Convulsions)
 35. रोत्र (Wasting)
 36. ग्रहण (To receive, contraction)
 37. गुप्तिता (Porosity)
 38. छेदन (Tearing)
 39. चेष्टन (Cramps)
 40. श्याववर्णता (Blackish lustre)
 41. अल्पवर्णता (Reddish lustre)
 42. गुर्जा (Thirst)
 43. अनिद्रा (Insomnia)
 44. संग (Obstruction)
 45. काषायास्पता (Astringent bitter taste of mouth)
 - 40 पित्त नानाभूज विकार (आचार्य चरक भवानुसार)'
- असंख्य पित्त विकारों में विशेष रूप से व्यक्त होने याते निम्न 40 ऐसिक विकारों का वर्णन आचार्य चरक ने किया है-

1. विविग्नात्मकरित्वात् उम्बुद्धात्मकः ।
(कर्म)- ओषधा, घोड़ा, खानाम् ॥
भाग्यविषयात् उम्बुद्धात्मकः ॥

1. ओषण (सम्पूर्ण शरीर में तीव्र दाह या घेरौनी- Heating throughout)
2. लोग (आग से जलने जैसी दाह की पीड़ा- Scorching)
3. दाह (शरीर में जलन- Burning sensation)
4. दबयु (झूँझियों में जलन- Intense Burning)
5. पूर्मक (मुँह से पुंछा निकलने जैसी अनुभूति- Fuming)
6. अम्लक (खट्टी डकार आना- Hyper acidity)
7. बिदाह (अंगों में जलन- Burning in stomach & oesophagus)
8. अंतर्दाह (भौंती अंगों में जलन- Internal burning)
9. अंसदाह (कंधे में जलन- Burning in shoulder region)
10. ऊनाधिक्य (ताप का बढ़ना- Pyrexia)
11. अतीस्वेद (Excessive perspiration)
12. अंगाग्न्य (Foul smell in body)
13. अंगवदरण (अंगों का फटाना- Tearing of body parts)
14. शोणिताक्तेद (रक का पलला होना- Excessive fluidity in blood)
15. त्वग्दाह (Burning in skin)
16. त्वगवदरण (त्वचा का फटाना- Tearing of superficial skin)
17. चर्चावदलन (Tearing of deeper skin)
18. मांसकलेद (मांस का सड़ना- Pustules)
19. रुचकर्त (लाल चकते निकलना- Urticular patches)
20. रक विस्फोट (Inflammatory rashes)
21. रक्षणित (Internal Haemorrhage)
22. रक मण्डल (Haemorrhagic patches)
23. हरितत (नाथ, नेत्र, पूर्त्र आदि का हरा रंग होना- Greenishness of body)
24. नीलात्मा (नेत्र एवं त्वचा वा नीलापन- Bluishness of body parts)
25. कश (कौंउ में बृंज होना- Herpese)
26. हारिद्रत (Yellowishness of body parts)
27. कायदा (Jaundice)
28. निकास्ता (मुँह का गीता होना- Bitterness of mouth)
29. तांदितांधास्ता (मुँह से रक की गंध आना- Bloody smell from mouth)
30. गुणाधिक्य (Excessive thirst - Polydipsia)
31. पृष्ठमुष्टा (मुँह से दुर्विध आना- Foetid smell from mouth)
32. अनुर्भव (Loss of contentment)
33. आम्लावाक (Stomatitis)
34. गलापात्र (Inflammation in throat)

व्याप्ति विवेचन

35. अधिकाक (Inflammation of eyes)
36. गुदाक (Inflammation in anus)
37. मेषुपाक (Inflammation in penis)
38. जीयादान (मुँह से सुख रक निकलना- Discharge of pure blood)
39. ताप: प्रवेश (अंगों के अलगे अंगों छान- Fainting)
40. हारिद-हरित नेत्र-मूत्र-वर्वय (Green or yellow colour of eyes, urine and faeces)

इन 40 विकारों के अतिरिक्त आचार्य चक्र ने निम्न प्रिकार विकार बताये हैं-

1. दाह (Burning)
 2. ऊनाधा (Feeling of warmth)
 3. पाक (Inflammation)
 4. क्लेद (Fluidity)
 5. कोष (Decaying of body parts / gangrene)
 6. स्लाव (Increased secretions / moisture)
 7. राग (Different body colours)
 8. घूतिग्न्य (Fishy smell)
 9. हरित-हारिद वर्ण (Greenish - Yellowish colour)
 10. कटु-अम्ल-तिक रस (Bitter and Sour taste)
- आचार्य सुदान जैन ने निम्न 21 प्रकार के चानात्पत्र पित्र विकार बताये हैं-
1. विस्फोट (Inflammatory Rashes)
 2. अम्लक (Hyper acidity)
 3. पूर्मक (Fuming)
 4. प्रलपन (Talking non sense)
 5. स्वैद स्वृति (Excessive sweating)
 6. मूर्छा (Fainting)
 7. दीर्घन्य (Foul smell in body)
 8. मद (Alcoholism)
 9. दरण (Cracking)
 10. विसरण (Diffusion)
 11. पाक (Inflammation)

1. गारीफ्पत्राकान्देदक्षेत्रपक्षसापात्राकान्द- गम्भर्व-
गारीपिनार्थिर्वे पित्रपत्र कार्यान्वय, तीर्थान्वय वित्रिविकारेवापात्राकान्द-।।
2. गिरिकौकालाक पूर्मक: प्रलपनं स्वैदस्वृति मूर्छांतः ।।

वर्ण: पात्रु विवितिः इविकाराकार्यानि विनाम्यते ।। (म.वि. दंष विनाम्य 5 पात्रुक्षेत्र दीक्षा)

12. अरति (Restlessness)
13. तृप्ति (Thirst)
14. भ्रम (Vertigo)
15. ऊषा (Feeling of heat)
16. अलुति (Loss of contentment)
17. रुग्मः प्रवेश (Fainting)
18. दाह (Burning sensation)
19. अम्ल-कटु-तिक रस (Sour & bitter taste of mouth)
20. कोथता (Decaying of body parts)
21. पाण्डु के अतिरिक्त अन्य वर्ण होना (Discolouration of body)
- 20 इलेप्त नानात्मज विकार (आचार्य चरक मतानुसार)
मुख्यतः प्रकट होने वाले 20 प्रकार के नानात्मज कफव (इलेप्त) विकार हैं।
- विकार वर्गन आचार्य चरक ने किया है-

 1. दूषि (बिना खाये पेट भरा प्रतीत होना- Feeling of fullness)
 2. तन्दा (Drowsiness)
 3. निषाधित्य (Excessive sleep)
 4. स्तैनित्य (गोले कपड़े से ढका प्रतीत होना- Feeling of being covered with wet cloth)
 5. गुरुगता (Heaviness in body)
 6. ग्रातस्य (Lethargy)
 7. मुखमधुर्य (Sweetness of mouth)
 8. मुखसाव (Excessive salivation)
 9. इलेप्तोहिरण (कफ निकलना- Mucous expectoration)
 10. मलाधित्य (Excess of dirt, waste product)
 11. बलासक (Excess of mucus)
 12. अपांक (Indigestion)
 13. हठगोलेप (Feeling of plastering over chest)
 14. कष्टांपत्तेप (Plastering of throat)
 15. धपांतोग्रदित्य (Atherosclerosis / Hyperlipidaemia)
 16. गत्तापट (Goitre)
 17. अतिरिक्तता (Obesity)
 18. शोतार्ग्नि (Poor appetite)
 19. टट्ट (शरीर पर चकने पड़ना- Urticular eruptions)
 20. खेलभाग्नि (त्वचा में संकेदों दिखना- White lustre / texture)

1. रुग्म-तन्दा-स्तैनित्य-ग्रातस्य-स्तैनित्य-दूषि-कष्टांपत्तेप-मुख्यता-
..... तिष्ठिता इलेप्ताविकारों का वर्गन है।

2. दूषिस्तैनित्य-तन्दा-ग्रातस्य-स्तैनित्य-
..... कफवात्य कफवात्य जातीय।

(चग 2)

आचार्य चरक ने उपरोक्त नानात्मज विकारों के अतिरिक्त अन्य इलेप्त विकारों का भी वर्णन किया है, जो निष्प्र प्रकार हैं-

1. शीत्यता (Coldness)
 2. रघेतता (Whiteness)
 3. कण्ठू (Itching)
 4. स्थैर्य (Immobility)
 5. गौरव (Heaviness)
 6. स्नेह (Unctuousness)
 7. सुप्ति (Numbness)
 8. वलेद (Moistening)
 9. उपदेह (Mucous Covering)
 10. घन्य (Binding)
 11. माधुर्य (Sweetness)
 12. चिरकारित्य (Chronicity)
 13. स्ताप्त (Stiffness)
- आचार्य 'सुदान्त सेन' ने निष्प्रालिखित इलेप्तमन्त्र विकारों का वर्गन किया है-
1. तृप्ति (Fullness of Stomach)
 2. तन्दा (Drowsiness)
 3. गुरुता (Heaviness)
 4. स्तैनित्य (Feeling of being covered with wet clothes)
 5. कठिनता (Hardness)
 6. मलाधित्य (Excess of waste product)
 7. स्नेह (Unctuousness)
 8. अपचन (Indigestion)
 9. उपतेप (Feeling of Coating/Covering)
 10. शीत्य (Feeling of Cold)
 11. कफप्रसेक (Mucous expectoration)
 12. कण्ठू (Itching)
 13. चिरकृत्य (Chronicity)
 14. शोथ (Oedema)

(च.मृ. 26/19)

(प्र.नि. वर्चनितम् ५ पर प्रपुकोप दोषा)

15. निदापिण्ड (Excessive sleep)
16. आलस्य (Lassitude)
17. श्वेत रंग (Whilish colour of body)
18. मधुर रस (Sweet taste)
19. लवण रस (Salty taste)

III. त्रिविध व्याधि भेद

अनेक आचारों ने व्याधि के त्रिविध भेद माने हैं। इन त्रिविध भेदों का सहायता होते हुये भी नामकरण में अन्तर है जो सूत्ररूप में प्रस्तुत निम्न सारणी से स्पष्ट है—

I. त्रिविध भेद

- | | |
|----------------|---------------|
| (i) आध्यात्मिक | (ii) आधिदैविक |
| (iii) आधिभौतिक | |

II. त्रिविध भेद

- | | |
|----------------------------|--------------------------|
| (i) निन (Endogenous) | (ii) आगन्तुज (Exogenous) |
| (iii) मानस (Psychological) | |

III. त्रिविध भेद

- | | |
|------------------|---------------------|
| (i) शाश्वायत | (ii) ममार्थि संधिगत |
| (iii) कोषाक्षिति | |

IV. त्रिविध भेद

- | | |
|-----------------------|-----------------------------|
| (i) प्रत्युपत्र कर्मज | (ii) पूर्वकर्मज (दैव कर्मज) |
| (iii) परकृत कर्मज | |

V. त्रिविध भेद

- | | |
|----------------|-----------------|
| (i) औषधार्थिक | (ii) प्राक्केवल |
| (iii) अन्यतराश | |

VI. त्रिविध भेद

- | | |
|-----------------|------------|
| (i) दोषव | (ii) कर्मज |
| (iii) दोष-कर्मज | |

VII. त्रिविध भेद

- | | |
|--------------|------------|
| (i) आनेय | (ii) सौम्य |
| (iii) वायव्य | |

I. त्रिविध भेद

पुण्य शारीर में होने गाते हुए संयोग के द्वारा पर व्याधि के 3 भेद घण्ठित किये गये हैं। आवार्य सुकृत के अनुसार व्याधि तीन प्रकार की होती है—

१. त्रिविध व्याधियम्-आलस्याद्वय, आधिदैविक्यम्, आधिभौतिक्यम्।

- | | |
|----------------|---------------|
| (i) आध्यात्मिक | (ii) आधिदैविक |
| (iii) आधिभौतिक | |

(i) आध्यात्मिक—आध्यात्मिक या मानसिक दोषों में होने वाले रोग 'आध्यात्मिक रोग' कहे जाते हैं। 'आध्यात्म' शब्द से दर्शाये गये मन में होने वाले बातें-शिन्द-कड़व रोग व मानस दोष रज-तम में होने वाले रोगों का एक रोग होता है। अतः इनमें होने वाले रोगों को 'आध्यात्मिक' रोग कहा जाता है। इनके फॉर्म दोनों खंड हैं—

- | | |
|---------------------|----------------------|
| (अ) आदिवल प्रवृत्त | (ब) रज्व वल प्रवृत्त |
| (स) दोष वल प्रवृत्त | |

(अ) आदिवल प्रवृत्त रोग (Hereditary Disorders)

शुक्र-शोणित के विकार से होने वाले रोग 'आदिवल प्रवृत्त' कहताने हैं। क्षयात् यज्ञ के रज्व (Ovum) एवं पिता के शुक्र (Sperm) में दोष (विकार) होने से उत्तर स्त्रियों में प्रवैश करने वाले रोग 'आदिवल प्रवृत्त' कहे जाते हैं। यथा-कुटुंब व्यक्ति से

आधुनिक मतानुसार इसे बंशानुगत या Hereditary Disorders कहा जाता है। मनुष्य के शरीर के प्रत्येक Cell के अन्दर केन्द्रक (Nucleus) होते हैं इन उनमें उत्तरायण D.N.A. (De-oxy Ribo Nucleic acid) व च्रोमून्झ (Chromosomes) जाये जाते हैं जिनमें विकृति होने पर अलानो संतान में भी विकृति व्यवहरण होने दर्शायी है। ये क्रोमोसोम माता पिता के गुण-दोष वाहक होते हैं। अनुवैद ने इन्हें "बॉडीफाल्टव्य" कहा है। आवार्य चरक ने स्मरणः कहा है कि नाट्य-पिता के विन 'बॉडी फाल्टव्य' में दोष होता है उससे संबंधित विकार संतानि में प्रकट होते हैं।

कुछ अर्थ के अतिरिक्त अनेक अन्य व्याधियों का वर्णन आधुनिक चिकित्सा रास्तर में मिलता है जो बंशानुगत (Hereditary disorders) होते हैं। यथा-रोमानिक्रियता (Haemophilia), विचरिका (Eczema), निकट दृष्टि दोष (Myopia), मोटिफायिद (Cataract), रक्तभाराधिक्य (Hypertension), मधुमेह (Diabetes) कटा होता (Cleft Palate), थेलोसीमिया (Thalassaemia), शोनिवर्तुलव्य विकार, आदि ऐने Hereditary होते हैं जो एक पोड़ी से दूसरी पोड़ी में स्थानान्तरिक होते हैं।

कुछ रोग ऐसे होते हैं जो सिर्फ़ पुरुषों में हो प्रकट होते हैं। महिलायें इन रोगों को वाहक (Carrier) होती हैं उनमें इन रोगों के दात्तण प्रकट नहीं होते पर इनसे उनको पुरुष संतान (Male Child) में यह रोग प्रकट होता है यथा Haemophilia, Colour blindness आदि। इन व्याधियों को Sex linked व्याधिये कहते हैं।

१. यथा, आदिवल प्रवृत्त ये शुक्रांतिप्राप्ति द्वारा प्रभृतः।

२. यैसी द्विपाता-मातृता, विकृतव्य।

३. यथा पर्याप्त व्याधियों की विकृतिव्याधियाँ।

आचार्य मुमुक्षु ने इन्हें "आदिवल प्रवृत्त", याज्ञयत्नग ने "संचारी", ने "कुलन", आचार्य यापाद ने "सहज" तथा आचार्य भेल ने "प्रवृत्ति" कहे हैं। ये भी दो प्रकार के होते हैं—

i. मातृज ii. पितृज

- i. मातृज—माता के रोजों दोष से उत्पन्न होने वाले रोग।
- ii. पितृज—पिता के बीच दोष से उत्पन्न होने वाले रोग।

(c) जन्मबल प्रवृत्त रोग (Congenital Disorders)

गर्भावासन के पश्चात माता के पिण्ड्या आहार-विहार से जो रोग उत्पन्न होते हैं "जन्मबल प्रवृत्त" कहलाते हैं। जैसे— मूरू, निम्बिन, पंगु, जन्मांध, वधिर आदि। ये सुखुत के अनुसार जन्म के समय आघात या उपर्यास से उत्पन्न रोगों को भी जन्मबल रोग कहा गया है—

जन्मबल प्रवृत्त रोग दो प्रकार के होते हैं—

i. रसकृत ii. दौहकापचार कृत

- i. रसकृत—गर्भावस्था में किसी विशिष्ट आहार का निन्तार सेवन करने से होने रसकृत कहलाते हैं। जैसे—अधिक कपाय रस के सेवन से कृष्ण धर्म, लूट के सेवन से पशुभेद तथा स्फूलता, अत्यधिक अन्तर रस के सेवन से रक्तपित व नैविक रथा क्षुर सूख सेवन से स्फूलता, मध्य सेवन से स्फृति नाश आदि रोग उत्पन्न हो सकते हैं।
- ii. दौहकापचारकृत—गर्भिनी के गर्भकाल में उसे जो विशिष्ट आहार-कृत करने की इच्छाहोती है उसे "दौहक" कहा जाता है। इन इच्छाओं की पूर्ति न होने पर्याप्त रिकूम व शारीरिक व मानसिक विकार पैदा हो सकते हैं।

इसके अतिरिक्त भी जन्मबल प्रवृत्त रोग दो प्रकार के होते हैं—

1. अस्वाधारिक वृद्धि युक्त या विकृताकार संतान (Malformations or Developmental errors) यथा अंगों की अधिकता या अल्पता, कटा होने, उत्तर न होना (Absence of Anus) या अंग विपर्यय यथा हृदय का दाहिने दाना (Dextrocardia) होना आदि।

2. माता को वर्ष्यावस्था के दौरान हुये उपर्यास फिरंग (Syphilis), अंत्रिक (Typhoid), यथा (Tuberculosis), मसूरिका (Measles) आदि तथा प्रश्न के दौरान आघात होने पर (Forceps delivery) उत्पन्न होने वाले रोग भी जन्म वर्षा में कहे जाते हैं।

1. जन्मबलकृत ये मधुर रसकृत वर्ष्यावस्था परिवर्त्तन विनापन प्रवृत्ति जन्मते।
2. अंत्रिक वृद्धि युक्त दौहकापचारकृत।
3. मसूरिका वर्ष्यावस्था परिवर्त्तन का।

(रा) दोषबल प्रवृत्त रोग (Functional Disorders)

शारीरिक दोर्तों (यात-पित-कृत) व गार्नीय दोर्तों (रत्न-तम) व जातव उत्पन्न हुये रोगों को "दोषबल प्रवृत्त" रोग कहते हैं। इस दोर्तों के रोग या तो विष्मी रोग के विवरण स्वरूप उत्पन्न होते हैं या पिण्ड्या आहार-विहार से दोष प्रकार होने से उत्पन्न होते हैं। ये रोग पुनः दो प्रकार के होते हैं—

i. आमाशय समुत्थ

ii. पक्वाशय समुत्थ

- i. आमाशय समुत्थ—आमाशय स्वल से उत्पन्न होने वाले रोग जैसे दिक्षाधार आदि रोग।

- ii. पक्वाशय समुत्थ—पक्वाशय स्वल से उत्पन्न होने वाले अन्तिमाश विमुक्तिका आदि रोग।

(ii) आधिदैविक—आधिदैविक व्यापियां भी हात दो प्रकार के होती हैं—

(अ) कालबल प्रवृत्त (Seasonal)

(ब) दैवबल प्रवृत्त (Providential)

(स) स्वभावबल प्रवृत्त (Natural disorders)

(अ) कालबल प्रवृत्त रोग (Seasonal Disorders)

जो व्याधि दिन, रात, ऋतु, अवन तथा संवत्सर अवन "पठन्तु कृत" के अनुकूल उनके प्रभाव से उत्पन्न होती है उसे "कालबल प्रवृत्त" योग कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—

i. व्यापत्र ऋतुकृत

ii. अव्यापत्र ऋतुकृत

- i. व्यापत्र ऋतुकृत—विकृत ऋतुओं के प्रभाव से उत्पन्न व्यापियां "व्यापत्र ऋतुकृत" कहलाती हैं। जैसे ग्रीष्म मूर्तु में प्रवर्षण गर्भों पड़ना या गर्भों न होकर वर्षा होना या कभी वर्षा होना कर्पों ठण्ड पड़ना। यह ग्रीष्म ऋतु का व्यापत्र है। इस प्रकार उसे ऋतुओं का होन अति एवं मिथ्या योग होने से 18 प्रकार की व्यापियां उत्पन्न होती हैं।

- ii. अव्यापत्र ऋतुकृत—स्वभावतः जिस ऋतु में विस दोष का स्वाभाविक संचय, प्रकोप व प्रशमन होता है उसी क्रम के अनुसार उस ऋतु में उत्पन्न होने वाली व्यापियां "अव्यापत्र ऋतुकृत" कहलाती हैं।

यथा—यसना ऋतु में कफ प्रकोप होता है अतः यसना ऋतु में होने वाली कफव व्यापियां "अव्यापत्र ऋतुकृत" कहलाती हैं।

1. दोषबलकृत ये अंतर्कृत समुत्थ विष्माहारापाकता है, तैर्ति द्विविष्मा: आमाशयसमुत्था, अव्यापत्रसमुत्था।
2. वर्षा ऋतु वर्ष्यावस्था परिवर्त्तन दौहकापचारकृत होने वाली व्यापत्र है।

(म) दैवित प्रबुत्त (Providential or Epidemic disorders) प्रहों के दुष्ट होने से, दैव, गुरु, धिप्र, सिद्ध, ब्रह्मि, आदि के निवासन में अधिशासन से तथा अभिचार (मारक मरीजों के प्रयोग) से उत्पन्न हुए रोग का अचिक्को छोड़े से उत्पन्न संक्रमण जन्य रोगों (Epidemic) को "दैवित प्रबुत्त" कही में रखा जाता है। जनपदोधर्षसंकरोगों का भी इसमें समावेश होता है। ऐसे प्रकार के होते हैं-

- प्रकार के होते हैं—**

 - i. विषुदशनि कृत ii. पिशाचादि कृत
 - i. विषुदशनि कृत—बिजली गिरने से, उत्कापात, धूमकेतु तारे के गिरने से उत्पन्न व्याधियाँ इसके अन्तर्गत आती हैं।
 - ii. पिशाचादि कृत (Infectious disorders)—पिशाच (पांसवर्ण और दोषात्मक) जन्य व्याधियाँ इसके अन्तर्गत आती हैं। इसके मुनः 2 भेद हैं—
 2. आकृत्यिक

1. संसाधनी
1. संसाधनी (Contagious Disorders) — देवता आदि अधिष्ठात्र देवताओं को प्रत्यक्ष उपरिक्षिति से या संक्रामक व्याधि से ग्रस्त रोगी के साक्षात् सम्पर्क में ही वाली व्याधियों का इसमें समावेश किया जाता है। चथा-कुष्ठ, नेत्राभिष्ठंद, इवादि।
2. आकस्मिक (Sporadic Disorders) — जिन रोगों का सही कारण नहीं होता तथा जो व्याधियां अकस्मात् ही उत्पन्न होती हैं उन व्याधियों का एकात् इत्तर्वा में किया जाता है।

(स) स्वभाव बल प्रवृत्ति
दो व्यक्तियों भानव शरीर में स्वभावतः उत्पन्न होती है अर्थात्, जो रोग शरीर में निकासी विकृति उत्पन्न हुये हो होते हैं जैसे-सूधा, यिषासा, वार्धक्य, निद्रा एवं कृत्य इन स्वभाव में ही उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार के रोगों को "स्वभाव बल प्रवृत्ति" रोग बोहे हैं। यह भी दो प्रकार के होते हैं-

मी आप प्रधान मार्केट पर्सन 100 वर्ष की उम्र में यहां बैठकर कलाकारों में यकातमय होने वाले रोग हैं, जिन्हें "कलाकृत रोग" कहा जाता है। इसे कलार्ट बुद्धि वे "कलाकृत रोग" भी कहा है।

II. अकालकृत रोग—ज्ञानी की यथोऽलिङ्ग भाद्र-विहार में ज्ञा न करने पर उत्पन्न होने वाले रोग, "अकालकृत रोग" कहलाते हैं। यद्या अमरण्ड चर्णों का युक्त छोटा, खालित, बली (त्वचा पर सूर्यों पड़ना) अर्द ल्पयिता। इन्हें "अस्त्रिकनकृत रोग" के नाम से भी जाना जाता है।

(iii) आधिभौतिक (Accidental Disorders)—इनके अन्तर्गत स्थानीय घटनाएँ आती हैं। इसका एक प्रकार है—

(अ) संवाद अल प्रयुक्ति

त्रामात् व्यवहार परिदृश्य (Traumatic Disorders)

(अ) संघात बन प्रवृत्त होने से वलवान मुहूर के ताय मुद्द करता है तब अधिक, इहाँ जब दुर्बल मनुष्य अपने से वलवान मुहूर के ताय मुद्द करता है तब अधिक, इहाँ चीड़नामि से रोग ढलता होता है। इन्हें "संघात बन प्रवृत्त" रोग कहते हैं। ये भी दो प्रकार होते हैं-

- ३४८ अस्त्रवृत्ति ॥ १० ॥ विवाहकृत

१. शस्त्रकृत रोग—जो रोग शस्त्रप्रहर लादी, तांदू, डलकर आदि के प्रहर होने से आघात के परिणामस्वरूप डलन होते हैं उन्हें “शस्त्रकृत रोग” कहते हैं।

॥. व्यालकृत रोग—खूंखार एवं बंगला जानवरों, सर्प आदि के नस, फूंग, देत, जिस आदि से दृतम होने वाली अधिकारी “व्यालकृत” कहलती है।

इन सात प्रकार की व्याधियों में से प्रथम दो जयांत, जादिपति प्रबृत्त व जन्मबत्त युवरूच व्याधियां पूर्वजन्म के विकारों के परिणामस्थलम् उत्पन्न होती हैं। अतः प्राण जन्मबत्त (Ante-natal Disorders) कहलाती है। शेष 5 प्रकार की व्याधियां जन्म वे पश्चात् जन्मबत्त होती हैं। अतः इन्हें जन्मोत्तर कालबत्त (Post Natal Disorders) कहते हैं।

संक्षेप में निम्न सारणी द्वारा आवार्य सुनुवत द्वारा वर्णित श्रिविध व्याधि / सत्तयिप
लिपि को प्रदर्शन किया जा सकता है—

। अमावस्या एवं शिविर भेद

६१) अस्ति चतुर्विंशति दो भेद

आदर्शल अमृत-

(ब) पितृज

1. भूमिप्रियत्व बलवद्दीते शापितिकम्। (स. २. २४/५ परं इत्यतः)
 2. गंगामहत्याय अवश्यत्वे दुर्बलत्वं बलविद्वाहा ते रमि द्विषेषं - गंगामहत्या अवश्यत्वाय। (स. २. २४/६)

काय-चिकित्सा

- | | | |
|--|-----------------------------|---------------------------|
| (ii) जन्मबल प्रवृत्त-पुनः दो भेद | (म) रसकृत | (म) लोहदारणी
ज्वरों के |
| (अ) रसकृत | | |
| (iii) दोषबल प्रवृत्त-पुनः दो भेद | | |
| (अ) शारीर-पुनः दो भेद | | |
| (i) आमाशयोत्थ | (ii) प्रवृत्त-पुनः | |
| (ब) मानस-पुनः दो भेद | | |
| (i) राजस | (ii) तापस | |
| II. आधिदैविक-पुनः चिकित्सा भेद | | |
| (i) कालबल प्रवृत्त-पुनः दो भेद | | |
| (अ) व्यापत्र त्रहुकृत | (ब) अव्यापत्र त्रहुकृत | |
| (ii) दैवबल प्रवृत्त-पुनः दो भेद | | |
| (अ) विद्युत दर्शन कृत | (ब) पिशाचादिकृत-पुनः दो भेद | |
| (i) संसर्गिद | (ii) आकस्मिक | |
| (iii) स्वभावबल प्रवृत्त-पुनः दो भेद | | |
| (अ) काल कृत | (ब) अकाल कृत | |
| III. आधिधैतिक-एक भेद | | |
| (i) संघात बल प्रवृत्त-पुनः दो भेद | | |
| (अ) शंस्त्रकृत | (ब) व्यालकृत | |
| IV. चिकित्सा व्यापि भेद | | |
| निज, आगनुज व मानस व्यापि के भेद से रोग पुनः 3 प्रकार के होते हैं— | | |
| (i) निज व्यापि—ऐसी व्याधियां जो शारीरिक दोषों वात-पित्त कफ से उत्तर होती हैं अर्थात् त्रिदोष में विकृति होने से उत्पन्न होती हैं उन्हें "निज व्यापि" कहते हैं। यथा व्याधिक वास, पैतिक अतिसार, रक्तार्श आदि। | | |
| (ii) आगनुज व्यापि—वात्कारों यथा कौटाण, विपाक जल, वायु आदि ने उत्पन्न होने वाले रोग या आपातज रोगों को "आगनुज रोग" कहते हैं। यथा-मृतार्थ, आपातज द्रवण, भान आदि। | | |
| (iii) मानस व्यापि—मानसिक दोष रज एवं तम से होने वाले रोग या इच्छित वस्तु के प्राप्त न होने से, किसी से हुए पर जो मानसिक विकार होते हैं, वे मानसिक व्यापिय कहलाती हैं। यथा-अपसार, डम्नाद, चितोटुग, अवसाद (Depression) आदि। | | |
| <p>1. व्यापि एवं उपचार-निषेधनुपायाः। उपचारः लाप्तिरपात्मुच्यः; आगनुजः..... निषेधेष्वापिः॥
(प.ग. 11/43)</p> | | |

व्यापि विवेचन

- III. रोग मार्ग के आधार पर चिकित्सा भेद**
- प्रिपित्र स्थानों पर होने वाले रोगों के आधार पर रोग प्रकार के गोपनीय हैं—
- (i) शारायागत रोग—यद्य रोग मार्ग त्वचा, रस, रक्तादि धनुओं को 'शारा' कहते हैं तथा इनमें होने वाले रोग 'शारायागत रोग' कहलाते हैं। यथा-कुद, विसर्प, व्यादि।
- (ii) मर्मस्थि संधिगत रोग—मर्मस्थि रोग मार्ग शिर, हृदय, वर्ण आदि मर्मों तथा आमिय-संधियों, स्नायु, कण्ठद्वा आदि में होने वाली अव्यापियों को 'मर्मस्थिगत रोग' कहते हैं। यथा-यस्ता, आमवाव, संधियत, इद रोग, मूत्रकृच्छ्र आदि।
- (iii) कोष्टुगत रोग—ठायन्तर रोग मार्ग फोड़ से शरीर का नमध्या या नदीनामुख का ग्रहण होता है। अतः आमाशय, पक्षवाय आदि में होने वाले रोग "कोष्टुगत" कहलाते हैं। जैसे अतिसार, ग्रहणी, जलांदर आदि।
- IV. कर्म की दृष्टि से चिकित्सा भेद**
- इस जन्म व पूर्व जन्म में किये गये कर्मों के आधार पर रोग दोन विकार के होते हैं—
- (i) प्रत्युत्पन्न कर्मज—इस जन्म में शरीर द्वारा किये गये कर्मों से उत्पन्न होने वाले रोग "प्रत्युत्पन्न कर्मज" कहलाते हैं। यथा-ज्वर, अतिसार आदि।
- (ii) पूर्वकर्मज रोग—पूर्वजन्म में किये गये दुष्कर्मों के पारिपूर्ण स्वरूप जो रोग उत्पन्न होते हैं वे "पूर्वकर्मज" रोग कहे जाते हैं। यथा-कुड़।
- (iii) परकृतकर्मज रोग—दूसरों के द्वारा किये हुये दुष्कर्म से दुःख का अनुभव होता है एवं उस अपकारी के प्रति मन में रोग उत्पन्न होता है, चरित्रान् स्वरूप रोग की उत्पत्ति होती है। ये रोग "परकृत कर्मज" कहलाते हैं। यथा-डंडग, झूंप, विचाद आदि।
- V. लक्षणों के आधार पर चिकित्सा भेद**
- रोग उत्पत्ति एवं लक्षणों के आधार पर व्याधि के लाल भेद है—
- (i) औपसारिंक रोग—इन्हें "उपह्रव" भी कहते हैं। जो व्याधि प्राप्तम उत्पन्न हुई व्याधि के बाद उस रोग के मूल कारण से ही उत्पन्न होता है उसे 'औपसारिंक रोग' कहते हैं।
- (ii) प्राक्केवल रोग—यह व्याधि जो प्राप्तम से ही उत्पन्न हुई हो वे किसी रोग का घूर्णप या उपह्रव न हो वरन् स्वरूप रूप से उत्पन्न हुई हो उसे 'प्राक्केवल रोग' कहते हैं।
-
1. प्रयोगेष्वार्थी-इति शत्रु, मर्मस्थि सर्वद, कर्तव्य। (प.ग. 11/43)
 2. ग्रह राया रक्तादयो..... अप्यप्रकाशपर्येति ॥ (प.ग. 22/2)
 3. ग्रह, औपसारिंको नाम यः पूर्वान्तर्व व्याधि वर्षनकालकाले व्यापिलम्बिति, महन्तु एवं उत्पन्नः ॥
प्राक्केवलो नाम यः प्राप्तेष्वार्थी व्याधिष्वापूर्वलोऽप्युद्धरण्यम् ॥ (प.ग. 25/16)

कार्य-चिकित्सा

190

आचार्य शास्त्र में एकदोषज, द्विदोषज य त्रिदोषज भेद रो छाँ। ॥१॥

कार्यालय हैं—

- (i) चातज— केवल विगुण चात से होनेवाली व्याधियाँ।
- (ii) पित्तज— केवल विगुण पित्त से होनेवाली व्याधियाँ।
- (iii) कफज— केवल विगुणित कफ से होनेवाली व्याधियाँ।
- (iv) चात-पित्तज— दूषित चात एवं पित्त दोनों दोर्पां से होनेवाली व्याधियाँ।
- (v) चात-कफज— विगुण चात एवं कफ दोष से होनेवाली व्याधियाँ।
- (vi) कफ-पित्तज— दूषित कफ एवं पित्त दोष से होनेवाली व्याधियाँ।
- (vii) सत्रियातज— त्रिदोष के वैषम्य (विकृति) से उत्पन्न होनेवाली व्याधियाँ।

II सत्रियध भेद

आचार्य शास्त्र में व्याधि के अन्य निम्न सत्र भेद भी बतलायें हैं—

- (i) सहज रोग— माता-पिता के बीज दोष से उत्पन्न व्याधियाँ (Genetic Disorders)।
- (ii) गर्भकाल के दौरान अपथ्य सेवन से उत्पन्न व्याधियाँ।
- (iii) जातज रोग— जन्म के समय से ही उत्पन्न व्याधियाँ (Congenital Disorders)।
- (iv) कालज रोग— काल (ऋग्वे वैषम्यादि)-प्रभाव से होनेवाली व्याधियाँ (Acquired Disorders)।
- (v) पौड़ाजन्य रोग— किसी प्रकार के आघात से उत्पन्न होनेवाली व्याधियाँ।
- (vi) प्रभावज रोग— देवादि के प्रभाव से उत्पन्न व्याधियाँ।
- (vii) स्वभावज रोग— स्वभाविक रूप से यथा समय होनेवाली व्याधियाँ।

III सत्रियध भेद

आचार्य मुश्तु द्वारा वर्णित त्रिविध व्याधियाँ में ही सत्रियध व्याधियाँ का सन्दर्भ हो जाता है। इनका विस्तृत वर्णन “त्रिविध व्याधि” के अंतर्गत किया जा सकता है।

- | | |
|-------------------------------|-------------------------------|
| (i) आदिवल प्रवृत्त व्याधि | (ii) जन्मबल प्रवृत्त व्याधि |
| (iii) दोषबल प्रवृत्त व्याधि | (iv) कालबल प्रवृत्त व्याधि |
| (v) ईद्रियल प्रवृत्त व्याधि | (vi) स्वभावबल प्रवृत्त व्याधि |
| (vii) संयोगबल प्रवृत्त व्याधि | |

VIII आधुनिक मतानुसार व्याधि भेद— आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में वर्तमान वर्णोक्त निम्नानुसार विद्या गया है।

1. त्रिवृत्त विवरणीय भूमि विषयः ॥ (अन्तर्गत २१)
2. लक्षण, शृणु गोत्र पर्वत-गाह-गाम-क्रमीदाकाराभाव रक्तपात्रजः ॥ (अन्तर्गत २२)
3. है पूर्व-स्थानक व्याधि: लक्षण-प्रादिवलप्रवृत्ति: जन्मबल प्रवृत्त, दोषबलप्रवृत्त, रक्तपात्र विवरण इत्युक्तः, ईद्रियप्रवृत्त, स्वभावबलप्रवृत्तः इति ॥ (अन्तर्गत २३)

आधुनिक विवेचन

191

- (i) प्रान्तनात्र रोग (Antenatal Disorders)
- (ii) जन्मोत्तर रोग (Postnatal Disorders)
- (iii) प्रारब्धनात्र रोग

ये व्याधियाँ जो जन्म के समय संतान में उत्पन्न होती हैं, इन्हें प्रान्तनात्र रोग कहते हैं। इसके दो भेद हैं—

(अ) आनुवंशिक (Hereditary Disorders)—जो व्याधियाँ जन्म-निति में बच्चों में पौढ़ी दर पौढ़ी बंगानुग्रह दोनों हैं वे “बंगानुग्रह व्याधियाँ” कहलाती हैं। यथा- Haemophilia, Colour Blindness इत्यर्थ।

(ब) सहज रोग (Congenital Disorders)— जो व्याधियाँ संतान में जन्म के समय से ही रहती हैं, परंतु इनका असरों मंदीत में दूसरे व्यवस्थक रूपों होता वे व्याधियाँ “सहज व्याधि” कहलाती हैं।

(ii) जन्मोत्तर व्याधियाँ

वे व्याधियाँ जो किसी कारणों से जन्म के पछाने जाने के क्रिया से काल में होती हैं, जन्मोत्तर व्याधियाँ (Acquired Disorders) कहलाती हैं। इनके निचे देखें—

- (अ) धातुग्राहक विकारज रोग (Chemical & Metabolic Disorders)
- (ब) चांत्रिक रोग (Mechanical Disorders)
- (स) शौकिक विकारज रोग (Physical Disorders)
- (ट) कोटाणुजन्य रोग (Parasitic or Infectious Disorders)

अन्य व्याधि भेदोपभेद

I. ईद्रियाधित रोग— आचार्य चरक ने कुछ ऐसे व्याधियाँ, जो ईद्रियों को अधिग्राहन बनाकर उत्पन्न होती हैं, का उल्लेख किया है। ईद्रियाधित का मर्य है ईद्रिय में अधिग्राहन बनाकर कुपित हुए दोषों से उत्पन्न व्याधियाँ। ये निन्म हैं—

1. ईद्रियोपधात— ईद्रियोपधात अथात् ईद्रिय विशेष या सम्मूर्ख विनाश। यस्तु दोषों से प्रकुपित ईद्रियाधितान का नष्ट हो जाता हो ईद्रियोपधात कहलाती है।
2. ईद्रिय अप्रवृत्ति— किसी ईद्रिय विशेष का स्वाविषय प्रवृत्ति में पूर्णतः विघट हो जाना।
3. ईद्रिय अयथाप्रवृत्ति— विकृंग ईद्रिय का स्वाक्षिणी-कर्तार में व्यापक होना।

1. ईद्रियविशामानिक्य प्रकृत्यावद वर्णनः।
उपप्राणोक्तान्वय योजनार्थित्यर्थि है॥

(अन्तर्गत २५/२०)

4. ईरियोपताप—ईरियोपताप में ईंधन, वैगुण्य हो जाता।
 ॥ निदानार्थका रोग—एक रोग भी अब रोग की बताति नहीं करता है। अर्थात् वब एक रोग किसी अब रोग का कारण या हेतु निदान का नहीं कहता है। अभियांत्र यह है कि पूर्वरोग जिन कारणों से उत्पन्न होता है। जैसे—ज्वर गैर कड़द इन हेतुनेवाला रोग भी उन्हीं कारणों से उत्पन्न होता है। कुछ व्यापियं स्वयं रहते हुये भी दूसरे रोग को उत्पन्न कर सकती हैं वजह कि रोग स्वयं शांत हो जाते हैं परन्तु दूसरे रोगों को उत्पन्नि में कारण बनते हैं। इनमें नहीं कि एक रोग दूसरे रोग को उत्पन्न करता है तो वह निदानार्थक (रोगार्थक) रोग कहा जाता है। जैसे ज्वर संताप से रक्षित तथा रक्षित से क्षय उत्पन्न हो सकता है। इनमें कि तो उत्तर रोग तथा उत्तर रोग से शोध रोग उत्पन्न हो सकता है।

निदानार्थकर रोग दो प्रकार के होते हैं-

- २ उभयार्धकारी

१. एकार्थकारी—कोई रोग अन्य रोग का हैतु होकर उसे उत्पन्न कर स्वयं मांस हो जाता है। उसे एकार्थकारी कहते हैं। यथा—पाण्डु के बाद कानका हूँड अविसर के बाद ग्रहणी होना।
 २. उभयार्थकारी—जब रोग स्वतंत्र रूप से रोग के रूप में रहते हूँये अन्य गंभीर भी उत्पन्न करता है जब उसे उभयार्थकारी कहते हैं। यथा अर्ष स्वयं मांस न हो परं गलम को उत्पन्न करे। प्रतिश्वाय रहते हूँये कास होना।

- III मलायतनज रोग— मलायतनज अर्थात् मलों एवं उनके आशयों (अधिकारी) द्वारा बाह्यमुख स्लोटों में दौरों के प्रक्रोप को ही मलायतनज अथवा मलायतन दोष भी कह जाता है। सामान्यतया सर्वथा त्वचा वस्तु की 'मल' संज्ञा होती है यथा पुरी, पूर्ण घोट रघा इन्द्रियों का भल। होकिन यहाँ 'दोष-धातु मल' सिद्धान्त के अनुसार वह उत्तरार्थ को दृष्टि से दौरों का ही नाम है। 'मलों' (दौरों) से रोगों की उत्पत्ति का इत्यर्थ (निर्णय) से दृष्टि दोष धातुओं को दृष्टि करते ही यथा दृष्टि दोष व धातु मलों वाले

- | | | |
|----|--|------------|
| १. | विद्युतकोर्ट देखे हैं कमन्यनुसारपट्टी।
ज्ञानानन्दनवारिणि मुरोपी॥ | (प.म. ३४६) |
| २. | पर्वतीपद्म वर्ती कल्पयांशुन इष च।
स्त्रीरोपे वर्ती तु एवं त्रिष्णामुखामोही॥ | (प.म. ३४७) |
| ३. | १ दृष्टि काल देखे पाराकृत्यनवारिणि॥
द्युपरिक्षण द्युमात्राकृत्यनवारिणि वारिणः॥ | (प.म. ३४८) |
| ४. | पर्वती संतोष तु विश्व विश्वामित्री विश्वको॥
तथा विश्वामित्रा विश्वामित्री विश्व वलयो॥ | (प.म. ३४९) |
| ५. | संतोष द्युष्मानिर्गु द्युष्मानिर्गु वलयो॥
भवेष्टु विश्वामित्रा विश्वामित्री वलयो॥
विश्व विश्वामित्री विश्व विश्व वलयो गतो॥ | (प.म. ३५०) |

दृष्टियां करते हैं। तत्परता दृष्टियां मत्त मनोविजयी को ही दृष्टि देते हैं उन्नत्यज्ञ इनके अपने अपने प्रकृतिगत दोषादि के अनुसार गंगा दृष्टि होती है। दृष्टि में प्रमुख व्याख्यान हैं गुदा, गोड़, दो फाल, दो नेत्र, दो नासिका तथा एक पूर्ण अद्वितीय दृष्टि यज्ञ के स्थल है। मत्त की दोष-दृष्टियां अनेक प्रकृतियों के कारण, भाव दृष्टि का धरण होते हैं के बजाए विद्युत मत्त डरती की दृष्टि रो रंगी देते हैं। उच्चतुर्क यज्ञावाहन गोदां के मन्त्रों में यज्ञ का तात्पर्य यज्ञ मत्त मूर्यादि ही नहीं अधिकृत दोष भावु, मत्त का मन्त्रार्थ यज्ञ अधिकृत है। इसके अलावा विश्वलिखित व्याधि भेदों का परिग्रन्थ किया जाता है-

- | | |
|-----------------------|------------------------|
| 1. मल भेद | 2. नारों का संग |
| 3. मलों का शोष | 4. बड़ों की पुरुष |
| 5. मलों की अप्रवृत्ति | 6. जनों की उम्मद पुरुष |

ब्याधि संकायः

जब दो स्वतंत्र व्याधियां एक साथ मिलती हैं तब उने अधिक मजबूत कहते हैं। अर्थात् जो रोग स्वयं शांत नहीं होता, वरन् अन्य रोग को उत्पन्न में बनाता है (केनु के समान) क्रिया भी करता है उसके व्याधि मंजर कहते हैं। जब दो रोग एक विशेषज्ञ हो तो उनके दोष-दूष्य-स्रोतस में समानता ही ज़करी है। वयस्त्रावृत्तिवाच अवयव स्रोत न हो अपितु कास व राजव्यक्षमा को उत्पन्न करे। इत्यत्रावृत्ति कास में दूष्य दौर वात-कृत है व क्षय विदोषज है। रोग से रोगानार की उत्पत्ति होने के कारण विकिरणा शून् नहीं नहीं होती। अतः इनकी विशिष्ट चिकित्सा करना चाहिए।

व्याधि हंता

किसी व्याधि विशेष को उत्पन्न करने में को भूलभू हेतु ही उन्हें व्याप हेतु कहा जाता है। यथा-मृद भक्षण से पाण्डु रोग होता है। दहाँ “मृदभक्षण” व्यापी सभी पाण्डु रोग का व्याधि हेतु है। इस संदर्भ में निदान के तीन ऐद बयान गए हैं—

1. दोष हेतु—ऐसे हेतु जो दोष प्रकोप करने में ३ भन हैं।
 2. व्याधि हेतु—व्याधि विशेष को उत्पन्न करने में कालनभूत हेतु व्याधि हेतु कहलाते हैं।
 3. उभय हेतु—ऐसे हेतु जो दोष प्रकोप करने के ताप-साप व्याधि विशेष को भी उत्पन्न करें। जिन कारणों से दोष वृद्धि, चबैनुज्ञ एवं विशिष्ट दूर्घटों के माध्यम से विशिष्ट रोग उत्पन्न होते हैं उन्हें उभय हेतु कहा जाता है।

1. वस्त्रादि युक्तमा हातपक्कन्तसंशयम्।
वस्त्रपक्काना युजेषु संहोतसाराहृतीय च ॥ (व.म् 7/42-43)
2. एवं कृष्णमा नृणा हरयनो व्याप्तिसंकुरा।
प्रसोऽप्यविश्वलक्षणं प्रान्तोन्तरभूया ॥ (व.नि. 8/22)

लक्षण

दोष-दूष-अधिग्रहण एवं सम्पूर्चणा वैशिष्ट्य तथा अनेक अन्य भावों वा रूपों सभी व्याधियों के अनेक लक्षण उत्पन्न होते हैं। परन्तु उनमें से कुछ विशेष लक्षण इस रूप से उसी व्याधि के द्वारा होते हैं। उन्हीं के आधार पर उस व्याधि का विशेष निदान किया जाता है। ऐसे लक्षणों को उस व्याधि के प्रत्यात्म लक्षण (Characteristic / Diagnostic features) कहा जाता है। आपुवेद (विद्वान्) लक्षण के निम्न भेद कर सकते हैं—

1. सामान्य लक्षण—रोग विनिश्चयार्थ व्याधि के ऐसे लक्षण जो सहित पाये जाते हैं, उन्हें उस व्याधि विशेष के सामान्य लक्षण कहा जाता है। यथा—ख्वरवरोध, सन्ताप एवं सर्वाङ्ग पीड़ा, यह ज्वर के सामान्य लक्षण है। ये लक्षण ज्वर के सभी भेदों में अवश्य पाए जाते हैं।
2. विशिष्ट लक्षण—किसी भी व्याधि के भेदोपभेद के लक्षणों को उस व्याधि के विशिष्ट लक्षण कहा जाता है। यथा—बातज ज्वर के लक्षण—भागों में कंपको, विषम बेग, मुख सूखना तथा जम्माई अधिक आना। पिण्डव ज्वर के लक्षण—ज्वर का गोक्षण बेग, अतिसार, घमन, तुषाधिक्य तथा भ्रग। कहन ज्वर के लक्षण—ज्वर का घंट बेग, आलस्य, अरुचि, कफस्वायन तथा निद्राधिक्य आदि कफज ज्वर के विशिष्ट लक्षण हैं।
3. प्रत्यात्म लक्षण—ऐसा लक्षण जो रोग के प्रति आत्म हो व उस व्याधि विशेष में समवाय के संबंध से स्थित हो, उसे उस व्याधि का प्रत्यात्म लक्षण कहते हैं। उदाहरणार्थ—आविल, भूत्र की जाति मात्रा में प्रवृत्ति प्रमेह का, प्रवाहिका में प्रवाहण एवं उत्सेप उदार रोग का प्रत्यात्म लक्षण है। इस प्रकार, प्रत्यात्म लक्षण ऐसे लक्षण अथवा ऐसे लक्षण होते हैं जो उस व्याधि विशेष में समवाय सम्बन्ध से स्थित हों अर्थात् उस लक्षण के बिना उस व्याधि को सद्ग हो नहीं पाये।

ट्रिप्पी व्याधि-नामकरण के आधारभूत सिद्धान्त

आचार्यों द्वारा स्पष्ट निर्दिष्ट किया गया है कि यदि चिकित्सक किसी रोग का नामकरण करने में असमर्पण हो तो उसे अपने इस शुद्ध ज्ञान पर गलानि नहीं करनी चाहिए क्योंकि संसार में जितने भी रोग उत्पन्न होते हैं उन सभी का नामकरण असम्भव है, क्योंकि नवीन एवं अनुतं रोग भी सदा उत्पन्न होते रहते हैं। अतः चिकित्सक जो दोष-दूष-संताप-प्रकृति-देश-काल आदि के आधार पर रोगों का ज्ञान कर अपने विवेक व आधार पर दृढ़ क्षर्वक चिकित्सा करनी चाहिये।

1. विशेषज्ञानान् न विद्यत् एव विद्वा ॥
न द्वै गर्व विद्वान् विद्वान् ॥ नि पृष्ठा विद्वतः ॥
न एव वृद्धिर्वाप्ते, गाम्यान्विद्वान् ॥
मृद्वन्वान्वान् ॥ वृद्वन्वान् वृद्वा ॥

(पृष्ठ 18/44-45)

रोग प्रकृति (समिकृत कारण), अविद्वान् (गमन), विद्वा (ज्ञान), आज्ञान (देह) एवं विद्वान् (दोगों की अंशाग कलमा) की विवेचना में आवश्यकताएँ हो सकते हैं। व्याधि रूजा (वेदना), वर्ण, समुत्थान (विद्वान् या कारण), घटन, मंगमन (लक्षण या विह) एवं नाम के भेद से भी अंगता ही मर्करी है एवं यहीं की गला करना अक्षया उन्हां वर्णन असंभव है। अतः स्थूल रूप में निर्विक्षय करने के लिये उनका मंग्रह किया गया है।

विमलतिष्ठित कुछ प्रमुख रोगों का नामकरण इन्हीं विद्वानों के आधार पर किया गया है—

व्याधि/नामकरण आधार	रोग/व्याधि
✓ रूजा के आधार पर	अर्ग, विफ्ल अंगन्दू, दार्शन्दू, वर्णज्ञान शूल, आप, घोर, तंद, दाह, ग्रह, घंट आदि।
✓ वर्ण के आधार पर	पाण्डु, वानला, हलानक, रवंत्र कुटु, कालमेह, हांटिं भेह आदि।
✓ समुत्थान (कारण) के आधार पर	कृनिज हृद रोग, याहसवन्न रुप, मध्व वृष्णा, ब्रह्मदशास, रक्त गुल्म, नुदपसनवन्न पाण्डु आदि।
✓ स्थान या अधिग्रहण के आधार पर	प्रहणो दोर, स्फक्षय, रिट्टरुल, स्फक्षन्दू, हुनुद्रह, कर्णन्दू, बोनिमान्दू, सोंप्यात आदि।
✓ लिङ्ग या संस्थान के आधार पर	उन्नास, आवेतास, बाल, हिक्का, मूर्छा, स्वरमेद, प्रमेह, जलन्द, कुटु, अरमो आदि।
✓ आकृति के आधार पर	मसूरका, चंपु, दम्दालतक, धनुस्तन्म आदि।
✓ सादृश्य के आधार पर	माज्जिडन्द, इमुन्द, क्रोटुक रोयं इत्यादि।
8. प्रकृति (समिकृत कारण) के आधार पर	वातरल, आमवात, कम्बवात, वातकन्दक, रक्तित, पितृज ज्वर, कफज ज्वर, कफज आर्तजार आदि
9. विशेष आधार पर	विसर्ज, गजदस्ना इत्यादि।
उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि उक्त विशेषताओं के आधार पर यदि रोगों का व्याधिकरण अधिक व्याधि नामकरण किया जाये तो वे असंदृश्य हो जायेंगे। आवश्यक एवं सुकृत व्याधिकरण अधिक व्याधि नामकरण किया जाये।	(चप 203)
1. विकासः पुरा: अपरिशोद्योगः प्रकृतिप्रकाश विद्वान् विकल्प विशेष विवेचने वाले व्याधिकरण के लिये।	
2. न एषांसिंखेष्या विद्वान् विकल्प विशेष विवेचने वाले व्याधिकरण के लिये।	
वर्ण वर्ण रामुच्छन स्थान संस्थान नामपि: ॥ व्याधिकरण लेण व्याधिकरण संज्ञः: ॥ गाम्य प्रकृतिविवेचने वाले व्याधिकरण के लिये।	

(च.पृ. 18/42-43)

ने नानामज एवं आविष्कृतम रोग उठ आधार पर ही बताये हैं। आगांगों में उत्पत्ति दोनों की स्थिति में उनका नया नामशरण करने वाली स्थलोंका निर्देश दी है।

सामान्य एवं नानामज विकारों का चिकित्सा सिद्धान्त

सामान्य व नानामज विकार दोपर होते हैं। इनमें दोष-दूष्य का आपातक प्रथान दोष की ही चिकित्सा करनी चाहिये। इन दोनों विकारों के चिकित्सा सिद्धान्त प्रकार है—

1. ये विकार दोष की विषमता से होते हैं, अतः दोष विषमता को दूर करनी साम्भला स्थापित करनी चाहिये।
2. संक्षेपतः सभी रोगों में निदान (प्रारंभिक कारण) का त्याग करें।
3. क्षीण दोष का भूलन्, कुपित दोष का प्रशमन, वृद्ध दोष का निर्हरण (रोग) एवं समदोष का परिपालन करना चाहिये।
4. सामान्य विशेष सिद्धान्तानुसार सभी भावों की वृद्धि करने वाला 'सापेन' होता है एवं 'हास' का कारण 'विशेष' होता है। अतः सामान्य एवं विशेष से दोष धातु मल की वृद्धि एवं लास किया जाता है। यह सामान्य (i) इष्ट सामान्य (ii) गुण सामान्य एवं (iii) कर्म सामान्य होता है तथा विशेष (i) द्रव्य विशेष (ii) गुण विशेष एवं (iii) कर्म विशेष होता है।
5. स्वस्थ मनुष्य के दोष, धातु एवं मलों की रक्षा करनी चाहिये। अल्पश मनुष्य के बड़े दूष दोष धातु मल का छास करना चाहिये व लास हुये दोष-धातु-मल को बढ़ाना चाहिये। यह कार्य तब तक करें जब तक कि दोषर सामान्य न हो जाए।
6. यह दोष की चिकित्सा में वस्ति व तैल का प्रयोग, पित्त दोष की चिकित्सा में विशेष व छूत का प्रयोग व कफ दोष की चिकित्सा में वमन व मधु का प्रयोग डूबन व शमन चिकित्सा है।

1. आगन्तुक दोषकार्य दोषस्थान्तरण।	(अ. ग. 12)
2. मंददूषणः क्रियाकालनियन्त्रणवर्तीन्।	(सु. ग. 12)
3. दोषः दोष वृद्धिकार्यः वृद्धितः प्राप्तिकार्यः, वृद्ध निर्विनाशः, मलः पीड़ाकार्य विनाशः।	(सु. पि. 33)
4. सर्वदा गर्वपातानो गम्भार्य वृद्ध करतव्यः। इष्ट द्वृष्ट विशेष द्वृष्टि करतव्यः।	(च. ग. 14)
5. स्वस्थान दात्य वृद्धान्तरण वृद्धिनान्। दात्य द्वृष्टि विशेषार्थ द्वृष्टि करतव्यः। विशेषः द्वृष्टिविशेष दोषानुबन्धन विशेषः। विशेषकारणः वृद्धान्तरण स्वस्थानः।	(च. ग. 15-16)
6. गर्वपाता दोषान्तरण द्वृष्टि वापीरपदः। वीर्यन्तराका वयन वृष्टि वृष्टि करतव्यः।	(अ. ग. 12)

7. कफ का प्रतिकार दुर्बलता नीछे भीरुप द्रव्यों में, वाल वा प्रतिकार मित्रवत् स्नोट इलांगे में गथा इन का दूषणम् तमाई की नग्न मधु व शीतल औरुप द्रव्यों में करना चाहिये।
8. सत्रिपावज रोगों में सर्वप्रथम गाय दोष की चिकित्सा उपर्युक्त द्रव्यके बहु इन दोष दोष की चिकित्सा अन्त में कफ दोष की चिकित्सा करनी चाहिये। अथवा ये दोष अधिक वस्तवान हो द्रव्यम् उपर्युक्त द्रव्यके चिकित्सा करनी चाहिये।

रोगोत्पत्ति में दोष की कारणता

सभी रोगों का मूल कारण प्रकृष्टिपूर्ण दोष है, तथा दोष प्रकृष्टिपूर्ण कारण अवैक प्रकृत के अहित पदार्थों का संवेदन (अस्त्रावंशिकार्य नियोग, इलांग वृद्ध वृद्धिनाम्) है। आगन्तुक रोग अधिग्रातज या भूगांड (जीवानुओं) के उत्तरान में उत्तरान होते हैं। इनमें उत्पत्ति काल में दोष प्रकोप नहीं होता तथावित-आगन्तुक कारणों की उत्पत्तिकी उत्पत्ति दोष प्रकोप होकर व्याधि की उत्पत्ति होती है। अतः आगन्तुक गंगा भी कलान्तर में दोष जात रोग ही हो जाते हैं। निज रोगों में प्रथमतः आत-निज-करु दोषों का उत्तरान होता है यहांतः इनको दुष्टि जनित रोग उत्पत्ति होते हैं। अतः रोगों का दोषों के साथ 'अविकृष्टिपूर्ण संबंध' कहा जाता है।

इसी प्रकार जब शारीर दोष प्रकृष्टिपूर्ण होकर शारीर रोगों को उत्तरान करते हैं तब उनमें भी मानस दोष रज एवं ताप के प्रकोप से होने वाले लक्षण निलिखे हैं। तथा मानस दोषों से मानसिक रोग उत्पत्ति होने के बाद शारीरिक दोषों (विद्रोह) के प्रकोप होने से शारीरिक रोग के लक्षण भी प्रकट होते हैं। अतः निज, आगन्तुक-शारीरिक एवं मानसिक, ये चारों रोग परस्पर संबद्ध हो जाते हैं।

शारीर एवं मन का एक दूसरे के साथ अतोंब घनिष्ठ संबंध है इस वे एक दूसरे से प्रभावित होते हैं।

उसी प्रकार शारीरिक दोष व मानसिक दोष भी परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं एवं इनके साथ कभी पहले व कभी बाद में आगन्तुक रोग भी नित जाते हैं अतः निज-आगन्तुक-शारीर एवं मानस रोगों का परस्पर संबद्ध होना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है।

आगन्तुक-निज-मानस-शारीरिक रोगों की परस्पर संबद्धता

आगन्तुक रोगों में रोगोत्पत्ति पक्षात् दोष प्रकोप होता है। उसी प्रकार निज रोगों में भी

1. कफ उत्तरान तीसरीनो द्वेषेन वित्तवा। पित्त गम्भार्य नधृत शीतलवैयंग। (पौराणिः)
2. विशेषानुभवेत् पित्त विशेषानुभवेत् कफम्। वृष्टिः वा अद्येत् वृष्टि यो भौद्धावत्तरः। (च. पि. 19/22)
3. सर्वेषाम् रोगान् विशेषं युक्तिगतः। गर्वकोपस्य गृष्णक विशेषानुभवेत्। (च. ग. 12-13)
4. जात प्रत्याविकर्षं लिङ्गं सनातो देहवानाः। (च. पि. 3/31)
5. कफ-भौद्ध-वृष्टि वापु गृष्णक पित्तं, विशेषानः। (च. पि. 3/115)
6. सर्वेषाम् वास्त्रोत्तरपित्तानुभवेत् विशेषानुभवन्ति। (च. ग. 10/7)
7. गर्वानुभविष्यते मन्त्रं, च शीतलम्। (च. पि. 6/8)

बाहु कारणों से आनन्दुज रोग होना संभव है। जैसे ज्वर एवं उम्माद गोपनीय हुआ हो परन्तु बाद में उनमें भूतानेश-ज्वर में जीणानुसारकमण तथा उम्माद में उम्माद का प्रवेश हो सकता है। इसी प्रकार अधिग्राहज ज्वर या भूतोन्माद में बाद में प्रकोप होकर सक्षम उत्पन्न हो सकते हैं।

जब पूर्व में उत्पन्न किसी रोग के साथ पक्षात् उत्पन्न किसी रोग का अनुबंध हो तो अनुबंध के फलस्वरूप वे रोग परस्पर एक दूसरे के बल की घटित चरों हैं। उत्पन्न के रोग की साधता कृच्छ्रसाधता में बदल जाती है। यथा वामादि भानस विकारों या शारीर विकारों का परस्पर अनुबंध होता है। कामवासना की अवृत्ति से, ग्रोथ या ज्वर तथा ज्वर होने पर मानसिक दोषों के प्रकोप से अर्ति, ग्लानि, ग्रोथ आदि विकार सक्षम प्रकट होते हैं।

जब एवं शोक से अतिसार या अनिच्छित भूतोत्सर्ग हो जाता है। यिन्हाँ ग्रोथ प्रकोप होकर रक्तविकार या दृढ़रोग हो जाता है। स्मरण से भी रोग उत्पन्न हो जाता है। यह विषम्बन्ध के वेगकाल का स्मरण करने से उस काल में ज्वर आ जाता है। वात प्रशोष में भ्रम हो जाता है।

दोष याहे शारीरिक हों या मानस, इन दोनों का आश्रय शारीर है। शारीर दोषों का संतरण एवं सञ्जिपत रहना ही रहता है। उसी प्रकार मानस दोष भी शारीर दोषों से उभयनिःरुद्ध होते हैं। रक्ते गुण का वायु से तथा तनोगुण का कफ से सम्बन्ध होता है।

जब दोष प्रकोप का कारण मिथ्या आहार-विहार होता है तब उसके साथ अन्य होने वाले प्रकृतिहीन ज्वर है जैसे कटु, तिक या कथाय रस वात वर्धक हैं। कटु रस के अन्य संवेन से बात के साथ पित का भी प्रकोप कुछ अंशों में होता है। अम्ल रस के अतिरिक्त द्रव्य के अनिच्छित कफ का भी प्रकोप होता है। वर्णा ज्वर में पित का संरचय होता है तब वात का प्रकार भी होता है तथा शरद जल्दी में पित का प्रकोप होता है तब उसके माल कपानुस्थल अवश्य रहता है। अतः ऐसी स्थिति में प्रधान वं अप्रधान का निर्धारण करने हीं प्रधान दोष की प्रथम चिकित्सा करनी चाहिये।

1. दा रिक्तनुर्देशः देहु पूर्व वातान्ये वैष्णवामादादाने,
द्वयं देवतां दीर्घायं विवेतः ॥ (अथ गु. 23/6)
2. वृद्धोद्देवतान्योर्विषयदाय यो ज्वरः।
वृद्धोद्देवतान्योर्विषयदाय यो भूतीभवान् ॥ (अथ वि. 3/11)
3. रस विकाराद् द्वयः। (सु. 4/5)
4. दृढ़ो दंडनन्देवतान्योर्विषयः। दोषो या स्पानगुणात् दोष विद्युतीयः स्पानः। (अथ वि. 6/1)
5. दृष्टि प्रकोपं भवति, वृद्धोद्देवतान्योर्विषयः। दाय व्याप्तिः वृद्धोद्देवतान्योर्विषयः। (अथ वि. 21/4)

*** देवता दीर्घायं ***

सामग्र अध्याय

निदान पंचक विवेचन

शैक्षिक एवं लौकिक व्याप्ति हेतु

दुःख से हमेशा के लिये पूर्ण रूपेण मुक्त हो जाय ही 'निः' है। अतः देवो विषयों जो दुःख मुक्ति में व्यवधान उत्पन्न करें द्वन्द्वे 'शैक्षिक व्याप्ति' कहने हैं। तथा देवो रोग के कारणों को 'शैक्षिक व्याप्ति हेतु' कहते हैं।

मानवीय दुःख की आत्मानिक निवृति में स्वतंत्र बहुत बाधा है तथा। तृप्ति के दो प्रकार कहे हैं—

1. सुख के प्रति इच्छा रूपी तृप्ति। 2. दुःख के ग्रहि द्वैष तृप्ति तृप्ति।

इसी तृप्ति के वशीभूत होकर प्राप्तो असामर्येन्द्रियाद्यं संक्षेपं प्रकाशय त्वं वस्त के हीनं, मिथ्या व अतियोग आदि के कारण उन-उन वेदनाद्यों के कलार्थं या संग्रह करता है। तथा विषय प्रकार की शारीरिक या मानसिक वेदनाद्यों का व्यक्तव्यत बन जाता है।

उपथा—इस संसार में प्रवृत्ति के कारण मात्र है, इच्छा एवं द्वैषप्रकाश किम्पे गमे कर्म ही है। यह प्रवृत्ति ही 'उपथा' या 'तृप्ति' कहतात्मा है, जो शारीर व मन में होने वाले दुःखों का मूल कारण है। जिस प्रकार देवता का कौदृष्ट अपने शरीर के दंडनों से निर्दिष्ट सूक्ष्मात् वें कंस जाता है जिससे निकल पाना उसके लिये तंपव जही होता, उसी दरह मङ्गलों व भृत्य तृप्ति तृप्ति के वशीभूत होकर इन्द्रियों के विषयों को ऊपर तथा सामाजिक विषय वासना में कंसकर भोग लालसा में लिप्त होकर उनमें ही उकड़ कर रह जाता है, परिचरमः वन्म-मरण के चक्र में भूमता हुआ नानाविधि वेदनाद्यों का चात्र बन जाता है।

उपथा की एक संज्ञा 'भावदोष' है जिसका अर्थ है 'प्रवृत्ति'। 'भाव दोष' के कारण

1. चिकित्सा तु शैक्षिकी या विषेषप्रथम्।
2. वृद्धोद्देवतान्योर्विषयदाय द्वयः। तृप्ति य सुखः द्वयं कामं पुरुषाद्योः। (अथ १/३४)
3. दा वृद्धोद्देवतान्योर्विषयदाय द्वयः। तृप्ति यामादेवतान्योर्विषयदाय विषेषप्रथम्। (अथ ६/६)
4. तृप्ति वृद्धोद्देवतान्योर्विषयदाय द्वयः।
5. दृष्टि विद्युतीयः। तृप्ति यामादेवतान्योर्विषयदाय द्वयः। (अथ १/१५)
6. वृद्धोद्देवतान्योर्विषयदाय द्वयः।

हो पुल्प संसार में बंधा रहता है। योह, इच्छा ये हैप ही भाव दोय है। (१) अपर्म (३) ज्ञान (५) अज्ञान (६) वैराग्य (७) गोपनि (८) इनमें से ज्ञान को छोड़ रोप सत्ता भावों को 'उपधा' कहते हैं।

संसार में दुःख का कारण 'प्रवृत्ति' है। मिथ्या ज्ञान रूपों मोह से उपर्युक्त भावना होती है। इस प्रकार मोह, इच्छा ये हैप से उत्पन्न कर्मों के फल भोग्य के मनुष्य चार-चार शरीर धारण करता है एवं जन्म-मरण के क्लेश का भाग होता है। आचार्य चरक ने 'प्रवृत्ति' को 'दुःख' कहा है एवं 'तृष्णा' को हो दुःखों का उपर्युक्त है। अतः आत्मनिक दुःखों की निवृत्ति में वाधक होने से तृष्णा या उपधा हो 'व्याधि हेतु' या मूल कारण है।

I. लौकिक व्याधि हेतु या निदान/हेतु

रोग विनिष्ट्य (Diagnosis) को आयुर्वेद में अत्यधिक महत्व दिया गया है। सूत्र एवं लिङ्ग सूत्र के द्वारा त्रिसूत्र आयुर्वेद में सर्वप्रथम रोग धरीका का उपर्युक्त विषय। रोग धरीका के लिये चांच उपायों का उपयोग किया जाता है जिन्हें 'निदान चंचक' कहा है। रोग के परिज्ञान को 'निदान' कहा जाता है। एवं रोग निदान के साधनों को विषय चंचक कहा जाता है। इनका ज्ञान रोग निदान के लिये परमावश्यक होता है। ये निम्न-

- | | |
|-----------------|-------------|
| 1. निदान (हेतु) | 2. पूर्वरूप |
| 3. रूप | 4. उपशय |
| 5. सम्प्राप्ति | |

निदान या रोगोत्पादक कारण को ही 'हेतु' या लौकिक 'व्याधि हेतु' कहते हैं।

हेतु के पर्याय—आचार्यों ने हेतु के विभिन्न पर्यायों का वर्णन किया है। सुनिष्ठ, आपतन, कर्ता, कारण, प्रत्यय, समुद्धान, निदान, मूल, योनि, मुख, द्रेष्ट एवं प्रकृति ये सभी से रोगोत्पादक कारण का वोध होता है। 'ज्ञान' एवं 'मूल' पर्याय आचार्य चारभृत ने तथा 'मुख' एवं 'प्रेरण' पर्याय आचार्य चक्रपाणि ने विशेष बतलाये हैं। आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में इसे Aetiology कहता है।

1. है: मर्तिमेन वानपत्प्रसादमहत्वा प्रवृत्तिः।
मैव य दुर्योगं प्रति विषयोत्पादकमनेषम्॥
2. प्रवृत्तिः तन्।
3. मीटोप्य दुष्ट वर्णेष्वान् प्रवृत्तिः।
4. ४ निर्दिष्टो व्याधिमेनेति निदानम्।
५ व्याधिविविषय कर्त्तव्य निदानम्।
5. ६ यन् यन् तु रुद्धिमित्यमलानं कर्ता कारण प्रत्ययः समुद्धान निदानमित्यनाम्।
6. निदानकर्त्तव्यं रुद्धिमित्यमलानं कारणः कर्ता पराप्रत्ययः समुद्धानं चूर्णं योनिरिति। (अप्सरि १७)
7. प्रूपानि कर्त्तव्यं ग्रेवं कर्त्तव्यः।
(च.मृ. २०४-५ पा. चक्रपाणि)

हेतु का लक्षण—जो मिथ्या आहार-विहार आदि वाच्य निमित्त ज्ञानों से खलुओं में विषयस्ता उत्पन्न करके शारीर या मानस रोग उत्पन्न करे या विष-रसव-अ॒य॑-वी॒या॑-अ॒यिष्यात् आदि अन्य बाह्य निमित्त कारणों में विना दोषों में विषयस्ता उत्पन्न करके शारीर-आत्मनुज रोग उत्पन्न करे तसे 'हेतु' या 'निदान' कहते हैं।

'मधुकोपकार' ने निदान की एक अन्य परिभाषा दी है जिसका अर्थ है—दोष प्रकोपण आदि अनेक कारणों को करते हुए, जो रोग उत्पन्न करते हैं उसे निदान कहते हैं। इस प्रकार विविध अहित आहार-विहार विनके संबन्ध में दोषों का प्रदोष होता है इया ये दोष जो स्वयं दूषित होकर दूषों को दूषित कर रोग उत्पन्न करते हैं ये निदान कहलाते हैं।

विशेष

आचार्य चरक एवं आचार्य सुदूरान ने बाह्य करम को निदान कहा है। आचार्य सुदूर ने सभी रोगों को संक्षिप्त चिकित्सा 'निदान परिवर्जन' कहा है अर्थात् निन करनें से दोष दूषय कर्त्तव्य रोग हुआ है उन कारणों का त्वाग करना चाहिये। आचार्य चरक ने भी विमान स्थान में निदान, दोष तथा दूष्य की विशेषता होने से रोग को उपर्युक्त उपाय अनुप्रति का बर्णन किया है। अतः दोनों आचार्यों ने ही निदान को दोष-दूष्य से जिन अद्यात् बाह्य करण मना है। परन्तु आचार्य सुदूरान शास्त्रों ने 'माधव निदान' को विद्योतनों टॉको में केवल बाह्य निमित्त को ही निदान माना। अपूर्ण एवं युक्त विशेष कहा है दूष निदान के बाह्य एवं आप्यन्तर इन दो भेदों को स्वीकृत किया है। उनके अनुप्राप्त प्रत्येक कार्य को उत्पत्ति के लिये निमित्त, समवायी एवं अत्यवलयी इन दोनों कारणों को अपेक्षा होते हैं।

रोग एक कार्य है तथा इसकी उत्पत्ति के लिये बाह्य आहार-विहार आदि निमित्त कारण, दोषवैयाप्य समवायी कारण तथा विकृत दोष-दूष्य सम्बूद्धता असमवायी कारण होते हैं। अतः दोनों कारण ही रोगोत्पाति में कारण माने गये हैं। रोग विशेष के अनुसार इनकी प्रधानता या अप्रधानता होती है। रोगोत्पाति के पूर्व दोष वैषम्य होता ही सभी आचार्य मानते हैं। दोष प्रकोप पूर्वक बाह्य निदान रोगोत्पादक होता है इस धारणा से भी 'दोषा एवं सर्वेषां रोगाणामादिकारणम्' का विशेष नहो होता, अतः बाह्य निदान को ही निदान मानना उपयुक्त है।

निदान के प्रकार

विभिन्न आचार्यों ने अनेक प्रकार से निदान का वर्णकरण किया है जो निम्नानुसार है—

1. यदृष्टि निमित्तं रोगाणां निदानविषयं कोतिरितम्।
विपाप्य भातुपैदान्यं साशाद् या रोगवर्ती तन्॥
2. मीतिरित्यविषयः रोगोत्पादकहेतुनिदानम्।
3. बाह्याभ्यन्तरभेदाच्च हिपा-बाह्य आडात्माभावः, आप्यनां दोष दूष्यतः।
(संप्रिक्तिकरण सत्रोऽपि मधुमेनोऽपि)

- I. चतुर्विध निदान—ये निम्न हैं—
 - (i) सनिकृष्ट निदान
 - (ii) विप्रकृष्ट निदान
 - (iii) व्यभिचारी निदान
 - (iv) प्रापानिक निदान
- II. श्रिविध निदान—ये निम्न हैं—
 - (i) मसाल्येन्द्रियार्थ संयोग
 - (ii) प्रज्ञापराय
 - (iii) परिणाम (काल)
- III. त्रिविध निदान—ये निम्न हैं—
 - (i) दोष हेतु
 - (ii) व्याधि हेतु
 - (iii) उभय हेतु
- IV. द्विविध भेद—ये निम्न हैं—
 - (i) डत्पादक हेतु
 - (ii) व्यंजक हेतु
- V. द्विविध भेद—ये निम्न हैं—
 - (i) नाड़ा
 - (ii) आध्यात्म

दोषों की गति के भेद से निदान के अन्य प्रकार निम्न हैं—
- VI. त्रिविध भेद—ये निम्न हैं—
 - (i) शय
 - (ii) वृद्धि
 - (iii) अ
- VII. द्विविध भेद—ये निम्न हैं—
 - (i) प्राकृत
 - (ii) वैकृत
- VIII. द्विविध भेद—ये निम्न हैं—
 - (i) अनुबन्ध
 - (ii) अनुबन्ध
- IX. द्विविध भेद—ये निम्न हैं—
 - (i) प्रकृति
 - (ii) विकृति
- X. एक भेद—
 - (i) आशयापकर्त्ता

I. निदान के चतुर्विध भेद.

(I) सनिकृष्ट निदान

स्वाधारिक रूप से दिन, रात व भोजन के आदि, मध्य एवं अन्त में क्रमशः बहुपित रथा वायु का प्रकोप होता है। इस प्रकोप के लिये दोष संचय की आवश्यकता नहीं होती, यह 'सनिकृष्ट हेतु' कहलाता है।

1. अंगोऽहोर्ष्यं पूर्वां तैः नानापर्दितः। [प्रथा।] अस्मिन्हौ रथा-नन्दिनीशुभुक्तोऽपि दोष प्रबोधयत् ॥३॥
अर्थात् पर्वते विवरो व्याप्तिकृत व्यापाद्यार्थः।

(II) विप्रकृष्ट निदान

इस प्रकार के हेतु एक नियत समय तक मंचय के बाद दोष प्रकोप कर देंगे डत्पत्र करते हैं। यंत्रा-हेतुना व्यतु में संचित हुआ कफ प्रसन्न मूर्ख में मूर्ख की गति में विपलकर कफज रोगों ज्ञान डत्पत्र करता है। इसमें विप्रकृष्ट हेतु 'मूर्ख की गति' है। इसी प्रकार गोलानु जन्म देंगे जी निवृति संचयकाल (Incubation Period) के बाद ही डत्पत्र होते हैं।

(III) व्यभिचारी हेतु

जो हेतु कभी रोग डत्पत्र करने में समर्थ हों एवं कभी अन्यर्थ हों उपरे व्यभिचारी हेतु कहते हैं। निर्बल या अल्प सूल हेतु अल्पांश में ही दोष प्रकृति करता है। अतः रोग हेतु कहते हैं। निर्बल या अल्प सूल हेतु रोगोत्पादक होता है। इस प्रकार कभी देंगे डत्पत्र करना एवं कभी रोग डत्पत्र न करना इस प्रकार का व्यभिचार होने से ही इसे 'व्यभिचारी हेतु' कहा गया है।

(IV) प्रापानिक हेतु

उग्र स्वरूप के कारण शीघ्र ही दोषों को प्रकृति कर देंगे डत्पत्र करने वाला हेतु प्रापानिक हेतु कहलाता है। ऐसे विष आदि।

II. निदान के त्रिविध भेद

(i) असाल्येन्द्रियार्थ संयोग

त्वचा, शोत्र, नेत्र, बिहारा एवं ग्राण इन पांच इन्द्रियों का अन्ते-अन्ते विशेषोऽङ्गस्तः; त्वचा, शोत्र, नेत्र, बिहारा एवं ग्राण इन पांच इन्द्रियों का अन्ते-अन्ते विशेषोऽङ्गस्तः; त्वचा, शोत्र, नेत्र, बिहारा एवं ग्राण इन पांच इन्द्रियों का अन्ते-अन्ते विशेषोऽङ्गस्तः; त्वचा, शोत्र, नेत्र, बिहारा एवं ग्राण इन पांच इन्द्रियों का अन्ते-अन्ते विशेषोऽङ्गस्तः।

त्वचा समस्त इन्द्रियों में व्यापक है तथा मन का त्वचा के साथ सम्बन्ध सम्बन्ध रहता है। व्यापक होने से त्वचा सर्व इन्द्रियाधारों में व्यापत है। जातः त्वचा का रहता है। व्यापक होने से त्वचा सर्व इन्द्रियाधारों में व्यापत है। जातः त्वचा का रहता है। असाल्येन्द्रियार्थ संयोग सभी इन्द्रियों से असाल्येन्द्रियार्थ संयोग जाता जाता है।

इन्द्रियां चाँच हैं जातः असाल्येन्द्रियार्थ संयोग भी पाँच प्रकार का होता है—

1. कर्णेन्द्रिय असाल्येन्द्रियार्थ संयोग

2. त्वक् असाल्येन्द्रियार्थ संयोग

3. नेत्र असाल्येन्द्रियार्थ संयोग

1. हैमते विषाः रहेष्या शीघ्रव्याप्तिरात्मेत्येति। (मुख्य. 64/32)

(मुख्य. 64/32)

2. शीघ्रपाद्मते कृपितः कुप्त्वे च गदान् घट्वा। (माति. 1/4 पा. मध्योग)

(माति. 1/4 पा. मध्योग)

3. व्यापिक्यारी वया-यो दुर्बहात्याद् व्यापिक्यारीत्यस्यर्थः। (माति. 1/4 पा. मध्योग)

(माति. 1/4 पा. मध्योग)

4. शीघ्रपाद्मते विषाः।

(माति. 1/4 पा. मध्योग)

5. विषिष्ये या असाल्येन्द्रियार्थसंयोगः तिव्योगाद्विषेषोऽपि व्याप्तिरात्मेत्येति। (माति. 1/4 पा. मध्योग)

(माति. 1/4 पा. मध्योग)

6. असाल्येन्द्रियार्थसंयोगोऽपि व्याप्तिरात्मेत्येति।

(माति. 1/4 पा. मध्योग)

काय-चिकित्सा

4. रसग्रन्थीय विषयातियोग संयोग
 5. काणेन्द्रिय विषयातियोग संयोग
- इनके पुनः होने, अति एवं मिथ्या योग के भेद से कुल 15 प्रकार के आयामोऽप्य संयोग हो सकते हैं जिनका संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है—
1. चक्षु इन्द्रिय विषयातियोग—अति दैजस्वी सूर्य, विशुत आदि गों भूमि समय तक देखना।
 2. चक्षु इन्द्रिय विषय अयोग—किसी भी वस्तु या दृश्य को विलुप्त गों देखना।
 3. चक्षु इन्द्रिय विषय मिथ्या योग—अतिदूर, उग्र, भयंकर, वीभत्त, दृश्य आदि दृश्यों को पुनः पुनः देखना।
 4. कर्णेन्द्रिय विषयातियोग—अति ढब्ब शब्द, मेघगर्वन, नगादे वा शोरोने की आवाज, सिंह-ज्वाप्रादि की अति गर्जना आदि शब्दों को आदि वय में सुनना।
 5. कर्णेन्द्रिय विषय अयोग—किसी भी प्रकार के शब्द का सर्वथा न मुनना।
 6. कर्णेन्द्रिय विषय मिथ्यायोग—कठोर, प्रिय वस्तु नाश, तिरस्कार, मूच्छ, भयंकर, अश्रिय एवं दुःख सूखक शब्दों को सुनना कर्णेन्द्रिय का विषय थम है।
 7. ग्राणेन्द्रिय विषयातियोग—अतितोक्षण, उग्र, अभिष्वन्दी गंधों का अदिक्षुष्यना।
 8. ग्राणेन्द्रिय विषय अयोग—किसी भी प्रकार की गंध का न सूचना।
 9. ग्राणेन्द्रिय विषय मिथ्या योग—दुर्गम्भ, अप्रिय गंध, सड़ने की गंध, जड़रोती यातु की गंध, शवादि की गंध का सूचना।
 10. रसेन्द्रिय विषयातियोग—मधुर आदि रस गुरु द्रव्यों का अति भक्षण करना।
 11. रसेन्द्रिय विषय अयोग—पड़रसों का सर्वथा सेवन न करना।
 12. रसेन्द्रिय विषय मिथ्या योग^{१०}—अहितकर द्रव्यों का सेवन, अहितप्रिय विसेक्षण के विशद् आहार सेवन।

- 1.3. रसेन्द्रिय विषयातियोग, गर्भोऽप्यात्मयोगः। (च.म् 11/37)
2. गर्भोऽप्यात्मयोगः दृश्यात्मयोगः विषयातियोगः विषयातियोगः। (च.म् 11/37)
3. विषयातियोगः दृश्यात्मयोगः विषयातियोगः विषयातियोगः। (च.म् 11/37)
4. विषयातियोगः दृश्यात्मयोगः विषयातियोगः विषयातियोगः। (च.म् 11/37)
- 5.6.7. विषयातियोगः दृश्यात्मयोगः विषयातियोगः विषयातियोगः, गर्भोऽप्यात्मयोगः, विषयातियोगः। (च.म् 11/37)
- 8.9.10. विषयातियोगः दृश्यात्मयोगः, विषयातियोगः, विषयातियोगः, विषयातियोगः। (च.म् 11/37)

निवान पंचक विवेचन

13. स्पर्शनेन्द्रिय विषयातियोग^{११}—अति गों या ऊप्र जल गे ग्रान, अध्यंग एवं उत्सादनादि का अविशय म्यर्ग करना।
14. स्पर्शनेन्द्रिय विषय अयोग^{१२}—गों-जल जल का विषय अभ्यंग उत्सादनादि का सर्वथा स्पर्शन न करना।
15. स्पर्शनेन्द्रिय विषय मिथ्यायोग^{१३}—गिरप (लंबे-नीचे) स्पन का स्पर्श, आयंत सागरा, जहरीली यातु का स्पर्श एवं गों-जल-उप्र उप्र विशद् सेवन करना आदि।

(ii) प्रज्ञापराध—मन, वचन एवं कर्म के अतिव्याप्ति, हानि योग एवं विषयायोग को “प्रज्ञापराध” कहा जाता है^{१४}।

बुद्धि, धैर्य एवं स्मरणशक्ति के भ्रष्ट हो जाने से भयुप्र व्याप्तिक दृश्य व्याप्तिक दोषों को प्रकृतिपत करने याते जिन अशुभ कर्मों को करता है उन्हें “प्रज्ञापराध” कहते हैं।

मिथ्या आहार-विहार के सेवन से रोगोदर्ती प्रज्ञापराध वन्य होती है। संभवत के हमल संक्रामक (Infectious diseases) एवं योन रोगों (Venereal diseases) का हेतु प्रज्ञापराध ही है।

वेगधारण करना, गतिमान वेगों को बलात् निकालना, अति माहस, अति स्वीकृत विनप्रता एवं सदाचार का परित्याग, पूज्यदणों का उत्सकार, जलमय-जनुवृत्त स्नान गमन, नीच कर्म करने वालों से मैत्री, सद्भूत का फलन न करना, इंद्रो-काम-ब्रोष-लोभ-मद-मोह में लिप्त होना या तम से प्रभावित होकर दुष्कर्म करना “प्रज्ञापराध” है।

1. प्रज्ञापराधजन्य कर्मातियोग—मन, वचन एवं शरीरीक कर्मों में अति प्रवृत्ति होना।
2. प्रज्ञापराधजन्य कर्मायोग—मन, वचन एवं शरीर को स्वकार्यों में सर्वथा अप्रवृत्ति।
3. प्रज्ञापराधजन्य मिथ्यायोग—वेग विधारण, प्रवृत्त वेगों को हतात् निकालना, दृष्टिपदार्थ स्पर्श, अंगों का अलंपिक मदन, क्षमता से अधिक धास रोकना, शरीर को कष्ट देने वाले कार्य चत, उपवास, अति-उप्र धूप-शोत का सेवन आदि शारीरिक मिथ्यायोग है।

- 1.2.3. वर्णतियोगानि स्पृष्टयानि स्तनाभ्युत्स्तेवनादेवं वृक्षजुलेभनात् देवा, सर्वेऽप्युत्स्तेभ्यः ॥
स्तनादेवानि गोत्रेष्वात्मिनां च स्त्र॒यानामनुपूर्वपौष्ट्रेवनि विषयमन्तर्गतपूर्वानुपूर्वानि विषयायोगः ॥
4. अति विषयप्रियकर्त्य विषयप्रिय वर्गे प्रज्ञापराध इति व्यवस्थेः। (च.म् 11/37)
5. वैष्णविषयप्रियप्रियः कर्म यात् तु गुरुषु प्रशुभृः।
प्रज्ञापराध ते विषय तस्मैतीप्रकारेवत्तम् ॥ (च.म् 11/41)
6. गोंवेण गोत्रान्तर्गतान्तर्गतानां च निष्ठः । देवर्व जाहलनां य नदीनां भवित्वेवत् ।
कर्मातियोगात् ॥ प्रज्ञापराधं जातोपाद्यनवे गंयां हि तत् ॥ (च.म् 11/42)
7. ११०३-१०४।

काय-चिकित्सा

कठोर वधन बोलना, सूख बोलना, चुगली करना, अप्राप्तिगति, प्राप्तिगति, बोलना व कलहपूर्ण यातावरण दैदा करना वाजी (वधन) का मिथ्या गोंग है।

पूर्व का निराशर व अपूर्य का सम्मान करना, शोक, क्रोध, भग, गोंग, गांग, आदि मानसिक मिथ्यायोग है।

(iii) परिणाम या काल— काल ही प्रत्येक अच्छे दुर्ग कर्म को पृथ-अपर्याप्त परिणत कर यथा समय फल देने वाला होता है। काल की इकाई वर्ष (संवत्सर) है। 12 माह, 6 ऋतु या तीन ग्रौम में विभाजित है तथा दो-दो ऋतुओं का एक-एक संवत्सर होता है।

1. हेमन्त-शिशिर : सर्दी (जाड़ा)
2. बसन्त-ग्रीष्म : गर्मी
3. वर्षा-शरद : वर्षा

काल के संक्षणों वा अवियोग, अयोग व मिथ्या-योग, सभी प्रकार के शरीरीक व मानसिक रोगों का निर्मित कारण है।

1. कालातियोग— शीत ऋतु में अधिक सर्दी (जाड़ा) पड़ना, ग्रीष्म ऋतु में अधिक गर्मी व वर्षा ऋतु में वर्षा का अधिक होना "काल का अवियोग" है।

2. कालायोग— शीत ऋतु में उण्ड, ग्रीष्म में गर्मी व वर्षा में बारिश का होना।

3. काल मिथ्या योग— शीत ऋतु में भीषण गर्मी होना, ग्रीष्म में वर्षा होना वर्षा ऋतु में उण्ड पड़ना।

III. निदान के त्रिविध भेद— हेतु के दोष-व्याधि भेद से पुनः तीन भेद हैं-

(i) दोष हेतु— दोष प्रकोपक या दोषोत्पादक हेतु "दोष हेतु" कहलाते हैं। दोष का संचय, प्रकोप, प्रसर करनेवाले स्वभावतः उत्पन्न मधुर आदि रस "दोष हेतु" कहलाते हैं।

यथा— हेमन्त, शिशिर ऋतु में रूपभावतः मधुर रस की उत्पत्ति होने से कफ दोष व संचय होता है। यहाँ संचित कफ दोष चसंत ऋतु में सूर्य की गर्मी से पिघलकर रोगोत्पत्ति करता है।

1.2.3 गोंग-प्राप्तिगति-पूर्वीयनार्थीयकर्त्ता: गोंगारा, स वक्तव्यः। उत्तरातिमापस्वलाप्तयः; वक्तव्यः। गोंगारीपूर्वीयकर्त्ता, वक्तव्य, वक्तव्यायाः, वयाकर्त्तव्यप्राप्तिगतिरूपानुवालः। वक्तव्यः। गोंगारीपूर्वीयकर्त्तव्यः।

4. दोषोत्पादकवर्णवृद्धित्वा व विविधः। दोषोत्पादकवर्णवृद्धित्वा वया-व्यापककोरप्रत्यापनिभित्ति पर्याप्तता मधुरादयः। व्याप्तिरूपवर्णवृद्धित्वा वार्षिक्यवर्णवृद्धित्वा। व्याप्तिरूपवर्णवृद्धित्वा वार्षिक्यवर्णवृद्धित्वा। व्याप्तिरूपवर्णवृद्धित्वा वार्षिक्यवर्णवृद्धित्वा।

(प्राप्ति. 114)

(प्राप्ति. 114 वा 115)

निवान पंचक विवेचन

(ii) व्याधि हेतु— किसी दोष की अवैश्या न कर किसी निर्विष व्याधि को उत्पन्न करने वाला हेतु "व्याधि हेतु" कहलाता है। यथा वर्षाकालीन ऋतु में उण्ड रोग, मृतिका भूषण से पाण्डु रोग की उत्पत्ति।

(iii) उभय हेतु— जिसके द्वारा विनियोग का प्रकार होने के माय औ विनियोगोत्पत्ति होती है उसे "उभय हेतु" कहते हैं। यथा-दायी, जैट एवं थोड़े आदि की साथी करने से यात की तथा विटाही अत्र के में इन व एक दो युद्ध होती है तथा लटके हुए अंगों एवं संधियों में इसका प्रभाव होता है। यह उभय हेतु उत्पन्न उत्पन्न रोग की उत्पत्ति करते हैं। यद्यपि इन निदानों के में इन प्रकार उपकार दूषक होने की उपाधि की उत्पत्ति होती है फिर भी ये जिस प्रकार निश्चित दोष के प्रकोपक हैं उन्हीं उत्पन्न निर्विष व्याधि के उत्पादक भी हैं, अतः इन्हें उभय हेतु कहा है।

IV. निदान के द्विविध भेद— पूर्व विनियोग हेतु होने वाले उत्पन्न के द्विविध भेद हैं।

(i) उत्पादक हेतु— हेमन्त ऋतु में उत्पन्न मधुर रस कर दोष का उत्पादक हेतु है।

(ii) व्यंजक हेतु— हेमन्त ऋतु में संचित कफ दोष, वसंत ऋतु में सूर्य के द्वारा से पिघलकर कफन रोगों को उत्पन्न करता है। अतः सूर्य का दोष कर का व्यंजक हेतु है।

V. निदान के द्विविध भेद

आहा एवं आध्यात्म भेद से हेतु पुनः दो प्रकार का होता है—

(i) आहा हेतु— मिथ्या आहार-विहार, भूत (बांबानु), अपिकार, कोट, विश, काल, मुख द्वारा सेवन किया गया विष तथा विशुद आदि बाह्य हेतु है। ये दोष प्रकोपपूर्वक व्याधि उत्पन्न करते हैं।

(ii) आध्यात्म हेतु— शरीरगत दोष व दूष आध्यात्म हेतु कहलाते हैं।

VI. निदान के त्रिविध भेद

दोषों की गति के अनुसार हेतु तीन प्रकार के कहे गये हैं—

(i) i. स्थीण, ii. वृद्ध, iii. सम भेद से दोषों की गति तीन प्रकार की होती है। ये गतियों दोष के बढ़ने, घटने या सम रहने को अवस्थाओं को सूचक हैं।

1. स एवेलेक्टकव्युक्तेदोषाद्युपित्तः। उत्पादकवर्णवृद्धित्वा वया-हेतुपादकवर्णवृद्धित्वा।

2. व्युक्तप्रयत्नाभेदाद्युपित्तः-तत्र यादा आह्याप्राक्तादयः। अप्यन्तर वया दोष दृष्ट्वा।

3. गतितो वया-गतिदोषानां धीन्तुरुद्धलादयः। पृथक् चर्त्तक-क्षयः स्वार्थं च पृथिव्ये दोषविविधा गतिः। उत्पादकवर्णवृद्धित्वा विविधक विषेन्द्रियादयः।

(प्राप्ति. 12 एवं प्राप्ति. 14 पर मधुकोष)

(ii) i. ऊर्ध्व, ii. अपी, iii. विर्यक् भेद से ऊर्ध्व प्रकार के हेतु होते हैं। इनमें^१ की गति की दिशा का ज्ञान होता है।

(iii) आवश्यक भेद से दोषों की गति तीन प्रकार की होती है।

i. कोष ii. शाया iii. मनस्तिसामिता। इससे दोषों के स्थानसंक्षय का ज्ञान होता है।

इनका ज्ञान चिकित्सा के लिये अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि दोषों की गति^२ गतियों के अनुसार उनकी चिकित्सा भी प्रभास-धिक्ष होती है।

VII. निदान के द्विविध भेदः

प्राकृत एवं वैकृत भेद से हेतु के दो प्रकार हैं—

(i) प्राकृत हेतु—जिस श्वतु में जिस दोष का स्वभावतः प्रकोप होता है वह वर्ण में बात, शरद में विष व बसन्त में कफ का प्रकोप 'प्राकृत' कहलाता है।

(ii) वैकृत हेतु—बसन्त में ज्वात का, शरद में कफ का तथा यथां में विष व प्रकोप 'वैकृत' कहलाता है। इसका ज्ञान रोग की साध्यासाध्यता जानने के लिये पर अवश्यक है। यथा प्राकृत ज्वर सुखसाध्य व वैकृतज्वर कृच्छ्रसाध्य होते हैं। पर अपहर स्वरूप वर्षा में उत्पन्न बाह्य ज्वर (प्राकृत) भी कृच्छ्रसाध्य होता है।

VIII. निदान के द्विविध भेदः

पुनः हेतु के दो भेद कहे गये हैं—

(i) अनुवन्ध्य हेतु—स्वतंत्र व स्पष्ट लक्षणों बाला व शास्त्रोक्त चिकित्सा से होने वाला 'अनुवन्ध्य' व 'प्रधान' हेतु होता है।

(ii) अनुवन्ध्य हेतु—स्वतंत्र व अस्पष्ट लक्षणों बाला व शास्त्रोक्त चिकित्सा से होते न होने वाला 'अनुवन्ध्य' या 'अप्रधान' हेतु कहलाता है। प्रधान दोष की चिकित्सा करने पर अप्रधान दोष स्वर्ण हो शांत हो जाता है। यथा कफ प्रधान बाल-कफज ज्वापि व रुक्षोष्ण चिकित्सा से कफ के साथ बाल का भी शामन हो जाता है।

IX. निदान के द्विविध भेदः

प्रकृति, विकृति भेद से पुनः हेतु के दो भेद हैं—

(i) प्रकृति—रोगों की जो दोष प्रकृति हो उसी दोष से होने वाला रोग 'प्रकृति ज्वर' कहलाता है तथा कृच्छ्र साध्य होता है। यथा-कफ प्रकृति के रोगी में कफज रोग कृच्छ्रसाध्य होते हैं।

१. दोषों प्रकृतिः प्राकृतिर्विद्वानेत्पाता।

२. अनुवन्ध्याद्युपेत्वा द्विः अनुवन्ध्यः प्रधानप् अनुवन्ध्याप्रधानम्।

३. प्रकृतिर्विद्वानेत्पाता द्वयः प्रकृतिर्विद्वानेत्पाता विविधाभ्यां प्रकृतिः।

(मा.नि. १/५ पर गम्भीर)

(मा.नि. १/५ पर गम्भीर)

(मा.नि. १/५ पर गम्भीर)

(मा.नि. १/५ पर गम्भीर)

(ii) विकृति—पिण्डा आहार-विहार का व्यापक सेवन करने में व्यक्ति की दोष प्रकृति से भिन्न अन्य दोष के द्वारा होने से 'विकृति' रूप रोग होते हैं। ये मुख्यसामग्री होते हैं। यथा-पिण्डा आहार-विहार में कफ प्रकृति के व्यक्ति में होने वाला ऐसीका ज्वर मुख्यसामग्री होता है।

X. आशयापकर्त्त्व हेतुः

कई वार दोष अपने निति आवश्यक स्थान में अपने प्रकृतिर्विद्वान न होने हुये भी अन्य वारकरते हैं। 'आशयापकर्त्त्व' भी योग्यिका हेतु होता है। इसमें दोष अनु वैकृतिकी द्वारा में अन्य स्थान पर गमन कर रोग उत्पन्न करता है। इस प्रकार के दोष को 'आशयापकर्त्त्व' कहा जाता है।

जब यामु उचिता मान में अन्ये स्थान पर निति विक्षेप द्वारा को होने स्थान में ले जाता है तब उचित प्रमाण में होते हुये भी वह दोष उस स्थान के लिये अनुवैकृत हो जाने से उस आशय स्थान में विकासोत्पत्ति करता है। इसे अन्याने विशेषकरिता ने 'आशयापकर्त्त्व' कहा है तथा इसी की पुष्टि आशय वरकर ने भी दी है। यथा-न्तेष्य के खेत रोग होने पर बड़ा हुआ यामु उचित स्थान में स्थिति निति द्वारा उत्पन्न द्रव्यों में योग्यकर शरीर के विस-जिस भाग में लेन्टर यूट्रोटा है वहां न लेन्टर रूप में भेदनवद् पोष्टा (तोद), दाह, अम व दुर्बलता का अनुभव होता है।

इस प्रकार के रोगी में स्थानान्तरित पित्र को यथा स्थान पर लग्न ही उत्पन्न चिकित्सा होती है।

XI. कार्मुकता की दृष्टि से निदान के भेदः

कार्मुकता की दृष्टि से निदान को पुनः दो भागों में विभक्त करते हैं—

(i) सामान्य निदान—पिण्डा आहार-विहार से दोष वृद्धि कर देन उत्पन्न करने वाले निदानों को सामान्य निदान कहते हैं।

(ii) विशिष्ट निदान—विष, शरद, कृषि अद्वैत ते भी दोष प्रकोप होता है। अतः इन निदानों को विशिष्ट निदान कहते हैं।

जीवाणुओं का निदान में समावेश

(i) आयुर्वेद में जीवाणुओं व कृमियों का दोषोत्पत्ति में स्थृत संकेत निताना है। 'केचित् सूक्ष्म्यात् अदर्शनः' से कुछ सूक्ष्म कृमियों को उत्पन्नति एवं उन्ने होने वाले विकारों की और संकेत किया गया है।

1. कामायापकर्त्त्वे यथा-तदा स्वामर्गिकादेव द्वयं स्वामर्ग्यज्वरः स्वामर्ग्यं गम्भीरं, तदा स्वामस्योऽपि स विकारं व्यपति।

2. प्रकृतिर्विद्वानेत्पाता द्वयः प्रकृतिर्विद्वानेत्पाता विविधाभ्यां प्रकृतिः। तदा भेदनवद् यामु द्वयं विविधाभ्यां। गाहारेतो भवत्याप्य व्रक्षी द्वयन्वयेत् च। (मा.नि. १७/४५-४६)

कृमियों की शरीर में उपस्थिति मात्र ही रोगोत्पादक नहीं होती यरन् यद्य पापं । इत (Immunity) कम हो जाता है तब ये कृमि रोग पैदा करते हैं। प्रसिद्ध वाचाः ॥१॥ "तुर्सपाश्चर" भी कहा है—

"Microbe is nothing, Soil is everything" यहाँ Microbe वाचाः ॥१॥ Soil रोगों के शरीर का द्योतक है।

(ii) कृमियों को निमित्त कारण मान सकते हैं, क्योंकि इनसे प्रथम दोष गम्भीर होता है परहत् रोगोत्पत्ति होती है।

(iii) "संक्रामित नरात्रैम्" कहकर आचार्य सुश्रुत ने ज्वर, प्रतिशयाप, कुरु, यक्षा आदि रोगों का एक रोगी से दूसरे व्यक्ति में संक्रमण होना बताया है। इस ज्वरे इन्होंने भी जीवाणुकृमि की सत्ता स्वीकार की है।

(iv) वायु एवं जल के माध्यम से शरीर में आघात लगने पर विदीर्घ त्वक् छाप। कृमि शरीर में प्रविष्ट होकर रोग उत्पन्न करते हैं, अतः इन्हें 'आगनुज कारण' में समर्पित करते हैं।

जीवाणु विष्या आहार-विहार द्वाया शरीर में प्रविष्ट नहीं होते, अतः इन्हें आगनु कारण मानना ही डिजिट प्रतीत होता है।

निदान के कार्य

"विकृतिप्राप्तास्तु; (दोषाः) खलु नानाविधौ विकृतैः शरीरपुष्पताप्यनितः।" ऐसे ऐतरेत्ति ने दोषों का कर्तृत्व बताया गया है। तथा "स्वधातुवैक्षणिमितजाः;" ये विकृति सभा बहवः शरीरे से दूष की विकृति तथा "तदेतत् सोहस्रां प्रकृतिभूत्वात् विकृतिरूपत्वात्पत्ते रहीरैम्" से खोतों की विकृति भी ज्ञाइ गई है।

इस प्रकार रोगोत्पत्ति में निष्ठ तीन अवस्थाओं की उपस्थिति अद्वयशक्त है—

- दोषों का प्रकोप
- 'ख' वैगुण्य
- दोषों द्वाय दूष को दुषि

इन तीन अवस्थाओं के सम्बन्ध में निष्ठ तीन प्रकृत उत्पन्न होते हैं—

- दोष प्रकोप का ऐतोत्पत्ति के प्रकरण में क्या अर्थ है, यह किससे और ऐसे उत्पन्न होता है?
- 'ख' वैगुण्य कम और कैसे होता है एवं उसे कौन उत्पन्न करता है?
- प्रकृतिरूप दोष किसी विशिष्ट दूष को ही दूषित करते हैं?

इन तीनों प्रकृतों का समापन यह है कि निदान तीन स्तरों पर उत्पन्न कार्यों का समाप्ति करता है एवं रोगोत्पत्ति में कारण बनता है। अर्थात् रोग के वर्णित निदानों में से कुछ—

- निदान दोष प्रकोपक होते हैं।
- कुछ निदान धातु शीघ्रत्वकर होते हैं।
- कुछ निदान 'य' वैगुण्योत्पादक होते हैं।

निदान से दोष प्रकोप

1. दोष प्रकोपक होते हैं। निदान में दोषों को वृद्धि होती है। धातु नहीं। दोष वृद्धि अधिक (चय प्रकोप) या कम (अचय प्रकोप) द्वाय हो सकती है। तथा निदानों से दोषों की वृद्धि रोग होती है। यात-निन-कर के प्रकोपक हेतुओं का वर्णन आगे किया जा रहा है।

दोष प्रकोपक हेतु

वे निदान जो निष्ठित रूप से किसी एक दोष को प्रकृतिरूपक हेतु कहलाते हैं। आचार्य तीसठावार्य ने "विकिता कलिका" में यत्त-निन व कर दोष के प्रकोपक हेतुओं का वर्णन किया है। आचार्य चाक, सुश्रुत द्वाय वाम्पटू ने भी विषित दोष प्रकोपक हेतुओं का वर्णन किया है जो निज उकार है—

वात प्रकोपक हेतु

- | | |
|--|---------------------------|
| I. आचार्य चाक भत्तानुसार ^१ | II. दोष मा मत का अतिस्तान |
| 1. विषय उपचार | 2. दोष मा मत का अतिस्तान |
| 3. रक्त विश्लाषण | 4. दिना |
| 5. शोक | 6. दोष चन्द्र कृत्ता |
| 7. दुःखद शैव्या | 8. दुःखद आतन |
| 9. ऊष | 10. पय |
| 11. आम दोष | 12. मर्माभियात |
| 13. शोष गति करने वाले यान से गिरा | |
| 14. धातु कर्मण | |
| II. आचार्य सुश्रुत भत्तानुसार ^२ | |
| 1. बलवानों से मालमुद्ध करना | 2. ऊर्ति व्यायम |

^१ स्वतोत्पत्तमन्वयायतिकरणः।

विषयमुपाप्ता दोषाद्युक्तस्त्वयनादतः।

संवर्तनस्वयमाद्यायपद्धतिरूपेऽहेतुः।

प्रत्युत्तं संहवायनः रोकेष्वातिकर्त्तव्यम्।

दुःखाद्यायनाद् शोषाद्यिवस्याद्युक्तवारी।

वाताद्यायनाद् शोषाद्यिवस्याद्युक्तवारी।

वर्माद्यायनाद् शोषाद्यिवस्याद्युक्तवारी।

वर्माद्यायनाद् शोषाद्यिवस्याद्युक्तवारी।

(चतु ३८/१५-१६)

२ तेज वस्त्राद्युक्तिरूपत्वयायप्रवाप्तमन्वयाद्युक्तवारी।

(मुग २१७९)

..... वैगुण्यप्रवाप्तमन्वयित्वैवार्तुः प्रकृतेवादतः।

- | | | | |
|--|---|-----|---------------------------------------|
| 3. | अति व्यायाम | 4. | अति अव्ययन |
| 5. | प्रपत्तन (कंचाई से गिरना) | 6. | प्रधायन (अधिक रौप्य) |
| 7. | प्रपोड़न (दबना या दबाना) | 8. | अभिपात |
| 9. | लंघन (उपवास) | 10. | प्लायन (कूदना) |
| 11. | प्रवरण (तैरना) | 12. | रात्रि जागरण |
| 13. | भार हारन (भार उठाना) | 14. | गज अतिचर्चा (हाथी की गड़बड़ी बढ़ाना) |
| 15. | रथ अतिचर्चा | 16. | तुरण अतिचर्चा (धोड़े को मलाना बढ़ाना) |
| 17. | पदातिचर्चा | | |
| 18. | कटु तिळ, कपाय, रुक्ष, लघु, शीत पदार्थों का सेवन, शुष्कताक, वस्तु कुपाय, उद्दालक, बौदों, सावो, मूंग, मसूर, अरहर, चना का सेवन | 20. | विषमाशन |
| 19. | अवश्यन | 22. | घेगावरोध |
| 21. | आप्यशन | | |
| III. आचार्य वार्षभट्ट मतानुसार¹ | | | |
| 1. | विषम्भी पदार्थ सेवन | 2. | अंकुरित अन्न सेवन |
| 3. | करीर, खारबूज, कमलदण्ड, कमलमूल, तिन्दुक का सेवन। | | |
| 4. | हीन भोजन | 5. | शुष्क भोजन |
| 6. | तृष्णित होने पर भोजन | 7. | हुधित होने पर जलापान |
| 8. | विरेचन का अतिपोग | 9. | घेग उदीरण |
| 10. | विक्षेपण | 11. | भ्रमण |
| 12. | चालन (अधिक चलना) | | |
| 13. | क्रियातिपोग (किसी भी कार्य का अति में करना) | | |
| 14. | परापात्रन | 15. | साहस |
| 16. | अन्तुच्छ भाषण | | |
| IV. आचार्य तीसदाचार्य मतानुसार (चिकित्साकलिका 29) | | | |
| 1. | अति व्यायाम | 2. | अपतर्पण |
| 3. | लंघन | 4. | प्रपत्तन (कंचाई से गिरना) |
| 5. | भास | 6. | धातुश्याय |
| 7. | रात्रिजागरण | 8. | घेगधारण |
| 9. | अतिरोक | 10. | अतिशीत सेवन |
| 11. | अतिधृष्ट | 12. | रुक्षात्र सेवन |

1. विद्येशवकासन्तरालसंबोधने ।
पारंपरार्थनिवारणमुख्यप्रयत्ने ॥
विकल्पयोगप्रयोगसंबन्धावयप्रयुक्ते ।
दीप्यादीप्यप्रयुक्ताने द्रुत्याप्ति गमनेण ॥

(अ.ए.वि. १/१४-१५)

13. फलाय, फटु, तिक पदार्थ सेण
14. गर्भी झूल
15. भोजन के पचने पर
16. गंडकाल
17. हीम

पितृ प्रकाशक हैन्

- | | |
|-----|--------------------------|
| १. | आचार्य सुश्रुत मतानुसार! |
| २. | भग् |
| ३. | तैल, ग्रिस्पक सेवन |
| ४. | हरित शाखा सेवन |
| ५. | मस्तू, अजा घास सेवन |
| ६. | घोड़ामांस सेवन |
| ७. | घोड़ामांस का सेवन |
| ८. | दक्क, कृत्यंका सेवन |
| ९. | धेहु के मांस का सेवन |
| १०. | दक्क, कृत्यंका सेवन |
| ११. | मस्तु सेवन |
| १२. | सौख्यंक सेवन |
| १३. | सुरा विकार सेवन |
| १४. | अन्त कृत सेवन |
| १५. | कट्टवर सेवन |
| १६. | ऊष्ण काष्ठ |
| १७. | उपवास |

ii. आचार्य वामभद्र मतानुसार¹

- | | | | |
|-----|------------------------|-----|-----------------------|
| 1. | क्षार सेवन | 2. | शुक्र सेवन |
| 3. | शाण्डिकी सेवन | 4. | मूत्र सेवन |
| 5. | धान्याम्ल सेवन | 6. | निष्पाव, गिरन्तर सेवन |
| 7. | आप्राताक, अग्निका रोवन | 8. | पीतु सेवन |
| 9. | भल्लातकास्थि सेवन | 10. | लाद्वितिका सेवन |
| 11. | अर्णि सेवन | 12. | मरिच सेवन |
| 13. | रज, धूम सेवन | 14. | ईर्षा |
| 15. | अजीर्ण में मैथुन | 16. | वर्षा ज्वर |
| 17. | क्षधा व तुपावरोध | | |

iii. आचार्य तीसठाचार्य मतानुसार (यिकित्सा कलिका 30)

- कटु, अम्ल, लवण, उष्ण, तीक्ष्ण, विदाही इत्येकों का सेवन
 - क्रोध
 - आतप
 - तिल सेवन
 - उपवास
 - स्त्री सेवन
 - तीसी सेवन

१. शोधरात्रकं भयायात्केवलासाधिदप्तैरुपोगादन कर्तव्यत तात्पर्यं
फसकं वर्षाप्रतिपि: विष्णु प्रकृष्टोपालाम् ॥

२ पिं चन्द्रमस्तोषोषापटुजोपविद्युहिभिः ।
गायत्र्याहुराश्रपविद्युहासप्तेष च ॥

(卷三, 217)

(अ.इ.नि. १/१)

काय-चिकित्सा

214

- | | |
|----------------|-------------------|
| 3. दृष्टि सेवन | 9. तुरा सेवन |
| 10. मिरका सेवन | 11. कांजी सेवन |
| 12. पश्चात् | 13. अर्धरात्रि |
| 14. शोजनोत्तर | 15. थोड़न पचन काल |
| 16. शरद ऋतु | 17. ग्रीष्म ऋतु |

कफ प्रकारोपक हेतु

- | | | | |
|-----|---|-----|---|
| I. | आचार्य सुभूत मतानुसार ¹ | 2. | उम्ब्रायामं-आलस्य |
| 1. | दिवारावन | 3. | मधु, अन्त, हवण, शीत पदार्थों का अति सेवन |
| 2. | मधु, अन्त, हवण, शीत पदार्थों का अति सेवन | 4. | पिच्छाल, अपिष्ठानी द्रव्यों का सेवन |
| 5. | यवक सेवन | 6. | हृष्टक सेवन (धान्य विहोर) |
| 7. | वैष्णव सेवन (धान्य विशेष) | 8. | माप, महामाप, गोधूम अति सेवन (ड़ड्ड, राजमा, गोहू अति सेवन) |
| 9. | हिलबुट सेवन (गवक) | 10. | पिट विकृति सेवन |
| 11. | कुरुता सेवन | 12. | पायस सेवन |
| 13. | आमूर, औदकनांस सेवन | 14. | बिस, मूगाल, करोरु सेवन |
| 15. | जला सेवन | 16. | श्रुत्ताटक (सिंगाड़ा) |
| 17. | मधुर फल | 18. | खस्ती फल |
| 19. | सम्भान (हित-अहित पदार्थ एक साथ सेवन करना) | 20. | आम्रसन (अजीर्ण में खोजन करना) |
| II. | आचार्य बाग्भृ भगवानुसार ² | | |
| 1. | नवाज सेवन | 2. | स्थूल भक्ष्य सेवन |
| 3. | शफुली सेवन | 4. | आमदुध सेवन |
| 5. | किलाट सेवन (भक्ष्य पदार्थ) | 6. | गोरट सेवन (भक्ष्य पदार्थ) |
| 7. | कृत्तिका सेवन | 8. | तत्रापिण्ड सेवन |
| 9. | पायूप सेवन | 10. | वदलोफली सेवन |
| 11. | खज्जं, कमलख सेवन | 12. | नारियल सेवन |

1. नियमनकार्यक्रमसंकलनपूर्णताकार्यक्रियाग्रह

— सातत्यकार प्रभिः लोक प्रकौपयनाद्वै ॥

१. सद्गुरुनानदर्शियापात्रोभवीत्वात्:

तात्पुरां द्वावर्त्तिः ॥

દોર્ધાંતોનું માણસનાં ।

2023

1/13/2011

विद्यान यंचक विवेचन

215

- | | | | |
|------|--|-----|-----------------------------|
| 13. | रात्रि जल सेवन | 14. | अनि जल सेवन |
| 15. | अति संतर्पण | 16. | आग्निशमन |
| 17. | हर्ष | 18. | दृष्टि गोङ्का |
| 19. | विरेचन अयोग | 20. | आग्नेयसुख |
| 21. | अमीर्ण | 22. | मंदासन |
| 23. | अवश्याय (ओस लगना) | | |
| III. | आचार्य त्रीसटाचार्य महानुसार (चिकित्सा क्रित्तिा 31) | | |
| 1. | गुरु द्रव्य सेवन | 2. | मधुर लिंगध, इव द्रव्य सेवन |
| 3. | दुध, इशु रस सेवन | 4. | दहो सेवन |
| 5. | दिवाशयन | 6. | ज्वेष पद्मन (पूजा का पक्षन) |
| 7. | घृत निर्मित द्रव्य भक्षण | 8. | हेमत इशु |
| 9. | शिशिर इशु | 10. | प्रातः काल |
| 11. | भोजन के पक्षात् | 12. | वातन इशु |

II. निदान से दोष वृद्धि—विभिन्न रैगों की सम्बन्धियों में निदान सेवन से दोष वृद्धि को विभिन्न शब्दों द्वारा वर्णित किया गया है। जिन में से कुछ शब्दों का वर्णन निम्न प्रतिलिपि में किया जा रहा है—

क्रम.	शास्त्र वाक्य	रोगनाम	प्रधानदोष सन्दर्भ ग्रंथ
1.	"तर्हेतुर्मिः समुक्तिलाटं पितं....।"	रक्षित	पित च.चि.4/7
2.	"बहूद्धवः सलेप्पादोपायेषोप....।"	प्रमेह	कफ च.नि.4/6
3.	"नातादयात्त्रयो दुष्टाः....।"	कुष्ठ	त्रिदोष च.चि.7/9
4.	"वैरल्पसत्त्वस्य मलाः प्रदुष्याः....।"	ठन्याद	विदोष च.चि.9/5
5.	"दुष्ट्यत्वाणिः....।"	ग्रहणी	पित च.चि.15/44
6.	"दोषः पित्रप्रधानास्तु यस्य	शाण्डु	पित च.चि.16/4
	कुप्यन्ति थातुपु....।"		(त्रिदोष)
7.	"स वायुः प्रकुपितः....।"	अतिसार	थाल च.चि.19/5
8.	"कामुविर्गुदोः युद्धेन....।"	वातरक्त	वात च.चि.29/10
9.	"दोषाः विगुणा....।"	हृदोग	त्रिदोष सु.43/4
10.	"विदर्थं पित्रपु....।"	अम्लपित्त	पित शा.नि. 51/1
11.	"दोषः सम्पूर्णिताः....।"	अबुद	त्रिदोष सु.नि. 11/13

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि दोष वैष्णव ज्ञानक विषय शब्दों का प्रयोग संहिताओं में प्रियता है—दोष प्रकोप, दोष वृद्धि, दोष दुष्टि, दोष वैष्णव, सम्मूर्च्छित दोष, अचक्षुत दोष, समुचित दोष, संचित दोष, बलवान् दोष, एवं विदाप दोष इत्यादि इन सभी शब्दों से पैदा प्रकोप (वृद्धि) ही समझना भावित्वे।

III. निदान में दोष के जिस अंश को यदाने वाले भाष्य होंगे, विशिष्ट अंश की वृद्धि होगी। इस प्रकार दोष की सवागीण या आवश्यक है।

IV. निदान से अनिमाण्य भी होता है जो सीधे ही निदान के प्रभाव सकता है या किसी दोष विशेष की वृद्धि से अग्नि पर क्षयात्मक प्रभाव भी होता है।

2. निदान से खबैगुण्य उत्पत्ति

निदान के एक अंश से "खबैगुण्य" उत्पत्ति होता है। सव्याधि को अनुभाव सह है कि दोषों का संग या स्थानसंश्रय उसी स्थान में होता है जहाँ "खबैगुण्य" उत्पत्ति होती है। इसका एक अर्थ यह भी है कि प्रसरणशील दोषों को पूर्व से ही "खबैगुण्य" उत्पत्ति होता है जहाँ ये स्थानसंश्रय करते हैं। यह "खबैगुण्य" वहाँ से पूर्व किसने उत्पत्ति किया? सम्भवतः इसका एकमात्र उत्तर यह है "खबैगुण्य" निदान के विशिष्ट अंश से ही उत्पत्ति होता है। इसी तथ्य को यहाँ उदाहरण से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है जो निम्नानुसार है—

क्रमसं.	रोग नाम	खबैगुण्योत्पादक निदान (अंश)
1.	श्वास	रज, धूप सेवन
2.	ठ. फैला	स्लाबन, धावन, आधात
3.	बलोदर	स्नेहन, अनुवासन चर्सित बाद सहसा शीतल कलह
4.	स्वरभेद	उच्चभाषण, विष सेवन
5.	अर्श	करोर आसन पर बैठना, अति कुन्धन
6.	बावरक	ठट्टयान, प्लावन, अभिघात
7.	व्यविसार	वेगधारण, प्रदुष जलापान
8.	ठह स्थम्प	अत्यायास, उरुक्षोभ

अतः यह स्पष्ट है कि किसी विशिष्ट निदान के सेवन से विशिष्ट व्याधि ही उत्पन्न होती है, अन्य नहीं।

3. निदान से धातुशैथिल्य (दूष्य वैषम्य) प्रक्रिया

I. निदान के एक अंश से किसी विशिष्ट दूष्य में शैथिल्य या विपनत उत्पन्न होता है। अतः शोषण में अन्य दूषों को उपस्थिति होने पर भी उस विशिष्ट दूष्य में ही विकृत उत्पन्न होकर विशिष्ट रोग की उत्पत्ति होती है।

II. शास्त्रों में धातु प्रदूषक वारण वताये गये हैं उन्हें निदान का धातु शैथिल्य अंग ही गणना चाहिये।

III. किसी रोग की उत्पत्ति में गार्भात्मक या (व्याप्तिशमन) अग्नेप ऐद करता है या या गार्भात्मक धातुओं के पुष्ट रहने पर गार्भात्मक या गर्भक बन जाता है। ऐद गार्भात्मक धातुओं पुष्ट नहीं होनी तो गार्भात्मक या गर्भक या गर्भ रोग जाना है जो यहाँ में गर्भ उत्पन्न होने की संभावना वयु जाती है। अतः गंगार्भन के लिए धातु दोषक, गंगित्य या यह आवश्यक है जो कि निदान के विशिष्ट रोग में होता है।

इस प्रकार किसी भी रोग की उत्पत्ति में निदान की गति रोग होता है, (i) दोष वृद्धि, (ii) खबैगुण्य एवं (iii) दूष्य शैथिल्य या दोषक उत्पन्न रोग। यह दो निदानों के सेवन से पित वृद्धि, रसवद्यसेवन में खबैगुण्य या यह एवं दोषक उत्पन्न रोग होता है। इसी प्रकार रक्तपित के निदानों के सेवन से इन दोषक रसवद्यसेवन में खबैगुण्य एवं रक्तदीर्घत्व उत्पन्न होता है एवं रक्तपित योग व्योंग उत्पन्न होते हैं।

II. पूर्वरूप

i. दोष विशेष के ज्ञान के विना कुछ काल बढ़ उत्पन्न होने वाला योग विन स्थानों से जाना जाता है उस लक्षण समूह को पूर्वरूप कहते हैं।

ii. प्रसरावस्था को प्राप्त हुये प्रकृष्टित दोष जव विनोद स्थान विन त्र एक रूप है तब इस अवस्था में भविष्य में होने वाली व्याधि के विन लक्षणों को उत्पन्न करते हैं उन्हें पूर्वरूप कहते हैं।

iii. व्याधि उत्पन्न होने से पहले प्रकृष्टि होने वाले लक्षणों को पूर्वरूप कहते हैं।

पूर्वरूप के भेद—पूर्वरूप के निम्न दो भेद हैं—

1. सामान्य पूर्वरूप

2. विसिट पूर्वरूप

1. सामान्य पूर्वरूप—सामान्य पूर्वरूप दोष-दूष्य सम्बूद्धना को प्रतिपिक स्थिति में उत्पन्न होते हैं। इनसे भावी व्याधि का संकेत मात्र मिलता है कि विनोद विशेष का ज्ञान नहीं होता। यथा—ज्वर के पूर्वरूप श्रम, अस्तीति आदि से सिर्फ ज्वर का संकेत मिलता है उसके दोषिक (वातिक, पौरिक आदि) स्वरूप का नहीं।

2. विशिष्ट पूर्वरूप—भावी व्याधि के विशिष्ट भेदों द्वारा यथा—वातिक, पौरिक, कफज, का अनुपान विशिष्ट पूर्वरूप होता होता है। यथा—यातिक ज्वर में जूमा अधिक

1. ग्राह्य पेन लक्षणे। उत्पन्नप्राप्ते दोषविनोदस्थितिः। उत्पन्नवद्यसेवनाद्योग्यं द्यायामन्। (प्राप्ति 13-4)

2. स्वनलेश्विषयः पुष्टा पाविष्ट्यप्रिप्रोपेष्वन्। दोषविनोदस्थितिः। (प्राप्ति 15-6)

3. पूर्वरूपं प्राप्तुष्टिं साधार्यं व्याधेः। (प्राप्ति 17-8)

4. प्रयोगार्थिविवरणं वैराग्यं वदनस्त्रः। इष्टेषो मुख्यार्थं दोषविनोदस्थितिः। (प्राप्ति 25-26)

होना, भौतिक ज्ञान में आद्यों में जलन, वैज्ञानिक ज्ञान में अन्त से अन्तीम तक विचार पूर्णस्पृष्ट है।

व्याधि के लक्षण जो अल्प व्यक्त हो उन्हें विशिष्ट पूर्वस्पृष्ट गोले हैं।

आचार्य चक्रपाणि ने एक शंका पूर्वस्पृष्ट विषयक घोटी है कि जो सोंग द्वारा दुआ उत्तरका पूर्वस्पृष्ट किसे हो सकता है? इसका सामाधान भी उन्होंने सोंग द्वारा दुआ प्रकार वर्षा अभी नहीं हो रही है परन्तु मेदोदय को देखकर भविष्य में वर्षा होने वाला है। तब सकते हैं उसे प्रकार पूर्वस्पृष्ट देखकर भावी व्याधि का अनुपात लक्षण देखा।

पूर्वस्पृष्ट का वर्णन कुछ ही व्याधियों में गिरता है जिनमें नहीं लिखा है जानुपात्री व्याधियाँ (Acute diseases), जिनमें दोष-दूष्य सम्बूद्धन आदि हैं हो जाती हैं—अत्यस्तक, विसूचिका आदि में तथा सामान्य लक्षणों वाली व्याधियाँ हैं इनका वर्णन संबूद्धन होती है उनमें पूर्वस्पृष्ट व. रूप प्रायः समान हो जाते हैं। अस्तपृष्ट, डर-हत आदि।

III. रूप

पूर्वस्पृष्ट जब व्यक्त हो जाते हैं तब उन्हें रूप या लक्षण कहा जाता है। व्याधि हमला व्यक्त रूप ही "रूप" कहलाता है। सोती दुष्ट होने के पश्चात् दोष-संबूद्धन पूर्ण होने पर जो लक्षण उत्पन्न हुई व्याधि का बोध करते हैं उन्हें "रूप" कहते हैं।

रूप के पर्याय—संस्थान, अव्यञ्जन, लिङ्ग, लक्षण, चिह्न, आकृति तथा रूप। रूप के भेद—रूप के निप्र दो भेद शास्त्रों में वर्णित हैं—

1. प्रकृति समसमयेत रूप
2. विकृति विषमसमयेत रूप

1. प्रकृति समसमयेत रूप—व्याधि के जो लक्षण दोष-दूष्य सम्बूद्धन के अनुपात होते हैं उन्हें प्रकृति समसमयेत रूप कहते हैं। यथा—हृदय या सरिपद्म आदि।

2. विकृति विषय समयेत रूप—जब व्याधि के लक्षण दोष-दूष्य को सामन सम्बूद्धन से भिन्न होते हैं उन्हें विकृति विषय समयेत रूप कहते हैं। यथा—वातिक प्रभेत लक्षण कफ दोष, नेद दूष थ आमाशय दुष्ट के लक्षणों से भिन्न होते हैं।

लक्षण या रूप के पुनः निम्न तीन भेद होते हैं—

1. यामान्य लक्षण
2. विशिष्ट लक्षण
3. प्रत्यात्म लक्षण

1. विशिष्ट लक्षण: यामान्य समानान्तर। विशिष्ट लक्षण: कफानान्यान्यकरण्॥ (ग्र. 33.2)
2. विशिष्ट लक्षण विशिष्ट लक्षण गम्भीर लक्षण या— (ग्र. 34.1-3)
3. दोष लक्षण दोष विशिष्ट लक्षण। (ग्र. 34.2-3)
4. दोष, व्याधि विशिष्ट। (ग्र. 34.3)
5. विशिष्ट लक्षण विशिष्ट लक्षण वाली व्याधि, वातावर्यवायाधि॥ (ग्र. 34.4 वा 35.1)
6. वा विशिष्ट लक्षण विशिष्ट लक्षण विशिष्ट लक्षण विशिष्ट लक्षण। (ग्र. 34.5)

इनका समिलतार वर्णन पूर्व में व्याधि हेतु रे अवश्यक अध्ययन वा ये: "व्याधि विवेचन" में लिखा जा सकता है।

IV. उपशय

चिकित्सा तक सुख देने वाले और यह अन्य विद्याके द्रव्यों को व्याधि का "उपशय" कहते हैं।

1. सात्या को उपशय कहते हैं।
2. गृह लिङ्ग वाली व्याधि में सोंग विनियोग जग्ने के लिये विनाश द्वयों होता है उसे उपशय या अनुपशय कहते हैं।
3. व्याधि का सायेक्ष निदान (Differential diagnosis) करने के लिये उपशय का उपयोग किया जाता है। यद्य-संप्रियत व अन्यत या वासेक निदान स्वेहन कर्म से किया जाता है। स्वेहन से लाभ होने पर संप्रियत उपशय लगाय जाता है पर आमतात या विनियोग किया जाता है। उपशय विनियोग कर्वे प्रारंभ किया जाता है।

5. उपशय विकित्सा से भिन्न है। उपशय सोंग जल क्य रक्त नम्र है किन्तु विकित्सा का क्षेत्र विस्तृत है। विकित्सा के द्वारा व्याधि का जल नदों होता किन्तु गृह लिङ्ग वाली व्याधियों का जल उपशय द्वय होता है।

6. अनुपशय—उपशय के विपरीत लक्षणों को अनुपशय कहते हैं। इन अनुपशय भी कहा जाता है। निदान (आहार, विहार, व्याधि) द्वारा हो अनुपशय या दुःख होता है अतः अनुपशय का नक्काश निदान में कर लिया जाये है।

उपशय के भेद—उपशय के निन अठारह भेद होते हैं—

- | | |
|-------------------------------|--------------------------------|
| 1. हेतु विपरीत औपथ | 2. हेतु विनयेत जल |
| 3. हेतु विपरीत विहार | 4. व्याधि विपरीत औपथ |
| 5. व्याधि विपरीत अन्त | 6. उपशय विपरीत विहार |
| 7. उपशय विपरीत औपथ | 8. उपशय विपरीत अन्त |
| 9. उपशय विपरीत विहार | 10. हेतु विपरीत विहार औपथ |
| 11. हेतु विपरीतार्थकारी अन्त | 12. हेतु विपरीतार्थकारी विहार |
| 13. व्याधि विपरीतार्थकारी औपथ | 14. व्याधि विपरीतार्थकारी अन्त |

1. हेतुव्याधि विपरीत विपरीतार्थकारी अन्तार्थकारी अन्तार्थकारी विहार विवारण व्याधि: ग वि ॥ १
2. विवारण व्याधि: ॥ २
3. विवारण व्याधि: ग वि ॥ ३
4. विवारण व्याधि: ग वि ॥ ४

(अ. १.६-७)

(अ. १.८)

(अ. १.९)

(अ. १.१०)

(अ. १.११)

15. व्यापि विषयीतार्थकारी विहार
16. उभय विषयीतार्थकारी विहार
17. उभय विषयीतार्थकारी अन्
18. उभय विषयीतार्थकारी अन्

इनका सविस्तार वर्णन चिकित्सा के भेद के जन्मानुष वर्णन अध्याय-३। ११५
चिकित्सन" में किया जा चुका है।

४ समाजी

निदान पंचक का अंतिम घटक सम्भालि है इसका विस्तृत वर्णन अगते "आगे आर-सम्भालि विवेचन" में किया गया है।

... పుట్టి వెళ్లి ...

अष्टम अन्तर्राय

सुप्राप्ति विवेचन (Pathogenesis)

८८ श्यादुष्टे दोषेण यदा चानुविषयता ।
निर्वित्तिप्रस्थासी सम्प्राप्ति वित्तिप्रस्थिः ॥

(अ.स.नि.173)

आर्थर निदान सेवन के पश्चात् रोगोत्पत्ति होने तक समर्टल्यूर्ज ड्रिलने परिवर्तित होते हैं वे सम्भावि कहलाते हैं। रोग की सम्भव प्राप्ति हो सम्भाल है। आर्थर जाम्पटू के अनुसार दोष ड्रिल प्रभार से निदानों से दूषित होकर विसर्जन करता हुआ शरीर का पाण्डुलोको दूषित करता है तथा रोग ठरपत्र करता है उसे सम्भाल कहते हैं। 'जड़त' इया 'आगलि' इसके पर्याय कहे गये हैं।

- (i) 'ज्ञाति' अर्थात् जन्म या व्याधि जन्म।
(ii) 'आपत्ति' अर्थात् व्याधि जनक कारण का व्याप्तिजनन पर्यंत जन्म।

आचार्य सुश्रुतोक्त 'षट्किया काल' "संचयं च द्रुकोर्च च" में सम्पूर्ण विकल्प परम्परा का समावेश सम्पादित में हो जाता है। निदन संवेत के पास दोष दुष्ट होकर लक्षणोत्पत्ति पर्यंत सम्पूर्ण व्याधि जनक व्याचार परम्परा को "जन्मगते" कहते हैं। अर्थात् व्याधि जन्म आम्यनर दोष-दूष्ट विकृति क्रम को सम्पादि कहते हैं। इतका जन्म ऐसा विविधत तथा विवित्सा में रहायक होता है।

आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में शरीरानंगत वैकारिक परिवर्तन को सम्पूर्णतः Pathogenesis कहते हैं। इसका अध्ययन "विकृति विज्ञान" या Pathology के अंतर्गत विस्तारपूर्वक किया जाता है। रोग के प्रधान या रक्ताद्यक भूलंग लिंग (Sex), आयु (Age), काल, रोगाण (Bacteria / Virus) या आइर-विहार एवं तदन्त्य शरीरानंगत परिवर्तनों को सम्पूर्ण परम्परा Pathogenesis के अंतर्गत जाती है।

आचार्य विजय रहिंत जी ने "मधुकोप टीका" में लिखा है कि दोषों की दुष्टि प्रकृति, वैकृत, अनुबन्ध, या अनुबन्ध, एकदोषव, द्विदोषव या त्रिदोषव ऐद से नाना प्रकार की होती है। यह दोष दुष्टि दोष प्रबोधक समस्त या उत्तम कारणों से हो सकती है। इस प्रकार प्रब्रह्म या स्वाल्प दूषित दोष के द्वारा गंगा की उत्पत्ति होने को संग्राह कहते हैं।

1. संस्कृतानुवादीलिखितवर्णनका लाभः। (प.वि. १/१) ।

2. संस्कृतानुवादीलिखितवर्णनका लाभः। (प.वि. १/१ पर चलायग) ।

3. संस्कृतानुवादीलिखितवर्णनका लाभः। (प.वि. १/० पर मध्यो) ।

222

इस प्रकार वी सम्प्राणी व्याधि वी यथावत् आपका होता है। अतः सम्प्राणी का विकितसा में भी उल्लंघन ही वैशिष्ट्य होता है। जैसा कि जब नींदा गयी आपावृत्त्य उठिए एवं अविनग्नत्य वा ज्ञान होने पर लंभन, चापन, स्मृतिसंहीन आवृत्ति दर्शायेगी साथ ही तिस ही जड़ती है। साथ ही विकितसा विशेष के लिए, इसके उपर्योगिता साथ ही दिखती है। अप्यन्त अपेक्षित है। जिस प्रकार पूर्वल्प एवं रूप दोनों में व्याधि झापन में गमन हुए भी विकितसा विशेष के लिए पृथक्-पृथक् निर्देश है, पूर्वस्थायस्था तथा अप्यन्त विकितसा में चर्चापर घेद है, अर्थात् विस्तीर्ण रोग को पूर्वस्थायस्था में दो गुण विभक्त होनावस्था में अनुपान हो सकती है। अतः सम्प्राणी का विकितसा में अपना दैवतीकृत रूप-प्रतिशयाय की पूर्वस्थायस्था में अर्द्धजल्ला हर औषधियाँ (Antihistaminic drugs) उत्तम कार्य करती हैं (यथा हार्ट्रिड, युड आर्डि) परन्तु प्रतिशयाय हो जाने पर इनके लिए स्थान नहीं रहता।

उत्तिग्राम गणराज्य सेन ने सम्प्रैक्षि का लक्षण निव्र प्रकार से कहा है-

ज्ञानित चतुरादि दोष प्रबुद्धित होकर एक-एक, दो-दों या सभी विलक्षण होने पर अस्थूलन करते हुए सम्भूल रहते हैं या शरीर के किसी आसाध विरोध में आकृति होकर अपने रक्तादि धातुओं, सत्त्व-आत्मव आदि उपधातु एवं बूत्र-पुरीष-स्ट्रेड आदि मरणे, इनमें एक, दो या अनेकों को दृष्टि कर अमुक लक्षणों वाला, अनुक जानवाला तथा अनुक उत्तरार्थ के रोग को उपचय करते हैं तरस सम्पादि कहते हैं।

सम्पादित भेद

प्राचीन रसायनि के द्वे भेद होते हैं-

- I** सम्बन्ध सम्प्राप्ति ॥ विशिष्ट सम्प्राप्ति
 I साधारण सम्प्राप्ति—इसके छः भेद बताये गए हैं जिनमें “क्रियाकल” पर कहते हैं जो निम्न हैं—
 (i) संचय (ii) प्रकल्प (iii) प्रसर
 (iv) स्थानसंकल्प (v) अव्यक्तावस्था (vi) भेदावस्था^३
 इनका विलास से वर्णन उपरोक्त किया जाएगा।
II विशिष्ट सम्प्राप्ति—आधार्य चरक ने विशिष्ट सम्प्राप्ति के छः^२ भेद वर्णित किये हैं। अन्य आधार्यों ने इसके पौर्ण भेद माने हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

१. अमृतानन्दिनी दंसा द्वारा प्राप्त: स्मरण।
 दूषप्रद विषयको निरुद्योगिता वै दृढ़ा इ
 वरापान गते तज्ज्ञ मोहितवाल उत्तमः।
 वै योगिनी दृढ़ा: समर्पित हरिवालः; ए
 मंदेष च दृढ़ो च त्रिता शमनान्तराय।
 अर्द्धं पूर्ण च एकं दंसा तो च भवेत्तु अभ्यु।
 च संमर्पयन्त निरुद्योगितावलोकनात्तिरिक्त

८३४ विद्या एवं विज्ञान

卷之三

- (i) संख्या सम्प्राप्ति
 (ii) विकल्प सम्प्राप्ति
 (iii) प्राप्तान्य सम्प्राप्ति
 (iv) यन्त्र सम्प्राप्ति
 (v) काल सम्प्राप्ति
 (vi) विधि सम्प्राप्ति

आचार्य आगामी य विवरण गणनाय में विधि सम्प्राप्ति का संख्या संग्रहि के अंतर्गत अन्तर्भूत याकृति पृष्ठक गणना बही जाती है।

(i) संख्या सम्प्राप्ति—दोष-दुष्ट के संख्या को विशेषज्ञा में देख कर उक्त का होता है इसकी गणना को संख्या सम्प्राप्ति कहते हैं। यथा—जग के ५ उक्त, गुण के ५ अवकाश (वाताज, वित्तज, कफज, सतितजन दोष इत्यन्त चेत)। याकृति विवरण में वर्णित ४८ सामान्यज रोग “संख्या सम्प्राप्ति” के उल्लेख है। —१३।

(ii) विकल्प सम्प्राप्ति—किसी रोग में गमन सम्बद्ध दोषों के दूषण के विवरणों का सूचय विचार हो “विकल्प सम्प्राप्ति” है। यथा—एकदोष, द्विदोष, त्रिदोष आदियों में वातादि दोषों में से यात्र अपने इत्यादि-लायु-सूक्ष्म-विकल्प-कार्यादि गुणों से, वित्त अपने वर्ण-तीक्ष्ण-सर आदि तथा कल अपने दोष-इत्यादि-विकल्प-कार्यादि गुणों में से एक-दो या तीन आदि कितने अंशों में प्रकारित होता है? इसको यात्रा “विकल्प सम्प्राप्ति” है। अर्थात् दोषों को अंशोंकलन ही “विकल्प सम्प्राप्ति” है।

यथा-कथाय रस एवं कलाय अपने रस, गोत, तथु, मूँख, कल, विशद एवं छातादि गुणों से सभी अंशों में यात दोष को बढ़ाता है। इन्हुंनी किंच रस एवं गोत मुणों से यात दोष को बृद्ध करता है। साथु केवल रस गुण के कारण एक अंश से यात दोष को बढ़ाता है।

कटु रस एवं मध्य सप्तस्ता अंशों में पित दोष को प्रकृति करते हैं। हिंगु कटु, ठप्प गुणों से तथा अजालाइन रप्प, शीशन गुणों से पित दोष को प्रकृति करता है।

भधुर रस एवं माहिय क्षीर समस्त अंशों में कफ दोष को प्रकृतित करता है। करोन्स्क शौल एवं गुरु होने से तथा क्षीरी वृक्षों के कला लिंग शौल गुण से कफ दोष को प्रकृति बदलते हैं।

इसके ज्ञान के आधार पर ही दोष तिन गुणों से प्रकृतित हुए हों उनके विवरोत् युग
वाले इन्हों के प्रयोग से उनको चिकित्सा करना चाहिए। यहाँ इसके ज्ञान का प्रदर्शन है।

(iii) प्राधान्य सम्प्राप्ति—व्याधि में सम्बोधित दोषों को स्वतंत्रता य फरतंत्रता के आधार पर अव्याधि की प्राधान्य चा अस्थान्य सप्तासि का निर्देश किया जाता है।

- | | |
|----|--|
| 1. | संख्यावाचकांकाहीच्या, तसेच गुत्या, तसेच कुडावेचयदी? (च.पि. 1/11) |
| 2. | i) शब्दांतराने पुनर्वैधानिकतेतिथे किंवा कोणत्याही विस्तरातीलीकारी? |
| | ii) अंत वाचातिरानीवाचादृशी तीक्ष्णप्राप्त वर्णनात वर्णना। (च.पि. 1/12 पा.ला.प्राप्तिक) |
| 3. | प्राचीन भारतीयांनी वाचात वाचात कोणत्याही? |

जहाँ पर दो या तीन दोष व्याधि अनक हो यहाँ पर प्रधान दोष ये हैं। यथा—यात्र-प्रियाज आदि ये हिंदु 'तर' या 'तम' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यथा—यात्र-प्रियाज आदि ये अवेद्य वाले अधिक मध्य हो तो पित्त 'घृदृ', यात्र 'घृदत्तर' कहा जाता है। यथा—यात्र-प्रियाज आदि में यदि यात्र स्थानिक कुणिता हो गया पित्त सबसे कम कुणित हो तो यह 'तम' नाम, कफ 'घृदृ तर' व पित्त 'घृदृ' समिपात्रिक कहाँगे। इसी प्रकार याद रखें कि यह दोष से डरना हुआ हो तब 'क्षीण', 'क्षीणतार' व 'क्षीणलाय' शब्दों का प्रयोग किया जाए।

स्त्री प्रकार-

- V. यदि किसी रोग में प्रथम बात कुपित हुआ, बाद में कफ या इन जैव हुआ हो तो स्वतंत्र होने से चात को 'प्राधान्य' माना जाता है।

V. सभी कारणों में जो दोष प्रबल रूप से कुपित होता है उसका प्राधान्य माना जाता है। तर-तर्म *degree*

3. जो रोग प्रथम उत्पन्न होता है उसका प्राधान्य माना जाता है। यधा प्रथम उत्पन्न हुआ, पश्चात् कास, तब अब प्रधान रोग कहलायेगा।

प्रधान सम्बादि ज्ञान से यह लाभ होता है कि प्रधान रेण की चिकित्सा पालन हो जाती है। अप्रधान रेण प्रधान व्याधि की चिकित्सा से स्वयंमेव ही जांत हो जाता है।

(iv) बल सम्प्राप्ति—निदान, पूर्वरूप एवं रूप की अधिकता एवं आत्म कारण ल्यापि के बलात्मक का ज्ञान बल सम्प्राप्ति द्वारा होता है। जब हेतु, पूर्वरूप ल्यापि सम्पूर्ण रूप से किसी रोग में पापे जाते हैं तब रोग प्रबल होता है एवं जब हेतु पूर्वरूप सम्प्राप्ति अस्त्व होती है तब रोग अस्त्व बल का होता है।

(v) काल सम्प्राप्ति^३-जिस सम्प्राप्ति में काल अर्थात् रात्रि, दिन, ज्यु एवं धंक के अट्टी यथा एवं आं में व्यापि की बुद्धि तथा उत्पत्ति के द्वारा दोप विशेष का निपात होता है ठने "काल सम्प्राप्ति" कहते हैं। व्यापि की उत्पत्ति व बुद्धि का काल दोषात् व्यापि किस दोष से उत्पन्न होत है इसका ज्ञान होता है।

- (1) यथा वर्षा झट्टु, अपराह्न, अपर रात्रि तथा भोजन की जीणवस्था में दत्त शंख छूट होते हैं।
 - (2) ग्रह झट्टु, ब्रह्मघङ्क, भृगुरात्रि तथा उग्राहर की पच्चमानावस्था में पित दोष शंख छूट होते हैं।
 - (3) वसन झट्टु, पूर्णांक, पूर्णरात्रि व भोजन के पश्चात उपर दोष शंख छूट होते हैं।

१. ईन्हीं विषयों की विवरण प्राप्ति करेंगे।
२. यह विवरण उपलब्ध कर्त्ता को सुनायें।
३. "विद्या ईन्हीं विषयों के बारे में जानकारी।"

卷之三

इसी प्रकार युद्धावस्था में यत्न की, युद्धावस्था ते "यत्न की तरफ बलवानवस्था में कहां दोप की युद्धि होने से इन अवस्थाओं में उत्तमग: यत्न, यिन तरफ कर्तव देण होने की उपलब्धि रहती है।

(vi) विधि सम्प्राप्ति—विधि सम्प्राप्ति का नदीन भावर्य चक्र के क्रिया है। विधि का अर्थ 'प्रकार' होता है। विधि सम्प्राप्ति मतादीप नदीगीं में अन्तरिक्ष में प्रकट करने के लिए उपयोग होती है। यथा-एक गिर के दो घंटे

(1) कर्त्ता

(2) $\frac{3}{2} \times \frac{1}{2}$

(1) संख्या एवं विधि सम्प्राप्ति में सुन्दर अन्वर यह है कि संख्या सम्प्राप्ति ने विद्यालय
पद्धति में शिर्क भेद प्रकट होता है। यथा—ज्याके ४ प्रकार, गुणके ५ प्रकार इत्यादि। संख्या
विधि सम्प्राप्ति हाँग ज्याके विधिय ४ प्रकारों (यद्य यात्र, नियम, उच्चार, शैल इत्येत्र,
—विद्यालय या आग्नेय) का ज्ञान होता है।

इस प्रकार विधि सम्पत्ति द्वारा व्यापि के प्रकार वह अवृद्ध जन हो जाने पर ही तदनुसार चिकित्सा की जाती है। लैसे रक्तचित्र के उपर्योग व अप्पल ऐंड वा जन विधि सम्पत्ति द्वारा हो जाने पर ऊर्ध्वर्ग रक्तचित्र में विशेष व अप्पों रक्तचित्र में बनने विकित्सा ने जाती है।

अतः जहाँ पर सिर्फ भेद का ज्ञान करना है वहाँ मनुष्य सम्मान दद्य वहाँ दून विशिष्ट भेदों के ज्ञान से विकितसा निपारीत करने हों वहाँ विषय सम्बन्धित का द्रष्टव्य होता है।

आधुनिक चिकित्सा शास्त्र से सम्प्राप्ति का विन प्रकार सूनेवस्य विद्यया ये संक्षिप्त

- | | | |
|----|------------------------|--------------------------------------|
| 1. | संख्या सम्प्राप्ति | Types of diseases |
| 2. | प्राप्तन्य सम्प्राप्ति | Main or Secondary Changes |
| 3. | चर्त सम्प्राप्ति | Mode of onset of the disease |
| 4. | विकास नाम्नाप्राप्ति | Intensity of disease or pathogenesis |
| 5. | विधि सम्प्राप्ति | Subclassification of disease |

- "याहो विवरीते श्लेषा प्रभावे विवरेत् तु ।
पूर्णं यत्पूर्णं यामुर्ददे रुद्धं द्युम् दोषवतः ॥ (पृष्ठ 35/31)
- अति विविष्ट इवाच, श्लेषा तु वेद्याद्, सकारीनिकारं देव पन्न वाहनर्थिम् । इतनां समाजेभुवे विवेष प्राचीनोग्ने उपर्याप्ति । (पृष्ठ 1/11(4) पादं गोप्यपर कविताः)

नवम् अध्याय

क्रियाकाल विवेचन

व्याध्यत्तिक्रम एवं क्रियाकाल

व्यापि कोई स्थिर स्थिति नहीं है बल्कि विकारगत विविध परिवर्तनों के द्वारा बदलता है जो कि कई अवस्थाओं (Steps & Stages) से आगत एक फल (Result) है। रोग में उसके विकास की विभिन्न अवस्थायें पाई जाती हैं। जो कि चिकित्सा में चिकित्सक का यह कर्तव्य होता है कि उसके उत्पत्तिक्रम पर विभिन्न की विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान करके उसके रोकथाम (Prevention) या इच्छा (Cure) का प्रबन्ध करे।

आचार्य शुक्रु ने बड़े ही विस्तार से व्यापि की उत्पत्तिक्रम तथा अवस्थाओं में विवरण देते हुए इन अवस्थाओं को 'क्रियाकाल' नाम दिया है।

जनुर्दोष सिद्धान्तों से मिलता जुलता वर्णन आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में मिलता है। "Boyd's" के अनुसार "Disease is not a state, it is rather a process of ever changing manifestations, a process which may end in recovery or in death, which may be acute or fulminating in its manifestations or which may appear as a slow ageing of the tissues, brought about by sharp tooth of time."

आचार्य शुक्रु ने इसे क्रियाकालों में रोगों की उत्पत्ति का वर्णन किया है—

- | | | |
|-----------------|------------------|---------------|
| (1) संचय | (2) प्रक्रोप | (3) प्रसर |
| (4) स्थानन्त्रय | (5) व्यक्तावस्था | (6) भेदावस्था |

ये दो बड़े ठार्नुक छः अवस्थाओं का ज्ञान रखने याता हो 'चिकित्सक' या 'भिपक्ष' कहता है। इन अवस्थाओं का ज्ञान चिकित्सक को ठन-ठन अवस्थाओं में प्रतिक्रान्ति करता है। इनी कालण इसे 'क्रिया काल' कहते हैं।

आचार्य वाचक एवं वाचमृत ने व्यापि की उत्पत्ति में तीन क्रमिक अवस्थाओं का वर्णन किया है—

1. संचयं च प्रक्रोपं च इत्यन्तर्भूतः। यद्युक्तं प्रोटं परं चोर्दं शोशान्तं स भवेद् भिपक्षः ॥ (मु. ३१/२०)
2. इत्यैतरेण इत्येवं प्रत्यक्षं विवरणं व्याप्तं। (मु. ३१/२१)

- | | | |
|---|---|--------------|
| 1. चय | 2. प्रक्रोप | 3. प्रसर |
| दोषों गति वृद्धि की भी दो अवस्थायें होती हैं— | (1) चय | (2) प्रक्रोप |
| इनी अवस्थाओं के विस्तार में ऊह भेद रखते हैं जो 'क्रियाकाल' कहताने हैं। | पद्धतिक्रान्ति के ज्ञान से चिकित्सक जो निन्न राम होते हैं— | |
| (i) किसी भी रोग का शोषण निदान (Diagnosis) करने में। | (ii) किसी भी रोग के परिणाम (Prognosis) बताने और रुक्ति में। | |
| (iii) रोग प्रतिक्रिया को पुनः स्वास्थ्य की ओर मंड़ने वे (To reverse the disease process towards normalcy) | | |
| (iv) प्रतिपेधात्मक (Preventive) अथवा चिकित्सात्मक (Curative) उपचार (Measures) का योग्यता प्रयोग करने की दृष्टि में। | | |

षड्क्रियाकाल (Six Stages of Evolution of a Disease)

(1) संचयावस्था

संहिति रूप वृद्धि को 'चय' या 'संचय' कहते हैं। संचय का अर्थ है 'स्वर्वित होना'। दोषों का अपने स्थान पर बढ़ना 'संचय' कहलाता है। विविध हेतु या निदान सेवन से दोष अपने स्थानों में संचित होने लगते हैं। दोषों जो अनन्त रूप बदल सेवन से अपने-अपने स्थानों में जो वृद्धि होती है तदा जटों में बाहर से आहार-विहार के सेवन से अपने-अपने स्थानों में जो वृद्धि होती है उसे 'संचय' या 'चय' कहते हैं। जिन कारणों से दोषों का संचय हुआ है उन कारणों (आहार-विहार) से विपरीत गुण बाले आहार-विहार के सेवन को इच्छा होता है यह स्वास्थ्य लक्षण सभी दोषों के संचय होने पर होता है। संचयित दोषों के लक्षण निन्न प्रकर होते हैं—

- (i) चात संचय—शरीर में चात का संचय होने पर उदर में स्वास्थ्य, बायु से भय प्रतीत होना आदि लक्षण होते हैं।
- (ii) पित्त संचय—शरीर में पित्त का संचय होने पर शरीर में पांचालन एवं उम्मला प्रतीत होना आदि हाप्तण प्रकट होते हैं।
- (iii) कफ संचय—शरीर में कफ का संचय होने पर शरीर में भासीपन एवं आलस्य का अनुभव होता है।

1. वृद्धिर्विशिष्ठ-चय स्थाना, प्रक्रोप स्थाना।
ता संहिति रूप वृद्धिर्विशिष्ठ, वित्तयन रूप वृद्धि: भ्रोता:। (मु. ३१/२० व इत्यत्र)
2. ता संहितान्तं रातु संघातान्तं लाभवृत्तान्तं विद्युतान्तं, यद्योष्य वृद्धनां दीप्तिकालान्तं, यद्यकाल विद्युतेष्वित्तिहासि भवनेतः। उत्र इष्टयं क्रियाकालः। (मु. ३१/२१)

काय-चिकित्सा

संचय प्रकार
हारी में दोषों का संचय निष्ठा हो प्रकार से होता है-

(1) स्वाभाविक

(i) आवस्थिकी

(ii) नैमित्तिकी

(2) अस्वाभाविक

(1) स्वाभाविक संचय—जिना किसी विद्या आहार-विहार के स्थान से शरीर में जो दोषों का संचय होता है वह 'स्वाभाविक संचय' है। यह दो प्रकार है-

(i) आवस्थिकी—शरीर की विभिन्न अवस्थाओं यथा (1) वाल्पराधा में रुक्ष का (2) युक्तवस्था में पित का तथा (3) वृद्धवस्था में वात का स्थान ही संचय होता है।

(ii) नैमित्तिकी—सृष्टि में नियमपूर्वक ही स्वभाव से विभिन्न ऋग्में पित दोषों का संचय होता है। यथा-ग्रीष्म ऋग्में वात का संचय, वायु के पित का संचय एवं हेमन्त ऋग्में कफ का संचय होता ही है। परन्तु कल स्वभाव से दोष प्रकृष्टित नहीं होते।

(2) अस्वाभाविक संचय—अस्वाभाविक दोषों का संचय प्रज्ञापण, विष आहार-विहार के कारण होता है। यह काल की अपेक्षा नहीं करता।

ज्युनिक चिकित्सा विज्ञान की भावा में इसे Stage of Accumulation of Doshas or Incubation period कह सकते हैं।

यह चिकित्सा का प्रथम क्रिया काल है। यदि संभव हो तो चिकित्सक को लोक जन हो जाने पर उसका प्रतीकार कर देना चाहिये फलस्वरूप रोग आगे नहीं चढ़ पाता।

(II) प्रकोपावस्था

दोषों की 'विलप्ति रुप वृद्धि' प्रकोप है। यदि दोषों का निर्वरण संचयावस्था में जो क्रिया जाता है तब दोष प्रकृष्टि होकर दम्भाग्नियां हो जाते हैं एवं अन्य स्थान पर वज्र लाघों की उत्पत्ति करते हैं। फलतः शरीर अस्वस्थ हो जाता है एवं रोगेनांतर संचयन बढ़ जाता है। प्रकृष्टित दोषों के हाशण निष्ठा प्रकार होते हैं—

(1) यात्र प्रकोप—शरीर में वात प्रकोप होने पर कोष में सुई चुभने वैती भैंड एवं यात्रा वा बौद्ध में संचरण होता है।

1. दीप्ति निर्विट वात, वर्षा योद्धों विन्द, रेण्डे योपते रुपेण। (ग्रह्य ११)
2. निर्विट वात वात वातने वातवरणः। वै युक्तम् वर्षा वर्षन वर्षनः। (ग्रह्य १२/१)
3. कोटिक्षयां विन्दि विन्दि वात वातवरणः। (ग्रह्य १२/२)
4. दीप्ति वर्षन वर्षन वातवरण वातवरण वातवरण वातवरण वातवरण वातवरण वातवरण। (ग्रह्य १२/३)

क्रियाक्रान्त विधेयन

(II) पित प्रकोप—शरीर में पित प्रकोप होने पर अस्त्रोद्दाता, विषज्ञा व दाह होती है।

(III) कफ प्रकोप—शरीर में कफ प्रकोप होने पर अर्द्ध, द्रव्यं, वै विषज्ञा आदि लक्षण प्रकट होते हैं।

प्रकोप भेद—दोषों का प्रकोप केवल संचय से हो जाती है तथा अस्त्रोद्दाता विषज्ञा वाकर भी ये प्रकृष्टि हो जाते हैं। अतः प्रकोप ये निष्ठा दोषकरण की विधि पाकर भी ये प्रकृष्टि हो जाते हैं। अतः प्रकोप ये निष्ठा दोषकरण की विधि होता है।

(1) वय पूर्वक प्रकोप—इसके निष्ठा दोष पंद्र हैं—

(I) स्वाभाविक

(ii) अस्वाभाविक (अन्यत्र)

(2) अवय वूर्वक प्रकोप

(1) वयपूर्वक प्रकोप

(i) स्वाभाविक वय प्रकोप—वयां ऋग्में ऋग्में वयपूर्वक में ही वय का प्रकोप, शरद ऋग्में पित का प्रकोप व वयन ऋग्में वय का वय प्रकोप होता है। रुक्षादि युग्म वर्षा ऋग्में जव रात ने चंद्रुक होने हैं तब वय का प्रकोप होता है। तीक्ष्णादि युग्म जव शरद ऋग्में उमा युग्म ने चंद्रुक होने हैं तब नित का जपा लिनाम्, शोतादि कफ वयपूर्वक युग्म जव वर्षन ऋग्में सूर्य वै वर्षन जो पिपलदा है तो प्रकृष्टि होकर रोगेनांतर जरता है।

(ii) अस्वाभाविक प्रकोप—जब कोई व्यक्ति अहार-विहार का सेवन करता है तथा ऋग्में वर्षन के नियमों का उत्तर नहीं करता है तब उसके दोष अस्वाभाविक रूप से प्रकृष्टि हो जाते हैं, इसे 'अन्यत्र' या 'कर्तित्यव' प्रकोप भी कहते हैं।

(2) अवयपूर्वक प्रकोप

दोषों का संचय न होने पर भी उनका प्रकोप होता है। यदा-यदा भी अधिक काम करने से यात्रा का, झोप से पित का तथा दिवाशयन से कफ का प्रकोप होता है। इसे 'प्रथम विभिन्न' प्रकोप भी कहते हैं क्योंकि यह ऋग्में वर्षन के विभिन्न विधियों के ज्ञाता भी होता है।

1. वायु ग्रावृद काले, वर्षा काले वा कुर्वन्ति, विते शतकलो-प्रकृष्टि, दोषों वर्षने व वृद्ध्यन्ति। (ग्रह्य १२)

2. उल्लेख युक्त वर्षा वातों वा कुर्वन्ति सम्बद्धः। दोषों वर्षने वर्षन के विभिन्न विधियों युग्मः। रोदनः..... वर्षपूर्वः। (ग्रह्य १२/१२-१३)

3. दोष प्रकोपे विविधः, वयपूर्वक विषज्ञः। वयपूर्वक विषज्ञोऽपि व स सोरोधनमहृति। वयपूर्वक वायुपूर्व वायुः आग्नेयज्ञस्य यः। (ग्रह्य ३/१३ या हेनर्डः)

यह चिकित्सा का दूसरा अवसर होता है। इसमें चिकित्सा नहीं होता। चय पूर्वक प्रकोप में संशोधन चिकित्सा द्वारा दोषों का निर्हारण होता कर देना चाहिये तथा अचय प्रकोप में संशमन चिकित्सा द्वारा प्रकुपित संरक्षण करना चाहिये।

दोषों का स्वाधारिक प्रक्रिया जो यिन्हींने त्रृत्यों में होता है वह रोगोत्पत्ति के परन्तु जब आहार-विहार एवं देश-विशेष के प्रभाव से अत्यधिक काल में देख जाती है तब रोगोत्पत्ति होती है। इसलिये आचार्यों ने यहाँ उपर्युक्त उल्लेख हो जाती है लेकिन रोगोत्पत्ति न हो।

यदि प्रकोपावस्था में चिकित्सा न की जाये तो दोष प्रसरणस्था को ग्रास हो जाएगा। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की भाषा में इस अवस्था को Provocative Stage या Stage of Violation of Doshas कह सकते हैं।

(iii) प्रसरावस्था¹

(III) फ्रैक्टिवेशन
प्रक्रियाएँ स्थायी में यदि दोषों का प्रतिकार न किया जाये तो दोष प्रसरणश्च हैं। प्रतिकार पहुँच जाते हैं जैसे पात्र में संरोधनार्थ रखा यीस्ट (सुरा बोज), पिण्ड एवं अन्य कुछ समय बाद Fermentation (किञ्चन) होता है एवं वह अपने आकर में रखने अपने पात्र से बाहर फैलने लगता है। वैसे ही प्रकुपित दोष अपने स्थान में कुछ काल रहने के पश्चात् अपने स्थान से बाहर निकलकर फैलने लगते हैं। अचेतन होने पर भी किञ्चन होने से बाहर ही दोषों के प्रसरण का कारण होता है।

जिस प्रकार तालाब में जल चूड़ि होने पर बांध को तोड़कर दूसरे जल के साथ निकार जल भूमि पर फैलता है उसी प्रकार अत्यन्त ऊपरित दौव भी एक तो वह निकार सम्पूर्ण शहर में आधे शहर में या एक अवध व में फैलते हैं तब वह जिला (लक्षणों) को उत्पादित करता है।

जो दोष अधिक प्रकृति न हुआ हो तो वह दोष शरीर के स्रोतों में दबा पड़ा रख है एवं कालान्तर में प्रकोपक कारणों को पाकर सुनः प्रलृप्ति होकर रोग उत्पन्न करता है। इस प्रकार प्रकृति होकर फैलते हुये दोष विमार्गमन करते हुये संचरण करता है जबकि लहर उत्पन्न होते हैं—(i) चात प्रसार से पेट में गुड़गुड़ाइट होती है (ii) पिल उसे दृष्टि, चूसे जाने जैसी पीड़ा, जलन तथा भुआओं ढाठने लगता है (iii) कफ या प्रसारी या अकृति अपवर्त तथा स्रोतों में अकृति (आकृति) गए रुद्धि उत्पन्न होती है।

- मत हाल प्रारंभ वस्त्रम्-तेषामेभिण्ठत्वा विशेषैः; प्रकृपितासां किञ्चोदकपिष्ठसन्नाय इवैदिकानां इत्यापि वैर्यं व्युतीलन्नान् दारान् इतु। (मुख्य ११३)
 - एवं रामेषुः; इति उर्वार्थः सर्वधारणम्। (मुख्य ११४)
 - यथामात्रावस्थावदेः तिष्ठु; मौगुपत्यावस्थावस्थावेन अव्याप्तः; सर्वतः प्रधावलि, एवं दामा, वृषभावोदीप्तिः; ममामा, संस्कृताहिता इति वैकथा प्राप्तानि। (मुख्य ११५)
 - एवं उक्तव्यं उपलब्धं कर्तव्यं किंचित्कारादेवी, ओषधीश्चाद्याद्यापि धूपयननामि वित्तम्, अरोग्यावृत्तम्-मातापि इति संस्कृतं निरुद्धं वैकथा इति वैकथा इति। (मुख्य ११६)

भेद—दोषों का प्रसार पन्डित प्रकाश में गो भक्ति ॥

- | | |
|------------------------|-------------------|
| (1) यात | (2) निन |
| (3) कफ | (4) रह |
| (5) यात-पिता | (6) यात-कफ |
| (7) पिता-कफ | (8) यात-ज्वरोगित |
| (9) पिता-शोषित | (10) कफ-शोषित |
| (11) यात-पिता-शोषित | (12) यात-कफ-शोषित |
| (13) पिता-कफ-शोषित | (14) यात-निन-कफ |
| (15) यात-पिता-कफ-शोषित | |

पुकोष एवं प्रसर में भेद

आचार्य ठलहण ने प्रकोप व प्रसर में भंड बतलाते हुये एक उदाहरण के लायन से इसे स्पष्ट किया है। यथा जमे हुये घृत फौ जाँचन पर चढ़ाने पर उसके पिछले की अवस्था प्रकोप की अवस्था होगी तथा अधिक जाँच लाने पर यह भौतिक लागत एवं खौलकर बद्धन से बाहर निकलने लगेगा तब वह अवस्था प्रसर को कहता है।

(iv) स्थान संश्रयावस्था

प्रसगावस्था को प्राप्त हुये दोषों की चिकित्सा न करने पर प्रकृत हुये दोष फैलते हुये स्तोत्र में विगुणता चैदा करके शरीर के किसी स्थान पर अवश्य विरोध में लकड़े हैं वहाँ इक या एक से अधिक धातुओं एवं भूलिंग को दूरित का एवं उत्तम तात्पर्य निष्ठकर स्थानानुरूप रोग को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार के दोष-दूर्य के संकेत को ही दोष-दूर्य सम्पूर्चना कहते हैं। इस अवस्था में भविष्य में होने वाली व्याधि के लक्षण उत्पन्न होते हैं। दोषों का स्थान संब्रग जिस किसी स्थान विरोध पर होता है उस स्थान के अनुसार होता है उत्पन्न होते हैं यथा—

- (i) वस्ति में स्थान संश्रय करने पर अशमरी, नृत्राचतु प्रमेह आदि रोग।
(ii) उठर में स्थानसंश्रय होने पर गुल्म, जलोदर, अग्निसाद, यिसूचिका, अतिसाद आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

कुपित हुये दोग समस्त शरीर में फैलते हैं एवं स्रोतम् के जिस किसी स्थान पर भोग्या या 'स्वर्गीयम्' होता है उसी स्थान पर स्थानसंब्रप्त कर रोकेंस्ति करते हैं।

- गद गुर्ज स्वानसंप्रभ वश्वमः । एवं प्रकृतिलोकात् शरीरप्रदेहकामङ्कलन् यथोऽन्तर्वा तोषय-
विधिनिविषयान् पूर्वाप्रादुर्भावः । (मु. 21/33)
 - ३) पुरिणान् हि दोषाणां शरीरं पारोपायाम् ।
यत्र सहः छायुगुण्डूपाधिकांशेऽनामादः ॥ (मु. 24/10)
 - ५) विषयाणां छावेगुण्याद् रसः सञ्चाति यत्र सः ।
कर्त्तव्यं विषयां तत्र हो वर्णविषयं तोयः ॥
देवानपि रीते स्थानेऽक्षेत्राप्रक्षेत्राम् । (च.वि. 15/38)

आपार्व ग्रन्थालि ने यह कहा है - 'पूर्वस्त्रयं साधनं संक्षिप्तम्' को अलगा ही पूर्वस्त्रय है। पूर्वस्त्रय की व्याख्या भारती द्वारे आयी है । उन्होंने पूर्वस्त्रय कुछ दोष जैव व्याकारों में हो जाते ही तथा व्याप्ति पूर्वस्त्रय कहते हैं। इन्होंने यह पूर्वस्त्रय कहा जाता है ।

उत्तरानुक्रमिक विशिष्टता विज्ञान में इस अवस्था को Prodromal Stage of localisation of Disease कह सकते हैं।

(v) ल्युकायस्थी

(V) अधिकारी का सर्व स्वप्न में ल्पनक हो जाता ही अधिक्षिणि है। यह ल्पनक है। पूर्वस्वप्नमा भी यदि चिकित्सा न यही जाये तो रोग के समस्त लक्षण घटना हो जाते हैं। इसे 'हृष्टस्वप्न' भी कहते हैं। लक्षणों के प्रकट हो जाने से रोग किये गये सम्बोधित किया जाता है यथा-

- (i) संकल्प होने पर ज्वर।
 - (ii) गुदार्थ से अकिञ्चन सरण होने पर अतिसार।
 - (iii) नेत्र एवं त्वचा में फैलायन होने पर कामता आदि।

इस उत्तम्या को 'व्याधि दर्शनावस्था' भी कहते हैं यह चिकित्सा या धूम-
अवसर है।

एक ही दोप बुधिग्न हांकर भित्र-भित्र काणों से अलग-अलग स्थानों में रह जानेक प्रकार के होगों को उत्पन्न करते हैं, इसलिये प्रकृति स्थान-धेद एवं कारण विषयों
उत्पन्नकर चिकित्सा की व्यवस्था करनी चाहिये।

'ब्युटोपस्था' में रोग से सम्बद्ध समस्त लक्षण प्रकट हो जाते हैं जिसके आधा पचासीप्रति को निष्ठय रूप में जाना जाता है। यह व्याधि के निर्णय में सहायक होता है। डायग्नोस्टिक चिकित्सा विज्ञान में इस अवस्था को Stage of Disease Manifestation कहते हैं।

(४) खंडालपाल

ये अद्यक्ष व्याधियां प्रतिकार के अभाव में (ग्रनसोध, विद्रुधि आदि) विदोर्प होती हैं। इसी प्रकार जर्वर और अर्द्ध

द्वितीय तारा चिकित्सा में सर्वन कर जीवं दाता भेदभाव में असंतोष है। यह चिकित्सा का अधिक उपग्रह है यदि इस अवस्था में भी चिकित्सा की कठोरता से गम व्यवहार हो जाए।

इस अवस्था में सम्प्राप्ति के दौरी के अनुसार हेल्प की उपचार का व्यापक एवं विविध गतिक है। यथा उक्त गोंद में किस दौरी की प्रक्रिया है तथा इसका चर्चावान, विनियोग, और विभिन्न आंदोलन घोट प्रकट हो जाते हैं। इनके अन्तर्गत इन प्रक्रियाओं में से एक की प्राप्तवाया (Prognosis) का जान भी मंभव रहता है।

दोनों के संबंध, प्रक्रिया, उत्पादां इन वर्षों में बहुत अधिक विवरणीय हो चुके हैं तो उनमें से सफल विकिरणक हो सकता है। संबंध अवधारणा में ये दोनों एवं उनके उपरी अवस्थाओं को प्राप्त नहीं हो सकते हैं। अब, इनमें का अवधारणा में इन दोनों के पहले ही उनको विकिरण करनी चाहिये क्योंकि इनमें का अवधारणा में संकेत न हो सकता है।

आधुनिक धिक्तिमा विज्ञान में इस Chronicity and Complications का वर्णन है।

दोनों की वैपाय्यायस्था (संचय-प्रकोप-प्रसारण) में जो असत् होते हैं वे दृष्टिपूर्ण होते हैं उनके विकार कहते हैं। जब मही दोष बन्धूं गति या अपेक्षा या शरण या विनाश द्वारा या स्थान में आश्रय चला लेता है तब उस विकार को 'रोग' कहते हैं।

पद्धतियों काल वाले प्रथम तीन अवस्थाओं में उत्पन्न संकेन 'विकल्प' है जो कहा दी गई तीन अवस्थाओं में उत्पन्न लक्षण समूह (Symptom Complex) 'होता' है। नुस्खा वाले दूसरे से पद्धतियों काल वाले दो भागों में बांट सकते हैं-

- | | |
|---|---|
| (i) संघर्ष, प्रकोप व प्रसर | Reversible, Physiological stages.
No lesions are Produced. |
| (ii) स्थानसंत्रय, अनावस्था व भेदवस्त्वा | Irreversible, Pathological Stages
Lesions are Produced. |

दोष वैयक्तिक विकासावस्था सारणी

अवस्था	संक्षण
(i) संचयावस्था (Stage of Cumulation)	i) बृद्धि हेतु से हेत्व ii) विपरीत पदार्थ सेवन को इच्छा

- १ भग्न उपर्युक्तेशमवदोर्गतां द्रव्यभवयन्वदानं च इच्छावात् ।
अस्तीतिरात्रापूर्वान् पर द्वयेर्वक्षत्वम् । तदात्मिक्यमाते ॥ यथेऽप्युपर्यन्ति ॥ (मुख्य २१३)
२ गंधेः प्रकृता दीपा दापने । वौहवन्ती ।
ते दृष्टाण् गंधेः प्रकृति अवलोकता ॥ (प. ३ २०५)

- | | |
|--|---|
| (ii) प्रकोपवस्था (Provocative Stage of disease) | i) कोषधेद (Loose motion)
ii) अम्लोदागर (Acid taste)
iii) पिपासा (Excessive thirst)
iv) अन्द्रेष (Anorexia)
v) यमन (Vomiting) |
| (iii) प्रसरणवस्था (Stage of Extension) | i) विमार्गागमन
ii) ओप (Burning sensation, whole body)
iii) चोप (Burning Sensation)
iv) परिदाह (Burning Sensation)
v) अरोचक (Anorexia)
vi) अविपाक (Indigestion) |
| (iv) स्थानसंक्रयवस्था (Stage of localisation of disease) | i) स्थानानुरूप रोग का पूर्व मुहूर्म चथा-ज्वर के पूर्वल्य श्रम (Tremness), स्नाय (↑Temperature), स्थानानुरूप रोग के लक्षण प्रकार जैसा कामला रोग में चेहरे पीत चर्ण होना (Yellow discolouration of eyes & in Kamala Roga) |
| (v) व्यक्तवस्था (Stage of manifestation) | i) दोषानुसार लक्षणोत्पत्ति एवं दोषक रक्त रोग का बन्द रहना। |
| (vi) भेदवस्था (Stage of complications) | |

क्रियाकाल का महत्त्व एवं चिकित्सा में उपादेयता

"क्रियाकाल" का शास्त्रीय अर्थ है क्रिया अर्थात् चिकित्सा का वास्तविक प्रकार। मुकुर ने "पद्मक्रियाकाल" के माध्यम से चिकित्सा के अवसरों का वर्णन किया है। इन अवसरों में जहाँ तक संभव हो सके चिकित्सा प्रारंभ कर देनी चाहिए, उन्हें जितने दलदली चिकित्सा प्रारंभ की जायेगी, रोग को समूल नष्ट करने में उतनी ही शक्ति मूल्यांकित होती है।

विस प्रकार तरण वृक्ष को अन्यथा से ही समूल नष्ट किया जा सकता है, मगर प्रथम क्रियाकाल (संचयावस्था) में विकित्सा करने से दोष वैयम्य नहीं हो जाता है। एक वृक्ष होने पाता और यदि एक उल्लंघन ही हो जाये तो वह हीनबल होने से सुप्रभाव होता है।

१. यद्युपर्यन्त विषयों तात्पुरता; ।
म् एकान्तव्यवस्था विषयों तात्पुरता; ॥
एकान्त विषयों तात्पुरता: गायत्री शुभ्रम् ।
शिद्: विषयों तु व्याप्तिरूपाणि च: ॥५३॥

235

आगामी चारके ने आत्मराशाखा का लिया है। वे यह किए हैं कि अनुरु की लियाएँ अप्पस्थाओं में लिखितमक का बना रखें। इसका काम उन्होंने (अनुविद) की इसकी भी 'काट' एवं 'अकाल' संतोषी रखा है।

क्रियाकलाल समूह का प्रयोग ही धिक्किन्ग के सम्बन्ध में हुआ है। क्रिया का अर्थ 'प्रतिकार'। अतः क्रियाकलाल का समूह में अर्थ होना 'व्यवस्थापन विकास' (Timely action)। क्रिया से औपचार्य, अब एवं विहार दोनों का एक ही विषय बन चुका है।

क्रियाकाल ज्ञान का महत्त्व

- (1) दोष वैष्णव्य जन्म क्रियाकाल को सूक्ष्म चुंड में रखते होंगे जो "दोष की संचयात्मका" में ही प्रतिक्रिया का उत्तर कर देने में विद्युत ऊर्जा की दूरी है एवं रोग के उत्तर होने की संभागिता सम्भव हो जाती है। अतः दोष-वैष्णव्य दोष रोग के उत्तराल के सिवे छह क्रिया कालों का इन अध्ययन है।
 - (2) रोगों की अनुरापण में प्रवेश कर तथा सूक्ष्म चुंड में अंकन का इन छह क्रियाकालों को जाना जाता है। इनमें प्रथम दोनों अवस्थाएँ सूक्ष्म चुंड द्वारा ही ग्राहा हैं।
 - (3) क्रियाकालों का सम्बन्ध ज्ञान रोग के अस्थम में ही विनियोगदर्श (Early diagnosis), साधासाध्य विचरण (Prognosis), अन्तरकाल चर्तौरिय (Prophylactic treatment) तथा अन्तरकाल चर्तौरिय (Curative treatment) के लिये महत्वपूर्ण है।
 - (4) क्रियाकाल ज्ञान की महत्व बढ़ाते हुये ज्ञावों ने सिखा है कि पांडे रोग की प्रारंभिक अवस्था में ही रोग का बोध हो जाने तो दोषों का विर्भान हो जाने से रोग का विकास/प्रसार चहों होता। एवं पांडे विनियोग में विज्ञान हो जाने तो दोष क्रमशः आगे की गतियों को प्राप्त करके रोग को अवृक्ष बढ़ावान मचा देते हैं।
 - (5) क्रियाकाल का सम्बन्ध ज्ञान होने पर ही रोग को सम्बोध करते में ही उत्तर होने से रोका जा सकता है।
 - (6) क्रियाकाल के व्यतीत ही जाने पर तथा क्रियाकाल के दूर्व ही औषध प्रयोग लाभप्रद नहीं होता, क्योंकि कला ही औषध प्रयोग को किंचित् प्रदान करता है।
 - (7) व्याधियों की विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान प्राप्त कर तत्काल क्रिया की व्यवस्था लेवरस्कर है। यथा-जबर की आवाजस्था में हाँफादि द्वारा पाचन

१. अनुप्रिक्षितोरेण ये नाविहति तापमयिः।
यामुप्रिक्षितोरेण न स रोगीत्वं किल तदीः। (च. ४/१२)
२. न द्विष्टकात्तरवाच्यावाच्यवाच्य का भेदनुभव्यन्तं दीपिकं पर्वतं जडते हि दैत्य इष्टोत्तरवाच्यस्त्रियोर्ब्रह्मिः। (च. ४/१३)

ज्ञानस्था करना चाहे है। एस समय शोधन करने का उपरिकार है। चिकित्सा काल वे उपस्थित नहीं होने पर चिकित्सा नहीं करने में अच्छे नहीं होते हैं।

- (६) शोत में शीत का प्रतिकार तथा ठाणा में उष्णता या प्राप्ति का चिकित्सा काल में चिकित्सा व्यवस्था अवश्य करनी चाहिये। उपस्थित अवस्था की उपेक्षा करापि नहीं करनी चाहिये।

क्रियाकाल व चिकित्सा

चिकित्सा का मुख्य उद्देश्य सम्मान का विघटन करता है। रोगोंका लिये जो खल करने के लिये ही चिकित्सा की जाती है। अतः चिकित्सा तोन प्रयत्न का है—

1. दोष प्रत्यनीक
2. व्याधि प्रत्यनीक
3. दोष-व्याधि (उभय) प्रत्यनीक

जब दोष-दूष सम्पूर्छना के अनुसार ही लक्षणोत्पत्ति हो अर्थात् प्रकृति सम्पादन नृचंडना हो तो 'दोष प्रत्यनीक' चिकित्सा करनी चाहिये। जब दोष-दूष सम्पूर्छन है अनुसार लक्षणोत्पत्ति न होकर कुछ और लक्षण उत्पन्न हों (विकृति सम समवेत सम्पूर्छन) तब उस व्याधि के अनुसार 'व्याधि प्रत्यनीक' चिकित्सा करनी चाहिये। निदान-परिवर्तन या दोषों का ज्ञान या शमन करना 'दोष प्रत्यनीक' चिकित्सा है तथा किसी व्याधि के शमन के लिये विशिष्ट औपचार्य या चिकित्सा का प्रयोग 'व्याधि प्रत्यनीक' चिकित्सा है। अर्थात् दूषों को ठीक करना। 'दोष प्रत्यनीक' चिकित्सा तथा दोष-दूष सम्पूर्छन से भी करना 'व्याधि प्रत्यनीक' चिकित्सा है।

दोष प्रत्यनीक चिकित्सा

इसी दोष के सम्बन्धीय वर्ग की अवस्थाओं में दोष प्रत्यनीक चिकित्सा करने से रोगान्ति विघटन हो जाता है। यथा—

- (१) कफ का शमन से, पित का विरेचन से तथा बात का वस्ति से शोधन करनी चाहिये।

१. शारीर का क्रियाकाल से प्राप्त या कुछ क्रिया। क्रिया ही व्याधीकारा का गोप्यव्यापि व लिखति।	(गुण २५३)
२. विद्युत्क्रियाकार सम्पूर्छन से विद्युत्क्रियाकार। मुख्य कृप्तिकार्य प्रयोग क्रियाकार व द्वायेण।	(गुण २५३)
३. विद्युत्क्रियों सम्पूर्छन से विद्युत्क्रिया। विद्युत्क्रियों सम्पूर्छन से विद्युत्क्रिया।	(गुण २५३-४)

- (ii) नानात्मज विकारी (८० वाल विकार, ४० विल विकार वा ४० कर्क विकारी) में दोष प्रत्यनीक चिकित्सा करना चाहिये।
- (iii) प्रकृति सम्पादयेत सम्पूर्छन में दोष-प्रयोग और दोष-व्याधि-प्रयोग का द्व्यापार करना प्रयोग करना चाहिये।
- (iv) दोषानुसार ठनके शमन के लिये दोष-प्रयोग करना दोष-प्रयोग चिकित्सा है।
- (v) दोषों को ही सभी रोगों का प्रारंभिक वर्णन द्वारा दोष-प्रयोग चिकित्सा करनी चाहिये। "दोष एव हि सर्वेन् दोष-प्रयोग चिकित्सा"
- (vi) "रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नी" के अनुसार प्रयोग गैर में दोष-प्रयोग चिकित्सा करना दोष प्रत्यनीक चिकित्सा है।

व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा

किसी व्याधि की विशिष्ट चिकित्सा "व्याधि प्रत्यनीक" चिकित्सा है यथा—

- (i) दैवव्यापाश्रय चिकित्सा व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा है।
- (ii) प्राणवह खोल स पर कनकामव, कात में बल्लवल्ल, इदंग में अनुनादित, मूत्रकृच्छ्र में गोक्षुर, कृमि रोग में विंडन, कुट्ट में दादर जादि का प्रयोग व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा है।
- (iii) घरक संहिता में वर्णित व्यरब्द, व्यवस्त्र, वृज्मान्त्रहन्, तेत्रन्, घार्देकर्म, शुक्रशोधन, कासहर, वर्ष्य, धूहण आदि नहाकदाको का उत्तेच व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा ही है।
- (iv) शल्य चिकित्सा भी व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा है। पद्धानि शस्त्रकर्म के पूर्व एवं पश्चात् दोष प्रत्यनीक चिकित्सा को जाता है।

यद्यक्रिया काल में चिकित्सा विधान

क्र.स.	क्रियाकाल	चिकित्सा
1.	संघय	हेतु विपरीत चिकित्सा
2.	प्रकोप	हेतु विपरीत चिकित्सा
3.	प्रसर	हेतु विपरीत चिकित्सा
4.	संधानसंश्रय	दोष एवं दूष चिकित्सा उभय प्रत्यनीक चिकित्सा
5.	व्यक्तावस्था	व्याधि की विशिष्ट चिकित्सा
6.	भेदावस्था	जीर्ण व्याधि की विशिष्ट चिकित्सा

काय-चिकित्सा

स्नोतोदृष्टि एवं खबैगुण्य में अनार

- स्नोतोदृष्टि**
1. दोष-दूष सम्पूर्ण के भाव को सिद्धि है।
 2. यह लक्षणों की अधिकतमि करने के लिये आवश्यक है।
 3. स्नोतोदृष्टि दोष-दूष सम्पूर्ण से उत्पन्न होती है।
 4. स्नोतोदृष्टि के चार प्रकार (लक्षण) कहे जाते हैं।
 - (i) व्हाइपराक्टिवी (Hyperactivity)
 - (ii) संक (Obstruction)
 - (iii) विनामी गमन (Abnormal activity/Movement)
 - (iv) सिरार्थिं (Obstructive Sweating)
 5. स्नोतोदृष्टि के लक्षणों से इसका इन होता है।

*** १०० ०६ ***

1. अंतिम भूमि के विवाह दृष्टिकोण से:
विवाहित दृष्टि विवाह दृष्टिकोणः

खबैगुण्य

1. दोष-दूष सम्पूर्ण के भाव सिद्धि है।
2. दोषों के स्थानविभूषण व आवश्यक है।
3. खबैगुण्य निदान के लिये ये उत्पन्न होता है या उत्पन्न भी हो सकता है।
4. खबैगुण्य को जानने के लिये शास्त्र में कोई लक्षण नहीं देखा जाता है।
5. खबैगुण्य का अनुपान-लक्षण के लक्षणों से पूर्वक्रिया जानना है।

दशम अध्याय

रोग-रोगी परीक्षा

आवार्य चारक ने निर्दिष्ट किया है कि गोली व रोग परीक्षा करना ही चिकित्सक का प्रधम कर्तव्य है। इसके पश्चात् ही चिकित्सक यो विविधता जारी ने उत्तम दृष्टि दृष्टिकोण। रोग परीक्षा करने के लिये पञ्चविंशति (यथा निदान, पूर्वरूप, लक्षण, इत्यत् विवरण) या उपरोक्त किया जाता है। रोग का विकाय करने के लिये गोली चारक की व्यवस्था देती है। यह परीक्षा दर्शन-स्वरूप-प्रश्न, पञ्च ज्ञानेन्द्रियों व ब्रह्माविषय संज्ञेन्द्रियों (विषेश) प्रयोगिक होता की जाती है।

रोग-रोगी परीक्षा का प्रमुख उद्देश्य रोग का विनिष्ठ (Diagnosis), रोग का सम्पूर्ण ज्ञान एवं रोग-रोगी के बलात्काल का ज्ञान ज्ञान है तिक्तमे व्यवस्थित गोली के द्वारा विशिष्ट चिकित्सा सूत्र निर्धारित किया जाता है और चिकित्सा में सम्बन्ध इन ही नहीं।

रोग-परीक्षा—आयुर्वेद में रोग निदान के लिये रोग व गोली चारक करने का विधान है। निदान, पूर्वरूप, रूप, उपराश, लक्षण-इन व्यवस्थितियों के व्यवहार ने रोग दृष्टि को जाती है। इन पञ्च उपायों द्वारा योग विनिष्ठ व्यवहार इन द्वारा भेद, व्याप, सम्पालभूषण का विचार कर चिकित्सक को चिकित्सा में उत्तम होना चाहिए। यह निदान निम्न है—

(i) निदान (हेतु) (Etiological Factors)

रोग के मूल कारण या हेतु को 'निदान' कहा जाता है। यहाँ निदान वर्द्ध से निमित्त कारण लिया जाता है। इस निदान के कार्ड भेद-प्रभेद होते हैं विनियोग वर्णन सिस्तर से पूर्व में सघृप् अध्याय में किया गया है।

(ii) पूर्वरूप (Prodromal Symptoms)

चापि की उत्पत्ति के पूर्व जो लक्षण (Pre-clinical Symptoms) उत्पन्न होते हैं उन्हें 'पूर्वरूप' कहा जाता है। पूर्वरूप रोगावस्था में दूर्ज रूप से व्यक्त नहीं होते हैं, कुछ स्पष्ट होते हैं एवं कुछ पूर्वरूप स्पष्ट नहीं होते हैं। जब सनसा पूर्वरूप रोगावस्था में व्यक्त होते हैं तब रोग जारी होता है।

- | | |
|---|------------------|
| 1. रोगमाली परीक्षा लंगोडनारौप्यपृष्ठः क्षयोभवहृष्टाकाराद्युपावृष्ठः | (पर्म. २०२०) |
| 2. दांतावस्थानप्रभृते: शोषेत् य रोगिन्यः दांतावस्थानप्रभृते विवरणः | (प्रदृष्ट. १/२१) |
| 3. राख्येपारावस्थानपूर्वरूपाद्युपावृष्ठः | (पर्म. १/६) |
| 4. राख्येपारावस्थानपूर्वरूपाद्युपावृष्ठः | (पर्म. १/७) |
| 5. पूर्वरूप प्राणावस्थानपूर्वरूपाद्युपावृष्ठः | (पर्म. १/९) |

हो जाते हैं तो रोग असाध्य हो जाता है। यह पूर्वरूप सामान्य या विशिष्ट भेद में की होते हैं। इसका वर्णन भी सामान्य अध्याय में विस्तार से किया गया है।

(iii) रूप (Symptoms & Signs)

उत्पत्ति हुये रोग के लक्षणों को 'रूप' या 'लिङ्ग' (Symptoms & Signs) कहा जाता है। लिङ्ग, ताप्ता, चिह्न, आकृति, संस्थान, व्यवजन, रूप ये सभी शब्द इन लक्षणों की शब्द हैं।

इस प्रकार रोग की व्यक्तिगत स्थिति को ही लक्षण या रूप कहा जाता है एवं वे व्यक्तिगत रूप से व्याधि का जान करते हैं। रूप या लक्षणों को सामान्य विशिष्ट या असामान्य भेदों में बदला जाता है जिनका विस्तार पूर्वक वर्णन सामान्य अध्याय में किया गया है।

(iv) उपशाय (Therapeutic Test)

दूसरे तिङ्ग अर्थात् विस्तार व्याधि का विनिश्चय सामान्य रूप से सम्भव न हो, तथा को परोक्ष उपशाय-अनुपशाय द्वारा को जाती है। अौषध, अन्न एवं विहार के दुनिन्द्रिय व्यवहारों का नुस्खाकार या दुःखकार परिणाम देखकर व्याधि विनिश्चय करना ही 'उपशाय' कहलाता है। इसके अतिरिक्त भेद होते हैं। उपशाय का प्रयोग चिकित्सा व पथ्याशय विकारों में सहायक होता है। चिकित्सा के भेदों के अन्तर्गत पंचम अध्याय में उपशाय का विवरण में वर्णन किया गया है।

(v) सम्प्राप्ति (Pathogenesis)

व्याधि को उत्पत्ति करने वाले दोषों के व्यापार के साथ जो रोगोत्पत्ति होती है उसे 'सम्प्राप्ति' कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि विभिन्न निदानों के सेवन से दृष्टि द्वारा प्रत्यक्षात् होकर ज्ञात-ज्ञात्या कर राण उत्पत्ति करते हैं उसे सम्प्राप्ति कहा जाता है। इस सम्प्राप्ति को 'जाति' व 'ज्ञाति' भी कहा जाता है। इस सम्प्राप्ति के निम्न उह भेद होते हैं—

i संक्षेप सम्प्राप्ति	ii विकल्प सम्प्राप्ति
iii प्रायान्वय सम्प्राप्ति	iv बल सम्प्राप्ति
v काल सम्प्राप्ति	vi विधि सम्प्राप्ति

इसी प्रक्रिया को तांडना अर्थात् 'सम्प्राप्ति विघटन' करना ही 'चिकित्सा' कहलाता है। सम्प्राप्ति का विस्तार पूर्वक वर्णन अध्याय आठ में किया गया है।

१. द्रव्यान्वयन द्वारा दोष।
ता निन्द्रा व्युत्पन्न विहार सम्बन्धीय व्यवहार विवरण। (च.पि. 19)
२. द्रव्यान्वयन द्वारा दोष व्युत्पन्न। (च.पि. 41)
३. द्रव्यान्वयन द्वारा दोष व्युत्पन्न। विहार विवरण। विहार विवरण। विहार विवरण। (च.पि. 110)
४. द्रव्यान्वयन दोष व्युत्पन्न।
विहार विवरण। विहार विवरण। (च.पि. 110)
५. द्रव्यान्वयन विवरण। विहार विवरण। (च.पि. 111)

तो पञ्चनिदान पूर्वक-पृथक् या समान फ्रॉम रोग का दृष्टि करने में सहायता होती है। राम्याशी प्रायः निर्वाण हो जाने पर रोगोंनाम दाने हैं तिसे विद्युत्या मूर्ग के द्रव्यों द्वारा विप्राप्ति करना ही चिकित्सा है।

रोगी परीक्षा

सर्वप्रथम रोगी परीक्षा कर तत्पश्चात् पूर्व वर्णन गति विवरण करनी चाहिए। गति विवरण के अनेक प्रकार से को जो सकती है जिनमें से रोगी विवरण के द्रव्यों पर निम्न विवरण है—

(अ) प्रमाण परीक्षा—इसके निम्न भेद हैं—

द्विविध परीक्षा—	(i) प्रत्यक्ष	(ii) अनुभव
त्रिविध परीक्षा—	(i) प्रत्यक्ष	(ii) अनुभव

चतुर्विध परीक्षा—	(i) प्रत्यक्ष	(ii) अनुभव
(iii) आकृतिविद्या	(iv) दृष्टि	

(ब) वास्तविक रोगी परीक्षा—इसके निम्न भेद हैं—

त्रिविध परीक्षा—	(i) दर्शन	(ii) स्पर्श
(iii) प्रश्न		

चतुर्विध परीक्षा—	(i) श्रीवेद्यिक्य परीक्षा	(ii) त्रिवेद्यिक्य परीक्षा
(iii) चतुर्थिक्य परीक्षा		
(v) छाणेद्यिक्य परीक्षा		

पञ्चविध परीक्षा—

(i) पञ्चविधिक्य परीक्षा	(ii) द्रव्य परीक्षा
(iii) चतुर्थविधिक्य परीक्षा	
(v) त्रिवेद्यिक्य परीक्षा	
(vii) दृष्टि परीक्षा (नेत्र परोक्षण)	(viii) आकृति परीक्षा

दशविध परीक्षा—	(i) प्रकृति परीक्षा	(ii) विकृति परीक्षा
(iii) सार परीक्षा	(iv) संहन परीक्षा	
(v) प्रश्न परीक्षा	(vi) सात्प्य परीक्षा	
(vii) सत्त्व परीक्षा	(viii) झाहार शर्ति परीक्षा	
(ix) व्यायाम शक्ति परीक्षा	(x) वय परीक्षा	

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान अनुसार रोगी परीक्षा—

(i) प्रश्न परीक्षा (Interrogation)
(ii) दर्शन परीक्षा (Inspection)
(iii) स्पर्शन परीक्षा (Palpation)
(iv) अनुलिताङ्ग (ठेपण) परीक्षा (Percussion)
(v) श्रवण परीक्षा (Auscultation)

प्रधाण परीक्षा

प्रमाण परीक्षा
रोग नियन के लिये दोषी परीक्षा एवं रोग परीक्षा के मार्ग ही ज्ञात हैं।
(Diagnosis) किया जाता है। इन दोनों परीक्षाओं वह आपार 'प्रमाण' है। जो कि उसे स्थापित परीक्षा को जाती है। इन प्रमाण परीक्षाओं में निम्न चार 'प्रमाण' हैं।

- (i) आधारित (Authoritative testimony)
 - (ii) प्रत्यक्ष (Direct observation)
 - (iii) अनुमान (Inference)
 - (iv) परीक्षा (Plan or experiment)

(iv) पुरुष वर्ग में कुछ परीक्षायें प्रत्यक्ष प्रमाण पर, कुछ अनुग्रह पर, कुछ आत्मप्रदेश प्रमाण पर एवं कुछ सुनिक प्रमाण पर आधारित हैं। किसी-फिर सौभाग्य में एकाधिक प्रमाण भी अपनी भूमिका निभाता है। यथा—

गोगी परीक्षा हेतु

- (i) असोपदेश-प्रश्न परीक्षा
 (ii) प्रत्यक्ष-दर्शन परीक्षा
 (iii) अनुभाव-स्वर्णन परीक्षा

रोग परीक्षा हेतु

(i) प्रत्यक्ष, अनुभाव, आसोपदेश→निदान
 (ii) प्रत्यक्ष, अनुभाव→पूर्वरूप
 (iii) प्रत्यक्ष→रूप
 (iv) दुष्कृति-दण्डशाय-अनुभाव
 (v) अनुभाव, आसोपदेश→सम्पादित

प्रत्यक्ष वह है, जिसे स्वयं हम अपनी इन्द्रियों अथवा मन द्वारा जात करते हैं। इन्द्रियों में प्रायः जल संसाध राहित होता है। रोगी परीक्षा में पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा कोई चलों परीक्षा प्रत्यक्ष प्राप्ति न की जापारित होती है। अन्यान्यों ने रसनैनिय्य के साथां प्रायः द्वारा परीक्षण को निश्चिह्न बताया है। आधुनिक युग में की जाने वाली क्ष किरण परीक्षण (X-Ray), मृदगारी परीक्षा (Microscopic tests), एंडोस्कोपी परीक्षण, डर्बर्का परीक्षण (Stethoscopic examination) आदि प्रत्यक्ष प्राप्ताण यह उल्घातित हैं। आपनी चिकित्सा विज्ञान में प्रत्यक्ष प्राप्ताण को सम्मानित करना चाहिए।

1. शायरी तु तमु नै वन् स्वर्णसिंहौ, पवाला सौभग्यपतंजः ॥

संस्कार प्रमाण परीक्षा

(ii) अनुमान विधि या सारणी का अनुमान लगाता रहता है जो संकेत लगाते हैं। जिसके द्वारा गत्य या मात्रता का अनुमान लगाता रहता है उसे अनुमान लगाते हैं। यह गत्क (Logic) एवं युक्ति (Plan) की प्रयोग से संबंधित वजह इसका है। अनुमान (Palpation), डंगुलिंगाइन (percussion), छन्न (Auscultation) एवं चम्पेश्वर अनुमान प्रमाण पर आधारित होता है। गत्कार्यक्रम का अनुमान इन सभी गत्कों से जैव वस्तु का अनुमान व्यव्यापकरणशक्ति से किया जाता है। उदाहरण- अनुमान विधि में अनुमान विधि की पुष्टि सारांश या असामान्य औपचारिक, अन्य एवं विधियों के बीचों में की जाती है।

(iii) आसांख्यपदेश प्रमाण परीक्षा

(iii) अन्यायिक विधि का उपयोग करके अपनी विद्युत विभाग को बदल देने का लक्ष्य रखते हुए आप पुरुषों (प्रिकालदर्शी, मन्त्रवाचक प्रधान वर्षांनि) ने अपने दैनिक जीवन में अपनी विधियों का अनुसर करने की जानकारी दी। इस पुरुष विधि का उपयोग करके अपनी विद्युत विभाग को बदल देने का लक्ष्य रखते हुए आप पुरुषों (प्रिकालदर्शी, मन्त्रवाचक प्रधान वर्षांनि) ने अपने दैनिक जीवन में अपनी विधियों का अनुसर करने की जानकारी दी। इस पुरुष विधि का उपयोग करके अपनी विद्युत विभाग को बदल देने का लक्ष्य रखते हुए आप पुरुषों (प्रिकालदर्शी, मन्त्रवाचक प्रधान वर्षांनि) ने अपने दैनिक जीवन में अपनी विधियों का अनुसर करने की जानकारी दी।

(iv) युक्ति परीक्षा

रोगी, रोग परीक्षा कर विभिन्न रोगियों को आदु, प्रकृति, गत, देश, वायर, आहर शाळ, व्याधाम शक्ति एवं अनिन इत्यादि भावों का विचार कर मुँह दूर्बल विकल्प सूची बनापन करने को ही युक्ति परीक्षण कहा जाता है।

(अ) वास्तविक रोगी परीक्षा

- (iii) प्रश्न परीक्षा— इसके अन्तर्गत निम्न तीन परीक्षाएँ लाभदायक होती हैं—

 - दर्शन परीक्षा (Inspection)
 - स्पर्शन परीक्षा (Palpation & Percussion)
 - प्रश्न परीक्षा (History & Interrogation)

(1) दर्शन परीक्षा—इस परीक्षा के द्वाय संतोष को स्पूतला, फ्रेशर, ज्वला, रोग तथा, रोगी बल, प्रकृति, छाया, खर्च, प्रबन्ध आदि का ज्ञान किया जाता है। इस परीक्षा में चक्षुरिक्षिय का साक्षात् प्रयोग होता है। आधुनिक युग में इन्स्प्रूच सूक्ष्मदर्शकोंवद्य (Microscope), शक्तिरण (X-Ray) एवं आमान्तरदर्श (Endoscopy) इत्यादि माध्यम की जाने आली परीक्षा 'दर्शन परीक्षा' के अन्तर्गत ही समाप्ति होती है।

- | | |
|---|-------------------|
| 1. अनुरां अनु तवये पुक्षपेषुः ॥ | (पदि 44) |
| 2. लानि-अनिं जतपत्रक्षया परीषेषु वर्णं अग्न्यनाम्बन्धं परीषेषु ॥ | (पदि 43) |
| 3. तवलोक्ये निरुक्तालोक्ये वर्णेण च ॥ | |
| 4. एवं विकाशवर्णं इन्द्रवर्णं भासा ॥ | |
| 5. आह रिह विषुद्धालो लेपं वापमयोहावन् । | |
| 6. सर्वं वस्त्रानि ते कृत्वा दासत्वं नीत्वा त्वानि ॥ | (पद्म 11/13, 19) |
| 7. द्वाराविनीतप्रवृत्तीं परीषेषु च देशिगम ॥ | (स्त्रीपु. 10/22) |
| 8. वर्णोदयान्त्रमालावायाः त्रित्रे प्रकृतिविवरीः प्रभुर्विवरणविवरीः वस्त्रान्तुकांति तति कम्पया परीषेषु ॥ | (पदि 42) |

काय-चिकित्सा

244

(II) स्पर्शन परीक्षा—चिकित्सक को स्पर्श हस्त के स्पर्श द्वारा प्रयत्न करना पड़ता है। स्पर्श परीक्षा द्वारा मृदु-कठिन, शीत-उष्ण, स्वस्त्र-अस्वस्त्र, भार्जों का ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त स्पर्शसाहचर्य (Hyperesthesia), सहल (Tenderness), और्जाड़, रोफ, रोध (Oedema), गम्भीर अर्द्ध (Tumor), आदि का ज्ञान भी इसके द्वारा ही होता है। इसके अन्तर्गत आधुनिक चिकित्सा (Pathology) एवं अंतुलिताइन (Percussion) परीक्षायें गयी हैं।

(III) प्रश्न परीक्षा—इस परीक्षा के अन्तर्गत सम्पूर्ण आतुर इतिवृत्त (Past Case History) विधियों को समाहित किया जाता है। प्रश्न परीक्षा से अनुभूति (Clinical Complaints with duration), पारिवारिक इतिवृत्त (Family History), वात-मृदु-पुरोप प्रृथिति-अप्रृथिति, व्याधि उत्पत्ति क्रान्त (History of present illness), अनियन्त, बोड़ प्रकार, निदा प्रकार, साम्बन्ध-असाम्बन्ध एवं कुलजन व्याधि इतिवृत्त जूत फिल जाता है। आतुर इतिवृत्त नोट करना एक कला है जिसके विधिपूर्वक नोट करने से हाथापां अल्प प्रतिक्रिया व्याधियों का रोग-विनियोग किया जा सकता है।

II) पञ्चविध एवं षड्विध परीक्षा

पञ्चविधनियों द्वारा को जाने वाली रोगी परीक्षा को ही पञ्चविध परीक्षा कहा जाता है। आवर्य मृदुत ने इसी पञ्चविध परीक्षा के साथ प्रश्न परीक्षा को बोड़कर परीक्षा द्वारा का वर्णन किया है। त्रिविध दर्शन (चक्षुरिक्षिय), स्पर्शन (त्परिक्षिय) एवं गत दर्शन का नामांकन भी इसी पञ्चविध परीक्षा में किया जाता है। दर्शन, स्पर्शन एवं गत परीक्षा का वर्णन पहले किया जा सकता है।

षट्विधनिय परीक्षा—बायामें बठाराइन के माध्यम से निल्टर गति एवं घृणा उत्तम होती रहती है। हृदय, कुस्तुस, आन्त्र, सभ्य आदि अवयवों में प्राकृत रूप से जीवी रूप छानि दर्शाते होते हैं। चैक्का अवस्था में सभ्य स्फुटन, आन्त्रकूरजन, दृष्टिवत राश, गति वय स्वर आदि व्यक्तियों उत्तम होती है।

सप्तविधनिय परीक्षा—एसेन्ट्रिय द्वारा की जाने वाली परीक्षा अप्रत्यक्षतः अनुभव इत्यमें पिर्दिलिका, मधिका, कोआ के माध्यम से की जाती है। यह परीक्षा न्युन, राईरित आवर्यों में की जाती है। आतुर के मुख के स्वाद का ज्ञान प्रश्न परीक्षा एवं घृणा से करने चाहिए।

1. भासी के वर्णन व्यूथिक्षियकृद्वारा। (च.पि. 47)
2. दर्शन-नियापरिवर्तन स्वास्थ्य की सम्पत्ति विवरण द्वारा स्वास्थ्यवर्त अवस्थार्थानि व्याप्तिकृत्यानि। (च.पि. 47)
3. व्याप्तिकृत व्याप्तिकृत विवरण। (सुनि. 124)
4. व्याप्तिकृत व्याप्तिकृत विवरण: प्रश्नेन वेत्ति। (सुनि. 124)
5. व्याप्तिकृत व्याप्तिकृत विवरण: व्याप्तिकृत विवरण एवं व्याप्तिकृत विवरण। (च.पि. 47)
6. व्याप्तिकृत व्याप्तिकृत विवरण। (च.पि. 47)

प्राणोद्धिय परीक्षा—प्राणोद्धिय परीक्षा में विविधक द्वारा भक्त अध्यात्म से रोगी वी प्राकृत-पौरुष गत्यों का ज्ञान किया जाता है। आवर्यों वे विभिन्न गत्यों में मधुमाल्यी, न्युएलामी, कुण्डप गत्यों, विल गत्यों, गृष्म गत्यों, लौहर्मी आदि विभिन्न वैकृत गत्यों का ज्ञान किया है।

III) अष्टविध परीक्षा

योगरलाकर में सर्वध्रव्यम अष्टविध परीक्षा का उल्लेख निलित है। इस परीक्षा में हीरी के आठ ओर्गेनों में व्याधि के परिणाम स्वरूप उत्तरप्रतिक्रियाएँ देखा जाता है। ये आठ ओर्गेन निम्न हैं—

- | | | |
|-------------------------|-------------------|-------------------|
| 1) नाड़ी परीक्षा | 2) नूत्र चर्योदय | 3) बल संरक्षण |
| 4) विहा परीक्षा | 5) रात्रि परीक्षा | 6) स्वर्त परीक्षा |
| 7) दृग् (नेत्र) परीक्षा | 8) आकृति परीक्षा | |
- रोगी के सामान्य स्वास्थ्य परीक्षण (Examination) एवं आतुर हान के तिथे यह परीक्षा यातुर उपयोगी है।

1) नाड़ी परीक्षा

नाड़ी परीक्षा का ज्ञान अनुभव, सतत अध्यात्म, तरस्ता एवं अनुनान वर अधिकृत है। इस में हस्ताकुल मूल स्थित चौंकाताक्षणी रक्तवह धन्तनों (Radial Artery) को चेष्टा द्वारा या गति से स्वास्थ्य, अस्वास्थ्य, दीप्ति स्थिति, आदि का ज्ञान करना चाहिए। चैक्का परीक्षा या गति से स्वास्थ्य, अस्वास्थ्य, दीप्ति स्थिति, आदि का ज्ञान करना चाहिए। नाड़ी परीक्षा अन्तर्गत गति (Rhythm), तात्त्व (Rhythm), घर्ति (Volume), दराव (Tension) एवं बल (Force) इन भावों को देखा जाता है। पुरुष के दक्षिण एवं लौटे के बाह्य हस्त वी नाड़ी देखने का निर्देश मिलता है। बायामें प्रकुपित होने वाले जल्हौका (Leech) तथा गर्ज (Snake) को गति के समान, पित्त के प्रकुपित होने वाले कुलिङ्क, काक तथा मण्डूक (Frog) की गति के समान तथा कफ प्रकुपित होने पर हंस या चारकत की गति के समान नाड़ी देखने को मिलती है।

1. नाड़ी वालु सर्वान्देशवान्गुरस्य व्यूथिक्षियकृद्वारा। (च.पि. 47)

2. छोड़ान्नापरिवर्तन स्वास्थ्य की निरीक्षणम्।

(च.पि. नाड़ी परीक्षा 1)

3. नाड़ी गृष्म गति निया रात्रि स्वर्ती दृग्कृतोः।

(च.पि. 47)

4. नाड़ी वालु विवरण।

(च.पि. 47)

5. नाड़ी वालु विवरण।

(च.पि. 47)

6. नाड़ी वालु विवरण।

(च.पि. 47)

7. नाड़ी वालु विवरण।

(च.पि. 47)

8. नाड़ी वालु विवरण।

(च.पि. 47)

काय-विकितस

246

२) मूत्र परीक्षा

आनुर के प्रातःकालीन मूत्र का विशेष परीक्षण करना चाहिये। गुरु पर्णमि ५, १७

शुद्ध बिन्दु है—

१) प्रवृत्ति या साम्बाता	२) धार	३) गंभीर
४) मात्रा	५) रस	६) गम्भीर
७) वर्ण	८) सरका	९) मधुमेह
१०) सरका	११) संशुक्र	१२) विलिन

'तैलबिन्दु परीक्षा'—आमुखेदीय विकृति विज्ञान परीक्षण में तैल बिन्दु परीक्षा के लिए एक उपर्युक्त स्थान है। इसमें रात्रि के अन्तिम प्रहर के मूत्र की मात्रा धार की कांप के रूप में व्यक्त किया जाता है। प्रातः सूर्योदय होने पर यह परीक्षा की जाती है। इसमें गर्भासूत्र (Specimen) में तूब की सामान्यता से हिल तैल के बिन्दु को गिराया जाता है, देख बिन्दु मूत्र में शोषण के लिए जाप तो रोगी साध्य, यदि नहीं कैले तो रोगी कर्मात्, कैल बिन्दु मूत्र तैल में बैठ जाप तो रोगी को असाध्य समझना चाहिये। तैल बिन्दु परीक्षा व डलर दिशा को और जाने पर रोगी शीघ्र आरोग्य प्राप्त करता है। तैल बिन्दु तैल परीक्षा व डलर दिशा को और ज्वर रोग समझना चाहिये। ईशान कोण (दिशा) में तैलबिन्दु के दूर दूर नास के अंदर रोगी को मृत्यु हो जाती है। अग्नि कोण, वायव्य व वैश्वन तैल में तैलबिन्दु जाने पर रोगी की मृत्यु निश्चित है।

ये परीक्षण उपर्युक्त, अवस्थाएँ, मूत्रकृच्छ्र, ज्वर, पाण्डु, आमवात, कामला, असं, अंतिरुजांड़ अंतिरुजांड़ में किये जाते हैं।

३) मल परीक्षा

ठप्पुक मूत्र परीक्षा के समान ही मल परीक्षा में समस्त विधियों का प्रयोग कर लायिए। पद्मा-मात्रा, प्रवृत्ति, संहनन, वर्ण, गम्भीर, सरका, संषूद्यता, स्फूर्ति, गम्भीर नियनन, मकरका आदि या परीक्षण किया जाता है। यह परीक्षण कामला, अंतिरुजांड़, ग्रन्तिहार, ग्राहणी दोष, जलोदार, राजवश्यमा, विवर्धन, विसूचिका, रक्तपिता आदि गोंद में किया जाता है।

४) जिहा परीक्षा

आ-हस्तेन्द्रि को विकृति में जिहा की परीक्षा मुख्य रूप से करने का विधान है। जिहा या रोग, अंतिरुजा, अंतिरुजांड़, गर्भी आदि में परिवर्तन देखा जाता है। अंतिरुजा वीं विधियों में आम विमान से जिहा मलत्वत् (Coated) होती है। जोर्ध्वं गिर्वं आ-हस्तेन्द्रि, असं, प्रहरी आदि रोगावस्था में जिहा मलावृत्त य साम होती है।

१) असं, अंतिरुजा
..... प्रहरी विमान।

(पृष्ठ १ पृष्ठांतः १०)

५) शब्द परीक्षा

शब्द से आनुर के स्वर का ग्रहण करना चाहिये। आ-हस्तेन्द्रि में शब्द, नित प्रकोप में तीव्र इलेक्ट्रो प्रकोप से गम्भीर व्यवहार का रूप हो जाता है। यह विवरण कम्पन, अंतिरुजा, प्राप्तिवात, स्वरभौंद, राजवश्यमा, अंतिरुजा, प्राप्ति गोंद में देखता जाता है।

६) स्पर्श परीक्षा

त्वचा को गज्जेन्द्रिय का आश्रय माना जाता है। यह प्रकोप के कारण गोंद व सूक्ष्मवर्ण, वित प्रकोप से ढाण या गोंदवर्ण एवं लंबेमा प्रकोप में विवाह व संकरन में त्वचा होती है। कामला, पाण्डु, कालाजाल, मधुमेह, दाइनेदालगांडुजाल, असं, वृक्ष विकार, यकृत विकार, अवसाद, फिरंग रोग, वातरक, कुप्र, रक्तपिता, कृष्णनांद आदि में त्वचा में बैंबर्यता आ जाती है।

७) नेत्र परीक्षा

नेत्र परीक्षण में रोग, रोफ, रक्तता आदि लक्षण देखना चाहिये। ये गोंदेन गोंदु, कामला, रक्तचाप, मधुमेह, वृक्षरोग, रक्तपिता, अवसाद आदि गोंदों में देखते जाते हैं।

८) आकृति परीक्षा

कृरा, स्थूल, सामान्य, अतिहस्य, अंति दोष, आदि बिन्दुओं के आपत्ति व आकृति कृरा, स्थूल, सामान्य, अतिहस्य, अंति दोष, आदि बिन्दुओं का वर्णन किया जा सकता है। 'आनुर बल प्रमाण' जानने के लिये व्याधिप विवरण भावों की परीक्षा करनी चाहिये, जो निन है—

I) प्रकृति परीक्षा	II) विकृति परीक्षा	III) गत परीक्षा
IV) संहनन परीक्षा	V) प्रमाण परीक्षा	VI) सात्यं परीक्षा
VII) सत्यं परीक्षा	VIII) आहार शक्ति परीक्षा	
IX) व्याधाम शक्ति परीक्षा	X) वय परीक्षा	

१) प्रकृति परीक्षा—गुरु-शोषिता के संयोग एवं उसमें जौवात्मा के प्रवेश होने पर धूप के शरीर में यातादि दोषों में से एक अथवा दो या अन्य किसी दोष का न्यूक्यापित्य हो जाना 'प्रकृति' है। इसी को ही मनोदैहिक (Psychosomatic Constitution) प्रकृति कहा जाता है। ये प्रकृतियों निन होती है—

1. ग्रन्तिः पोषेन प्रवृत्तिः, विकृतिः, गारात्मा, संहननत्वः, प्रमानत्वः, ग्रन्तिः, सरका, ग्रन्तिहारः, व्याधामानित्वः, व्याधामेत्यावृत्तिः परीक्षित्वात्त्वयः। (व. ४, ६४)
2. गुरुप्रोतिनि संयोगो दो प्रवृत्तिः; उल्लःः।

प्रकृतियों के नाम में लक्षण दृष्टः।

(पृष्ठ १ पृष्ठांतः १०)

(अ) ऐह प्रकृति-

पालां प्रकृति	पिताम् धर्मः
इत्येष्वलं प्रकृति	याम् विकारः
यथा इत्येष्वलं प्रकृति	पिता विकारः
समदोषं प्रकृति	
—पार्थिवं प्रकृति	आप्य द्रुगः
आननेयं प्रकृति	वायव्यं प्रकृति
नामसं प्रकृति	
सामाजिकं प्रकृति	सामाजि प्रकृति
तामसं प्रकृति	

एन दोष के ज्ञाधार पर प्रकृतियों का विभाजन निम्न है—

गुण देव	सर्वश्रेष्ठ
सत्त्वदेव प्रकृति	उत्तम
श्लेष्म प्रकृति	मध्यम
पित प्रकृति	हीन
वात प्रकृति	निन्य
द्वितोष्पत्र प्रकृति	

उपर्युक्त प्रकृतियों का निर्धारण संहिताओं में वर्णित उनके विभिन्न लक्षण द्वारा परिकल्पित जाता है। इस प्रकार "प्रकृति निर्धारण" करना स्वयंचूल, रोग विद्वान्, रुग्ण-व्यक्ति और निर्धारण, परमापरान् निर्धारण व अरिए जान में उपयोगी सिद्ध होता है।

III) सारा परीक्षा - "सारा" शब्द से तात्पर्य है-त्रसादि धातुओं को नियुक्त होना वा परीक्षा आगे बढ़ने प्रयत्न एवं वय जानने के लिये को जाती है। आद्वेद में इसका कहे निन मर वर्णित है—

- | | | |
|--------------------|------------|------------|
| • खक्क सार (खस्ता) | • रक्सार | • मांसतर |
| • बैदलार | • अस्थिसार | • मन्दालार |
| • शुद्धधूप | • मत्तमार | |

ए यांत्रे का दूर सीधोंक व्यापों के अन्तर से किस बांदो है।

४०५८: उत्तराखण्ड संस्कृतिकालः वर्षा।

“सर्वाः पश्यन्ति देहं विद्यते विद्यन्ते ॥

मा गाउँ दिल्लीमा जावाही ।

मात्रां चार्यं विद्युतिः ।

IV) संहनन योग्यता—योग्यता में तारार्थी मॉडल अद्वा घोषणात्मक में है। मॉडल योग्यता में आजुर और संतुलन एवं मंगदा (Physical Construction & Correctness) जो नियमित होता है। उत्तर मॉडल योग्यता अद्वा घोषणात्मक में है। हीन मॉडल याकृति संरचना एवं भव्यता के लिये उपलब्ध होता है। अगर यूटा ने ऐसे नियम बनाए ही—

ii) कृष्ण iii) विष्णु वराह
उपर्युक्त में स्थूल एवं कृष्ण दोनों देव निवृत हैं। अर्थात् स्थूल की अवधि कृष्ण वराह का निवृत है। प्रथम देव जो श्रेष्ठ कहा गया है। अतः प्रथम देव यह कर छात्रों की विकास निर्धारित की जाती है।

v) प्रमाण परवक्षा—प्रमाण परवक्षा वाले विद्युत-शक्ति के लिए अवधीन हो जाते हैं। विद्युत आयु के जल हेतु सार ऐसे प्रमाण परवक्षा को लिंगेन लिखा जाता है। यह इनमें अंगृहि मान से लेंगे का विधान है। यसके बाहर अन्यान्य धरणों का उल्लेख नहीं किया जाता है। विद्युत प्रमाण होने पर जल-आयु-ओडी-प्रैरिश में ही होने वा चलने लगता है।

vi) सातत्य पराक्रमा—जो आपसमें अन्न, अदान-विदान एवं दूसरी विधान में अनुकूल एवं तुषुकाकर हो जाता है उसे "सातत्य" कहते हैं। सातत्य को ही उच्चतम कहा जाता है तथा असातत्य को अनुपराष्ट कहा जाता है। "अंतिमान्यम्" अपर्यन्त ऐसे लाइट-बिहारी जो प्रकृति विशुद्ध होने पर भी सातत विधान में अनुकूलता अनुकूलता हो जाने के बासे-बाध, अफालम, चरस, गाँड़ा आदि। वस्तुतः ऐसे सातत्य जानने में औपर व्यवस्था, पण्डितव्य व्यालस्था का निर्धारण करने में आसानी हो जाती है। तो अंतिम निवारण मूल, फौर, चांसरस, फल आदि का संख्यन करता है वह वस्तुतः चौराजल व दीप्यनु होता है। यह सातत्य प्रवर, माय व अबर घैट से तीन प्रकार का होता है।

vii) सत्त्व परीक्षा—सत्त्व का तात्पर्य-बन रही है। यह भेद में सत्त्व दोनों पद्धतियों को होता है यथा—

- | i. | प्रवर सत्य | ii. | मध्यम सत्य | iii. | अवर सत्य |
|----|---|-----|------------|------|-------------------------|
| | आत्म/व्यक्ति यदि सत्य गुण प्राधान है तो उत्तम मनोवस्त, यदि रजोगुण प्रधान है तो मध्यम मनोवस्त याहां एवं यदि तमोगुण प्रधान है तो दुर्बल मनोवस्त यहां होता है। | | | | |
| 1. | संवर्गवस्त (परीक्षेत्र) वर्णित।
संवर्गने संवर्गीतः ("महात्म इति पाठान्तरम्") संवर्गवस्तविद्येत्तोऽस्मिन् ।
संवर्गिति विविडसन्ध्यानेतरथः ॥ | | | | (च.पि. ४/115 पर छट्टाच) |
| 2. | देवः शूष्मा, कृष्ण, यश, इति प्रायुषरितः ॥ | | | | (मु.म. 35/53) |
| 3. | प्रयत्नस्त्रीति हीरी प्रयामन् दुर्घायामवेदाद्युतिप्रयामवेदाद्येष्वको उत्तोषः विवरणादेवं वृत्त्वा ॥ | | | | (च.पि. ४/117) |
| 4. | सत्यम् एव तद् यदाकाशन्परमोऽस्मि ।
सत्यस्त्वं हि उपत्यकाः ॥ | | | | (च.पि. ४/20) |
| 5. | मात्रास्त्रोऽस्मि । लक्षणीयता तत्त्वात् अत्यनुभवितम् ॥ | | | | (च.पि. ४/119) |

viii) आहार शक्ति परीक्षा—आहार शक्ति से आहुर की आयु है। आचार्य चरक के अनुसार आहार शक्ति की परीक्षा, भोजन करने से वो जलन शक्ति (जलन शक्ति) तथा भोजन वज्र जाने की क्षमता (जरण शक्ति) से की जाती है। बहु अहार पर ही निपार है। आहुर किस प्रणाल में आहुर इसकी परीक्षा उस रोगी के अधिक्षत (Digestive Power) को प्रदान करता है। यह व अब आहार शक्ति संज्ञाये जाती है। इसकी परीक्षा उस रोगी के अधिक्षत (Digestive Power) को प्रदान करता है। यह व अब आहार शक्ति संज्ञाये जाती है।

x) व्यायाम शक्ति परीक्षा—आहुर के व्यायाम शक्ति की वज्र व अवश्यक है। व्यक्ति के कर्म या आयास करने की शक्ति को व्यायाम शक्ति कहता है। इससे शरीर बल का अनुमान होता है। प्रब्रह्म व्यायाम शक्ति में लोकशब्द और व्यायाम शक्ति में मध्यवीर्य औपच व अब व्यायाम शक्ति वाले में मृदुवीर्य औपच करना चाहिये।

x) वय परीक्षा—वय, अवस्था, उम्र या आयु ये सभी समाज और वर्कल के प्रणाल की अपेक्षाएँ राखीर की निज-भिन्न अवस्थायें अथवा काल-काल की अवस्था विशेष को वय (Age) कहते हैं।

वय (आयु) के मुख्यतः निन्ज तीन भेद किये गये हैं—

- वाल्यावस्था-जन्म से 30 वर्ष तक
- मध्यावस्था-30 से 60 वर्ष तक
- बीर्वावस्था (बृद्धावस्था)-61 से 100 वर्ष तक

बहूपावस्था में श्लेष्या, मध्यमावस्था में पित्त एवं बृद्धावस्था में वात-दोष प्रावृत्त्य रहता है। आचार्य शार्क्खधर ने कहा है कि मनुष्य अपनी वय के प्रत्यक्ष दण्ड जीवन के कुछ विशेष अंश (वया वाल्य, बृद्धि, छवि, मेधा, त्वक्, दृष्टि, शुज, विचुदि, कर्मनिधि इत्यरात्रः) का हास करता है।

अतः वय परीक्षा का मुख्य उद्देश्य रोग के कारणभूत दोष का हास करना अनुसार औपच अवस्था, मात्रा निर्धारण एवं पथ्यापव्य निर्धारण करना है।

०००

- मदार्थक्षमता आहाराद्विषयक्षमता वायराक्षमता वायराक्षमता वायराक्षमता। (च.५।१३)
- मध्यमावस्था व्यवस्थाहीनीकरणशक्ति परीक्षा। कर्मशक्तिकुण्ठीपत्रो वायराक्षमता। (च.५।१४)
- वाल्यावस्था वायराक्षमतीयो विशेषज्ञानवायरा वायराक्षमतीयो। (च.५।१५)
- वाल्यावस्था विशेषज्ञानवायरा वायराक्षमतीयो। तद वये वया-मध्यावस्था विशेष-वायरा, मध्य- वायराक्षमता। (च.५।१६)
- वये विशेषी व्यवस्था वायराक्षमता विशेष तु। भूषणवायराक्षमता वायराक्षमता। (च.५।१७)
- वये वृद्धि-वर्कल विशेष व्यवस्था। तुदि: कर्मनिधि वेत्त जीवित दत्तते इत्यु। (च.५।१८।१९)

एकादश अष्टाय

आम दोष विवेचन

आमोत्पत्ति

आयुर्वेदीय चिकित्सा के निम्न दो प्रमुख क्रम हैं—

- शोधन चिकित्सा
- शमन चिकित्सा

क्रुपित दोष-धातु-मलों के शोधन के पश्चात् शमन चिकित्सा का प्रयोग सम्भव है तथा रोग निर्मूल हो जाता है और उसके बावजूद तुनः उत्पन्न होने का धूप जल रहता है। दोषों का शोधन न कर केवल मात्र शमन कर देने से यथा समय अनुदृत अवसर पाक दोष पुनः प्रकुपित होकर रोग को पुनः उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। उत्पन्न ने अन्न दोष की उत्पत्ति होने पर सर्वप्रथम दोषों का लंबन और शमन कर उत्पन्न दोषों का संशोधन करवाते हैं। अतः आयुर्वेदीय कार्याचारिकत्वक को सामनेन्द्रिय वा ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। "साम" शब्द का अर्थ है "ज्ञान साहृदार" और ज्ञान शब्द का अर्थ है "आम रहित"। दोष एवं दूष्य वज्र आन से संबंध रखते हैं तो उन्हें "साम" कहते हैं। "साम दोष" और "साम दूष्य" रोगोन्दादक होते हैं। अतः इनमें उत्पन्न व्याधियों में इनके विशेष लक्षण उत्पन्न होते हैं। ये लक्षण हो रोग को सामावस्था के चरिचायक होते हैं। आयुर्वेदीय सिद्धांतों के अनुकार व्याधि के जन हन सब की चिह्निता नहीं की जाती है, बल्कि व्याधि के घटक भावों (स्वास्थ्य घटक) वया-दोष, दूष, स्रोतस, स्नोतोदृष्टि लक्षण, आम, औज तथा आशय की अंगांश क्षमता पूर्वक चिकित्सा करके धातु साम्य एवं प्रकृति-स्थापन का कार्य सम्पादित किया जाता है। आयुर्वेदीय संहिताओं में पाचक पित्त एवं अग्नि व्याधि का विस्तृत वर्णन उल्लिख्य है। अग्नि द्वारा पित्त दोषों ही तैजस महाभूत से निर्मित होने तथा सहधनों होने से एकलूपता प्रदायांत करते हैं। पाचक पित्त आपाशय तथा पक्षवशय के प्रध में अवस्थित रहकर क्लोक कफ तथा

- पीड़न शमन वेति समातात्तीर्थ द्विषा। (च.४।१२५)
- दोषः कदाचित् कुप्यनि विता दाहृनपावै। वै तु संरोधीः गुदः न देवं तुलस्यम्। (च.४।१६।२०)
- अलर्गिक्षमता विशेष-हातुन् उत्पाद्यवलीवरप्। (च.४।३४।५०)
- आपेन तैव समुद्रा (संयुक्त) दोष दूष्यम् शृण्दितः। तापा इन्द्रियादित्वे देव देवात्मुद्दितः॥ (च.४।४।१३।२७)

समान-योग की सहायता से प्राप्त किए गए अप्राप्ति को प्राप्त कर लिंग-पिण्ड करके उसे इस योग्य बना देता है कि यह सूक्ष्म संसार में विशेष (Arteries & Veins) य रसायनियों (Lymphatics) द्वारा गुणीकृत हो सके। लक्षणात् पित्त ही आहार रस को धोय-रस-रक्त-घुण-पूर्ण विभक्त कर देता है। इस अविक्षिक का कार्य "जठर" द्वेष में होने से ही "जठराशुभ्र" कहते हैं। इसे को "अन्तराशिन" या "कायाशि" भी कहा जाता है। यद्यपि यह पश्चात्यनुचक है तथापि इसमें तेज महाभूत का प्राप्तान्य होने से जल तत्व सही रूप विशेष द्रवत्व इसमें उत्पन्न नहीं करता।

आचार्य चरक के अनुसार शोर का सम्पूर्ण अग्नि व्यापार त्रयोदश प्रकार वा अष्टम
दर आधारित है, यथा- एक जटराग्नि, सात धात्वाग्नियाँ एवं पञ्चभूताग्नियाँ। यन्में दू
जठराग्नि सबसे महत्वपूर्ण है। जटराग्नि दूसरी अग्नियों की नियमिक एवं उत्तम है।
बढ़ाग्नि को स्वास्थ्यावस्था स्वास्थ्य की सूचक एवं विषमावस्था विभिन्न रोगों को इन्द्रि
यों के है।

अप्रैल २०१५

आपुर्वद में तेरह प्रकार की अग्रिमी वर्गित हैं— एक जातराग्रि (जातराग्रि द्वारा), सौंभ भत्ताग्रियाँ तथा सात धात्वग्रियाँ, जो निम्न रूप हैं—

३५

- | | | | |
|----|------------|---|---|
| 1. | बाठराशि | - | 1 |
| 2. | भूतशिवाँ | - | 5 |
| 3. | धात्वशिवाँ | - | 7 |

1. जठरागि (चतुर्विंश अग्रिवल)

- (i) सम— त्रिदोष की साम्यावस्था में
 - (ii) विषय— बात दोष की प्रकोपावस्था में
 - (iii) तीहड़— पित दोष की प्रकोपावस्था में
 - (iv) मरु— कफ दोष की प्रकोपावस्था में

2. 異地

- (i) भौम— पृथ्वी तत्व की अधिकता में
 - (ii) आप्य— जल तत्व की अधिकता में
 - (iii) आवेष्य— अग्नि तत्व की अधिकता में
 - (iv) वायव्य— धनुष तत्व की अधिकता में
 - (v) आकाश— अंदराश तत्व की अधिकता में

1. देवदूर राज्यानि गिरीषं प्राप्तमास्तु अर्थं संक्षिप्ता ॥ (पृष्ठ १०१)
 2. श्रीमत एवं महाराजा राज्यानि का : । त्रिलोकानि विश्वामित्र एवं विश्वामित्रानि ॥ (पृष्ठ १०१)

पात्वाग्रि

- (i) रसायनि— आद्य रम पानु की अट्ठि
 - (ii) रसायनि— रक पानु की अट्ठि
 - (iii) मांसायनि— पांस पानु की अट्ठि
 - (iv) मेंदोऽयनि— मेंद पानु की अट्ठि
 - (v) अस्थयायनि— अस्थि पानु की अट्ठि
 - (vi) मजायनि— मजा धानु की अट्ठि
 - (vii) शुक्रायनि— शुक्र दधि अर्तव धू की अट्ठि

भूतात्मिकों का प्रधान फार्मेसी पक्ष है। इह किंवदन्ति वर्षों से दृष्टि जगत्तमें विभक्त कर रखे पाचन योग्य बलाना की भूतात्मिकों का उपयोग होता है। यह बलान की पात्वात्मिकों शरीर में अवस्थित कौशलों के लिए नए लक्षण बनता है। इस फलस्वरूप यह यात्राय से शरीर में चयापचय (Metabolism \rightarrow Anabolism + Catabolism), जो उत्तराधिक सम्पन्निति की जाती है वितरित शरीर का योग्य होकर विकल्प होता है। योग्य भूतात्मिकों द्वारा धात्वात्मिकों जटात्मिक के नियंत्रण में रुक्फर अपने कार्यों को सम्पन्नता बनती है।

भाषा-परिभाषा

उपर्युक्त तौरेह प्रकार की अंगिणीों के चतुर्विंध बल कहे गये हैं। यथा- समानि, विषणाग्रि, तीर्थणाग्रि, मन्दाग्रि। इसमें भी मन्दाग्रि का विवेद्य भवत्व है, क्लोइं मंदाग्रि से ही समस्त गोर्खों को उत्पत्ति होती है। मन्दाग्रि से गङ्गा व जलव अज्ञान उत्पन्न होते हैं जो मूल से सूक्ष्म सबकोशिकीय (Subcellular) स्तर तक प्रभवते होते हुए विकृति उत्पन्न करते हैं। मंदाग्रि एवं अज्ञान के कारण शरीर में अनेक अवास्थाएँ-अनन्त पदार्थ बनकर शरीर में संबंधित होने लगती है जिन्हें “आम दोष” कहते हैं। उत्पत्ति तथा धार्वत्व की दुर्बलता से अन्त तथा आघ रस धातु का परिचक नहीं होते ये जो अनक या आन रस (माफ़क अन्त रस एवं अपक रस धातु) उत्पन्न होता है उसे “आम” संहार दी जाती है।

प्रथम-प्रथम आप प्रकार जटाग्नि की दुर्बलता से अवस्थाक में आनावायगत होता है।

द्वितीय- द्वितीय आन प्रकार धात्वग्नि को दुर्बलता से रस-रक्तदि धातुओं के पाक में

- | | | |
|----|--|----------------|
| १. | ऐसा लर्जेंटि मन्देश्वरी सुतापुण्डितामि हु।
अवीर्यवहिनीकार्योपचारे महात्माबद्धात् ॥ | (अ.इ.रि. 12/1) |
| २. | ० आयेन हेतु मध्यका दोषा दृष्ट्याच दृष्ट्याः ।
स्वस्त्र इत्युपरिदेवयतो ये च उत्तरापुण्डिताः ॥ | (अ.इ.म. 13/27) |
| | ✓ यज्ञप्राप्त दीर्घिपात्रविकल्पे थे रहः ।
भ आपातंत्रको देहे गांडेश्वरप्रकाशेणः ॥ | (मध्यांश) |
| | ✓ दुष्प्राप्तीः, स दुष्प्राप्तं न तद् प्रकाशं लक्षणमि ।
अवस्थान्त ग्राहता यस्यां विषयाप्तन् ॥ | (च.पि. 15/44) |

तुलीय— एकोष आम प्रकार अतिमात्रा में दूषित दोषों के एक साथ होता है। जैसे कोद्रव धात्व के ओर दान का सेवन करने से यिग जैसे लशण भूज से होता है।

अग्नि-विभिन्न अवस्थाएँ

अग्नि की शरीर क्रियात्मक विभिन्न अवस्थायें प्रदर्शक तांत्रिक

क्र.सं.	अग्नि की अवस्था	दोष स्थिति	परिणाम	उदाहरण
1	मंदाग्नि	कफ प्रकोप	कफज रोग	रस, पांस, घूंस, नख और मूत्र, पुरीबन रोग।
2	तोसाग्नि	पित्त प्रकोप	पित्तज रोग	रक्तज रोग, ख्याल (त्वचाग्नि) रोग
3	विषमाग्नि	वात प्रकोप	वातज रोग	आस्था-सांघिक रुक्ष
4	समाग्नि	दोष सम्पत्ता	स्वास्थ्य	स्वस्थावस्था

आम अपहा व अपानिवित पदार्थ होते हैं और इनके अणु (Molecule) सम्पूर्ण चापानिवित द्रव्यों को तुलना में बड़े होते हैं। अतः ये शरीर के सूक्ष्म स्रोतों में प्रकृति संकलित नहीं हो पाते और विभिन्न स्रोतों पर खोदोरोध उत्पन्न करके रोगोत्पत्ति में महाव होते हैं, ये स्तर निम्न चार तरह के होते हैं—

1. जटाग्नि गाक के स्तर पर आमोत्पत्ति
2. भात्याग्नि के स्तर पर आमोत्पत्ति
3. भूताग्नि के स्तर पर आमोत्पत्ति
4. पावकांश के स्तर पर आमोत्पत्ति

ये आम अज्ञ, आम रस, आम धातु सभी "आम" कहलाते हैं। ये आम द्रव्य होंगे में एक प्रकार के दूषी विष (Autoantigen) के रूप में प्रभावी होकर विभिन्न अवस्था दोष (Autoimmune disorders) एवं अनुरूपा (Allergies) उत्पन्न करते हैं। इस अधिक से ज्ञान में अनेक प्रकार के प्रतिरोधी तत्व (Antibodies) उत्पन्न होते हैं जैसे आमवात जैवी जौन अवान व्याधियाँ उत्पन्न करते हैं। सूत्र रूप में ऐसा समझ सकते हैं कि सभी अकार के आन दोष शरीर में दूषी विष (Autoantigen) की तरफ कार्य करते हैं।

- अधिकार्यानुसार अनुरूपा अवान व्याधियाँ जैसा विष होता है। (अ.स. द. 13-25)
1. अनुरूपा व्याधियाँ जैसा विष होता है। अतः आमापानुरूपा, या आम ही होता है। (अ.स. द. 13-26)
2. अनुरूपा व्याधियाँ जैसा विष होता है। अतः आमापानुरूपा, या आम ही होता है। (अ.स. द. 13-27)
3. अनुरूपा व्याधियाँ जैसा विष होता है। अतः आमापानुरूपा, या आम ही होता है। (अ.स. द. 13-28)

अग्नि (आम) विष

आग्नार्य चरक ने अपीचित अग्नि को आग्निग्रह कहा है। यह अर्द्धनिर रित दोष, धातु या मल से सम्बद्ध होता है उसी के अनुग्राम लभान्ते की प्राप्त करता है। उमे-धातु के साथ संयुक्त होने पर यात्र रोगों को, पित्त के साथ संयुक्त होने पर दात, दृढ़, अन्तर्वित, मुखरोग एवं अन्य वित्त रोगों को उत्पन्न करता है। तब यह अग्नि विष दूषनर्ग में जाता है तापकथाम आदि काफज रोगों को उत्पन्न करता है। तब यह अग्नि विष दूषनर्ग में जाता है तो मूत्र रोगों को, मल के साथ मिलकर अनेक उत्तर से ज्वर तथा स्वादि धातुओं से मिलकर रसादि धातु गत रोगों को उत्पन्न करता है।

आमदोष (अग्निविष) के हेतु

निम्न हेतुओं के सेवन से मन्द हुई आडगांग्रे अन्य व लघु धोजन की दवा वहाँ नहीं लग्व वह अपीचित-अपानुरूप अग्नि विष रूप हो जाता है, ये हेतु निन्म हैं—

1. आहार जन्य हेतु
 - (i) अभोजन
 - (ii) अवोन्यन
 - (iii) अंत धोजन
 - (iv) विषमासन
 - (v) अलात्म्य व विलक्षण
 - (vi) गुरु-शीत-अतिरुक्ष व दूषित धोजन
2. विहार जन्य हेतु
 - (i) अधारार्थी वेगो (मल-मूत्र) का पान
 - (ii) दिवाशयन
 - (iii) आलस्य
3. अद्यचार जन्य हेतु
 - (i) वर्मन के विषम से
 - (ii) विरेन के विषम से
 - (iii) शेष पान के विषम से

(अ.स. 1544)

1. अवस्थावं तुक्तयं व्यावर्त विषलग्नाम्।
2. संपूर्णपात्रं पित्तेन दाहे एन्वं युचान्त्यन्।
जलस्याप्तवित च वित्तनाप्तल गदन्॥
3. परस्तीनमेहदीन् कफजात कफ महात्।
करोति वातांसुपूर्व वातांसु गदन् वहृ॥
4. मूर्खोन्याद्य यूरेच पुरिष्ठेन गदन्।
5. रातीर्दिप्ति वीर्ये युवोदीनां रातीर्दिप्ति।

(अ.स. 1547-49)

6. अन्तेवादनोत्तीर्णोत्तीर्णविषलग्नाम्।
7. अग्नाप्तुष्टोत्तीर्णविषलग्नाम्।
8. विषेववरपित्तविषलग्नाम्।
9. दैत्यवल्लविषलग्नाम्।

(अ.स. 1542, 43)

4. अन्य हैं—
 - (i) देश-कला की विषमता
 - (ii) जूँ की विषमता (होन, अति एवं मिथ्या रोग)
- अन्यथा से उत्पन्न लक्षण
- अन्यथा में निम्न लक्षण होते हैं—
1. पस्तीभूम्य (Stasis of faecal matter)
 2. अंगों में रक्तबंध (Stiffness)
 3. यांत्रिक (Fatigue)
 4. गिऱहू (Headache)
 5. फूर्हा (Fainting)
 6. भूंक (Vertigo)
 7. बूँद व कटि दर्द (Backache)
 8. नृत्या (Yawning)
 9. अंगनद (Malaise)
 10. तृप्ति (Thirst)
 11. ज्वर (Fever)
 12. डर्ट (Nausea & Vomiting)
 13. ड्रेस्मस (Tenesmus)
 14. अनोखक (Anorexia)
 15. आदिग (Indigestion)

यह अन्यथा रौप्रयाकरण से या चिकित्सा में विरुद्ध होने से प्रत्यासुरी होता है। इसके लिए आम कर की गयी वृष्णि चिकित्सा विष विरुद्ध होती है और विष की अन्य रक्तबंध की गयी शोषण चिकित्सा आम विरुद्ध होती है।

आधुनिक मतानुसार आमदारी

आम के मुख्य पटक इन्होंने कार्बोहाइड्रेट (शर्करा), प्रोटीन (मांस तत्व), या (योह) जटि का दरवारिंग, धातुविद्या व भूताग्रि द्वारा पाचन होकर अन्न में एक-एड दरवार के रूप में परिवर्तन होता है ऐसे-जरवाग्रि द्वारा प्रोटीन का अमीनो अम्ल के रूप में तथा धातुविद्या द्वारा धूरिया के रूप में परिवर्तन होता है।

1. यज्ञ विद्युतीयीन विकास, गर्व तथा।
विषय वृक्ष व पूर्ण व भूषा, वृहत्तिवृक्ष।
वृष्णि-वृद्धि-द्रव्य व जलवर्षी, जलवर्ष।
जलवर्षी-वृद्धि-द्रव्य, वृद्धि-वृद्धि व वृद्धि।
2. विषय-वृद्धि-द्रव्य-वृद्धि-वृद्धि-वृद्धि-वृद्धि।
वृद्धि-वृद्धि-वृद्धि-वृद्धि-वृद्धि।
विषय-वृद्धि-वृद्धि-वृद्धि-वृद्धि।

(प्राची. 1545-46)

(प्राची. 8-13, 14)

कार्बोहाइड्रेट राशा यांत्रा का अन्न में कार्बोहाइड्रेट व कर्ज के रूप में परिवर्तन होता है जो निम्न प्रकार है—

जटाग्रि क्रिया	प्रार्ग्राम क्रिया
1 gm Carbohydrate	Glucose
1 gm Protein	Amino Acid
1 gm Fat	Fatty Acids & Glycerol
	$\text{CO}_2 + \text{H}_2\text{O} + 4 \text{ Calory}$
	$\text{Urea} + 4.1 \text{ Calory}$
	$\text{CO}_2 + \text{H}_2\text{O} + 9.4 \text{ Calory}$

मन्दाग्रि की अवस्था में अंतिम उत्पन्न न बनकर इन्टरमीडिएट प्रोडक्ट (Intermediate Products) के रूप में क्रमसः Lactic acid, Uric acid, Ketone bodies बनते हैं। जब इन मध्यवर्ती उत्पादों का शरीर में सामान्य रूप से अधिक बनकर हो जाता है तब उत्पन्नम् बातरक एवं मधुमेह जलूश विधिय नियंत्रण की उत्पत्ति हो जाती है। यह अध्यवर्ती उत्पन्न Lactic acid, Uric acid, Ketone Bodies आम दोष ज्वर हो दक्षिण्य है, इनका ज्वर तक रातों से निर्देश (संरोगन) नहीं होता है तब तक उत्पन्नम् स्वल्प है, मधुमेह इत्यादि रोगों का भी समन नहीं होता है। आम संज्ञा विधिय अद्यों वे उत्पन्न होती है यथा—

1. जटाग्रि को दुर्बलता से आड़ा, का अन्न रस 'ज्वर' है।
2. अविद्याचित प्रथम धातु (रस) रूप ज्वन।
3. अविद्यक, असंयुक्त, दुर्गम्भित, वहुनिर्वचन ज्वन।
4. भूत संचय रूप आम।
5. दोष दुष्टि रूप आम।
6. रस-रक्तादि धातु रूप आम।

उपर्युक्त प्रकार से आम संज्ञा विधिय रोगों के लिए उत्पन्न होती है। न्युम शरीर में निरंतर बलने वाले अवस्थापाक, धातुपाक, मत्तवाक को इकाय में अनुकूलांश से उत्पन्न होने वाले अपकूल अवरस, अत्र विष, अपकूल पुराप, अपकूल नृत्र, अपकूल रसादि धातुएँ तथा धातु ज्वन भूत- ये सभी आम होते हैं।

विधिय आमज रोग

आचार्य यामभृत के कथन "रोगः सर्वेऽपि भन्देऽप्तो" के अनुसार तभी रोग विद्युत्रि से उत्पन्न होते हैं। ये रोग सभी सूक्ष्म व सूक्ष्म सूक्ष्म से उत्पन्न होते हैं। अतः आम से उत्पन्न रोगों को 'आमज रोग' कहा जाता है। कुछ प्रकृत्या आम दोष ज्वन रोग उत्पन्नम् स्वल्प निम्न अनुसार वर्णित हैं—

1. जटाग्रि के कारण उत्पन्न आम से उत्पन्न रोग

अलसीभूत आम से — अलसक

उर्ध्व व अधि प्रवृत्त आम से — विमुचिका

द्रव बहुत आम से — अतिसार

वित्तिभूत आम से — वित्तिभूत
कर प्रधानता से — आपात्मीय या प्रवाहिका
दित प्रधानता से — विद्यमानीय, अस्थगित या भस्मान रोग
बात प्रधानता से — विद्यमानीय या ग्रहणी दोष

रोग रन से — रसदोषयोर्ध्वं
2. धूताग्नि के कारण उत्पन्न आम से उत्पन्न रोग

रस प्रदोषक विकार, रक्त प्रदोषक विकार, मांस प्रदोषक विकार, गेद प्रदोषक विकार, अस्त्र इटोषक विकार, भजा प्रदोषक विकार, शुक्र प्रदोषक विकार

इनमें नमुनेह, अति स्वैत्य, आमवात, ज्वर, शास रोग, रोध रोग आदि प्रमुख होते हैं।

3. भूताग्नि के कारण उत्पन्न आम से उत्पन्न रोग

मकृत वन्य रोग, आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के चयापचय जन्य विकार (Metabolic Disorders) भी इन्हीं आमज रोगों में सम्मिलित किये जा सकते हैं।

सामता व निरामता का विवेचन

अच्छ अब रस को 'आमदोष' कहा जाता है। इससे पित्रित दोष व रोग ग्रन्थ, 'सूज दंप' व 'सूज रोग' कहे जाते हैं। जैसे-साम वात, साम पितृ, साम शैत्या, साम ज्वर, सामज आमवात, सामज ग्रहणी दोष-आदि।

इनके विवरण आमविष से रहित दोष व रोग क्रमशः निराम दोष व निराम दुःख कहे जाते हैं। जैसे-निराम वात, निराम पितृ, निराम शैत्या, निराम ज्वर, निराम अन्तवत् आदि। यहीं दोष से दात्यर्थ दोष-पात्र-मल दीनों से है।

साम-निराम दोष के लक्षण

आचार्य बाघट ने दोषों के साम-निराम लक्षणों का वर्णन निम्न रूप में किया है—

साम दोष लक्षण

- | | |
|---|----------------------------|
| (i) सौंदर्यग्रस्त | (ii) बलप्रभंश |
| (iii) गरीर गौरव | (iv) यातु का प्रतिलोम होता |
| (v) आलस्य | (vi) अपचय |
| (vii) निर्द्वावन (बार-बार घूकने की प्रवृत्ति) | |
| (viii) यत्नसंह्रु | (ix) अरुचि |
| (x) कलम | |

1. संवर्णेण वापावाह लौक्यानुभूतः।
अन्तर्वर्त्तनान्तर्वर्त्तनावृत्तिविकला।
त्रिवृत्तमन्तर्वर्त्तनावृत्तिविकला॥

(अ.ए.ग. 13/23-24)

आम दोष लक्षण

- | | |
|------------------------------|-----------------------------------|
| (i) ग्लोतसीं का प्राकृत रहना | (ii) चन चुद्दि |
| (iii) शरीर समुत्ता | (iv) यातु का अनुलोभन |
| (v) सूर्पि | (vi) अरु यज गृहन |
| (vii) भोजन में रुचि | (viii) निराम न होना (जोड़ चुद्दि) |
| (ix) थकायट या आलस्य न होना। | |

साम-निराम रोग के लक्षण

आम दोष व दूर्यों से दृश्य होने वाले रोग "सूज रोग" कहे जाते हैं। इन दोष व दूर्यों से रहित रोग 'निराम रोग' कहे जाते हैं। आचार्य बाघट ने दूर्यों के अध्यय संख्या 13 में इनके लक्षण निम्न प्रकार वर्णित किए हैं—

साम रोग लक्षण

- | | |
|---------------|------------------------|
| आलस्य | निराम रोग लक्षण |
| तन्द्रा | आलस्य न होना |
| आल्य वैरस्य | शरीर में लम्फा |
| अरुचि | अज में रुचि |
| घबराहट/वैरचनी | मन व इंद्रिय प्रसन्नता |
| कलम | यातु का अनुलोभन होना |
| | अशिक्षाद्य |

साम व निराम विदोष के लक्षण

आचार्य बाघट ने सूत्र स्थान के 13वें अध्याय में साम व निराम विदोषों के निम्न लक्षण बताये हैं—

1. (अ) साम यातु लक्षण

- | | |
|--|----------------------------|
| (i) सौतसीं का विवर्य रहना | (ii) अन्तर्काट (अंतिनांध) |
| (iii) तन्द्रा | (iv) आलस्य |
| (v) आध्यान | (vi) कटि व चार्द में बेदना |
| (vii) शोषण व तोद | (viii) धोहन से सफाय चुद्दि |
| (ix) सूर्योदय, सेषोदय एवं रात्रि में सकाय चुद्दि | |

2. 'आपेन तैत्ति प्रथमा दोषा दृष्ट्यात् दृषितः।'

सप्ता अनुपादिवर्तने वे च दोषस्तद्द्वयाः ॥

2. 'यातु वसी विवर्याद्विवादाद्वापात्प्रवृत्तैः।'

मेदवारोपनिवैदैः; ऋचात्तेऽप्राप्नि रोद्यन् ॥

विशेष गुणव्याप्ति त्रुह्णिति कुपिलो भूषणः ॥

मेदवारोपनिवैदैः; भूषणेषोदये निति ॥

(अ.ए.ग. 13/27)

(अ.ए.ग. 13/53-54)

- | | |
|---|---------------------------------------|
| (v) विश्वामीय संस्कृत | (ii) सोनो शुद्धि गहन |
| (i) विश्वामीय | (iv) लिंगाध इव्वों में दोनों या तीनों |
| (iii) जल्द देना होना | |
| (v) लवचा का स्थान व रासायन बर्न होना | |
| 2. (a) सामान्य पितृ लक्षण ⁴ | |
| (i) दुर्बल्य दुख | (ii) हरित या श्यालवर्ण |
| (iii) अस्त्र ससी | (iv) घन स्वरूप |
| (v) स्थिर | (vi) गुरु |
| (vii) अमारपितृ | (viii) अम्लोदग्गार कारक |
| (ix) हृदय व कण्ठ में दाह कारक | |
| (a) निराप पितृ लक्षण ⁴ | |
| (i) ताप व पोंग वर्ष | (ii) कटु रस |
| (iii) अनुष्टुप्पा | (iv) अस्थिर |
| (v) राधिवर्षक | (vi) अधिवर्षक व चलाद |
| (vii) लोप्य | (viii) दुर्बल्य रहित |
| 3. (a) सामान्य इत्येष्वा लक्षण ⁴ | |
| (i) अस्वस्थ (आवित) | (ii) तनुमान |
| (iii) त्वचन (ताद) | (iv) विच्छित |
| (v) कण्ठप्रदेश में विस्फङ्गने परता | (vi) क्षुधानाशक |
| (vii) दण्डानाशक | |
| (b) निराप इत्येष्वा लक्षण ⁴ | |
| (i) फैलवान् | (ii) पिण्डित |
| (iii) विश्व | (iv) गांडु वर्ष |
| (v) दुख वर्ष | (vi) मधुर रस |
| (vii) दुर्बल्य गीव | (viii) मुख शुद्धि कारक |

- | | | |
|----|---|------------------|
| 1. | गिरोही विलासीं ॥ विलासीं ॥ | (भा.ज्ञा.सि. 15) |
| 2. | दुर्लभ इति गवे विवरणे परा गुरु ॥
वल्लीनीवल्लीनी गवे विवरणे ॥ | (अ.स.सृ. 2012) |
| 3. | वल्लीनीवल्लीनी गवे विवरणे ॥ परे विवरणे विलेह विवरणे ॥ | (अ.स.सृ. 2133) |
| 4. | वल्लीनीवल्लीनी गवे विवरणे ॥
वल्लीनीवल्लीनी गवे विवरणे ॥ | (भा.ज्ञा.सि. 16) |
| 5. | विवरणे विवरणे ॥ वल्लीनीवल्लीनी गवे ॥
वल्लीनीवल्लीनी गवे ॥ | (अ.स.सृ. 295) |

लक्षण य निराम सत् धातु के लक्षण।
 आग अम रस य आम रस धातु से मिश्रित गंगा-नदी मतभास्तुर् “नमव धातु”
 कहे जाते हैं। इसके विपरीत आग अम रस य आम रस धातु से भिन्न से भी मतभास्तुर्
 “निराम-धातु” कहलाते हैं। धातुओं को दूषण भी कहा जाता है। यामद मन धातुओं के
 लक्षण म विकार विभिन्न आवार्य नालानुसार निम्न प्रकार हैं—

- | साम रसन लक्षण य विकार ^१ | |
|---|----|
| भोजन में अश्रद्धा, असचिया या असीचक | १ |
| आत्म वैरस्य (मुख में रस जान न होना) | २ |
| लिहा अरसलता | ३ |
| देह में गौरवता | ४ |
| अक्षयमर्द | ५ |
| तग | ६ |
| सोतोरोध | ७ |
| अंहसाद (शरीर में शिखिलता) | ८ |
| अग्नियन्त्र | ९ |
| असमय में बली (कुर्सियों) का होना | १० |
| असमय में घतिलता (बाल रखेत होना) | ११ |
| असमय में दृष्टि दोष | १२ |
| (ii) साम रसन लक्षण व विकार ^२ | |
| कुष्ठ | १ |
| पिङ्का | २ |
| अनुरूप (रक्तप्रदर) | ३ |
| मेहूलक | ४ |
| स्त्रीहोरोग | ५ |
| विद्वधि | ६ |
| | ७ |
| | ८ |
| | ९ |
| | १० |
| | ११ |
| | १२ |

- | | | |
|---|--|---------------------|
| १ | संक्षिप्त सामग्री देखा दृष्टव्य दृष्टिः ।
सम्बन्धित वर्णने च योगानुदृष्टिः ॥ | (प्राप्ति 13/27) |
| २ | १ सम्भव चलने हास्यवैयाकरणातः । हस्तसे गीर्वं रुद्रं सम्भूपर्यं चालनः ।
रुद्रुपं लोकां रोपः करीवं लटः कुरुत्वाऽपात्रां चापात्रावैयाकरां चल- पीतिहानि च ।
एव प्रदीप्ताः देवाः:- | (प्राप्ति 23/7, 10) |
| ३ | १ एव भासकाः एव प्रदीप्ताः विभासाः ॥ | (प्राप्ति 24/9) |
| ४ | १ एव भासकाः प्रदीप्ताः । कुरुत्वाऽपात्रावैयाकरां चित्प्रभासाः ।
कुरुत्वाऽपात्रावैयाकरां चित्प्रभासाः । विभासकाः च्यन्ति विभासकाः ॥
पूर्वान्तरं चित्प्रभासां चोत्तरावैयाकराः । एव प्रदीप्तावैयाकराः ॥ | (प्राप्ति 28/11-12) |
| ५ | १ कुरुत्वाऽपात्रां चित्प्रभासाः ॥ | (प्राप्ति 24/9) |
| ६ | पि- १८ | |

- | | | | |
|--|---|----|---------------------------|
| 13 | कामला | 14 | स्वर्ग |
| 15 | विष्णु | 16 | तिलकाहाय |
| 17 | दूर | 18 | चर्पदल |
| 19 | फित्र (किलास) | 20 | गामा |
| 21 | कोठ | 22 | राष्ट्रमण्डल |
| 23 | न्यूज़ | 24 | इन्द्रतुम |
| 25 | चाक्षशोणित | 26 | अर्द्धा |
| 27 | अर्दुद | 28 | अंगमदं |
| (iii) सामाजिक लक्षण व विकार | | | |
| 1 | अधिनांस | 2 | अर्दुद |
| 3 | मांसकोलक | 4 | गलशालूक |
| 5 | शुच्ची (गलतरुणी) | 6 | पूर्णांस |
| 7 | अलबनी | 8 | गण्ड (गलगण्ड) |
| 1, 9 | गण्डमाला | 10 | डपणिकिका |
| 11 | मांससंधाना | 12 | ओष्ठ-प्रकोप |
| (iv) सामाजिक लक्षण व विकार | | | |
| इसके अंतर्गत आठनिन्दित पुरुष के समस्त लक्षण व प्रमेह रोग के तमस्त मृत्यु समावेश होता है जो निम्न प्रकार हैं— | | | |
| 1 | ज्वर-हृद्य | 2 | अतिदीर्घ |
| 3 | दर्ढ़ी-लोमा | 4 | अलोपा |
| 5 | न.अंकृत्या | 6 | अति गौर |
| 7 | अति स्थूल | 8 | अति कृश |
| 9 | केहों कः त्रटिल होना | 10 | मुख माधुर्य |
| 11 | हृदय-शून्यता व दाह | 12 | भुख-तालु-कण्ठ शोप |
| 13 | पिंशापा | 14 | आलस्य |
| 15 | न.तापिक्य | 16 | शरीर के नवद्वार में पतलिज |
| 17 | गंगा व मत्र पर बढ़पट खाली चीटी का लगाना | | |

१. ६ द्वारा संसदीय अधिकार की संतोषात्मक गुणितके।
पूर्णतया संवेदनानुसार परिवर्तित
गिरियांग चलन। (प.म. 2513)
 - ३) गुरुजन्मद्वयक, अधिकारकुर्तारोऽपि निष्ठो न विद्युत्तरागामगुणितकासनी-
प्रमाणेन्द्रियान्वयनानुसार एकामात्रपूर्वो मालिकेप्रबन्धः। (प.म. 2514)
 २. ५ वा ६ वा ७ वर्षमध्ये निश्चिह्नित इन्द्राजलां पूर्वायामी वर्णन च ॥
५ वर्षार्थान्वयनानुसार एकामात्रपूर्वो हातिर्यात्यविवेचनानुसार पूर्वो मालिकेप्रबन्धः । ५ (प.म. 2515)
६ वर्षार्थान्वयनानुसार एकामात्रपूर्वो हातिर्यात्यविवेचनानुसार पूर्वो मालिकेप्रबन्धः । ६ (प.म. 2516)

- | | | | |
|---|----------------------------------|----|-------------------------------|
| 18 | मूर्तीविभी विकार | 19 | गर्भ का अवस्थापने होना |
| 20 | शैदैय निशा य बन्द्रा आना | 21 | प्रीविंग |
| 22 | युद्धिरोग | 23 | गलगाह |
| 24 | अवृद्ध | 25 | पेनेज औड प्रेस |
| 26 | मधुमेह | 27 | अवि चैलेंज |
| 28 | बाति स्ट्रेट | | |
| (v) | साम अस्थिन प्रदोषज लक्षण व विकार | | |
| 1 | अध्यस्थि | 2 | अधिक्षम |
| 3 | दनास्थिमेद | 4 | दन्तगूल |
| 5 | अस्थिपेद | 6 | अस्थिगूल |
| 7 | अस्थि व दन्त विवर्णता | 8 | केश विक्षम |
| 9 | लोप व नख दोष | 10 | ग्वारु दोष |
| 11 | अस्थिलोद | 12 | कुनख चंग |
| (vi) | साम मज्जा प्रदोषज लक्षण व विकार | | |
| 1 | झरीर के पर्व (जोड़ों) में घोड़ा | 2 | छप |
| 3 | मूर्छा | 4 | तनोदर्दान |
| 5 | नेत्रापित्तन्द | 6 | अहंचं स्फूर्त्यात्मनं पर्वदनं |
| (vii) | साम शुक्र प्रदोषज लक्षण व विकार | | |
| 1 | कलौन्य | 2 | अहपेन्न् |
| 3 | कलीब्रता | 4 | गुक्कमन्त्रे |
| 5 | शुक्रमेह | 6 | शुक्रदोष |
| 7 | गर्भसाक्ष | 8 | गर्भचात |
| 9 | अत्पायु | 10 | विहृता |
| साम सात धातु गत लक्षण—विशम को अवस्था में सुधारनुये अपना प्राकृत व जीवनम, लेपन आदि सम्यक् रूप से करती रहती है। | | | |
| अप्यस्थिदनै दत्तस्थिमेद्यां विवर्णता । | | | |
| कैवल्यस्त्रावान्मुदोवर्णात्मी प्रदेवतः ॥ | | | (प्रम् 28) |
| जायाक्षर्णीपद्मनास्थिदेवदृक्कुनखामृग्नेऽस्थिप्रदेवतः ॥ | | | (प्रम् 24) |
| लक्षपर्वत्य ध्रुवो मूर्छा दर्तन यत्वलया । | | | |
| मरण्ये स्फूर्त्यात्मनो वर्वकान्त च दर्तन् ॥ | | | |
| प्रदोषोदाता ॥ | | | |
| नयेद्यांपूर्णापर्याप्तामृग्नामृहूपूर्वकं वरेत्प्रियदद्यमृपादे प्रदेवतः ॥ | | | (प्रम् 29) |
| मृग्नामदेवता कर्त्तव्यहर्वद्यम् । रोगिवामेवं वरेत्प्राप्तिर्हं च इत्यादी । | | | (प्रम् 24) |
| २८ साम जायो गर्भः परित प्रदोषजः । गुक्के हि तु त्वं सार्वत्वं कर्त्तव्ये चादः ॥ (प्रम् 13/11-1) | | | |
| अद्यत्प्राप्तिर्हं विवर्णता विवर्णता विवर्णता विवर्णता ॥ | | | (प्रम् 24) |

साम पुरीप लक्षण य विकार ।
अम से संग्रह होने पर पुरीप भारी प जल में झूसने पाला, दुग्ध-गृहण
प्रभावुद्योग (विग बंधा हुआ एवं दूट-दूट कर घोड़ी-घोड़ी मात्रा में निकलते)
है। उपर्युक्त लक्षणनुसार इसमें विषष्टाचार्यीण जैसे लक्षण निहत हैं ।

निराप पुरीषज तत्काल¹
विवाह (पत्न) पुरोप दुर्बल रहित, चौथा हुआ, पानी के ऊपर तौरें रखा हो।
इससे जीवर में हत्याकाण होता है।

साथ मृत तद्दण य विकार^१
मृत जप आम दोष से संयुक्त रहता है तब मृत रोग अर्थात् इधरीन, गिरें
शांतिनामाद बेह, उदकमेह, लालामेह, शुक्रमेह, शनैमेह, सिकता बेह आदि प्राण-वै
दात्रय हो सकते हैं।

आप दोष चिकित्सा सूत्र एवं चिकित्सा

संतर्जन या अवतरण भेद से विकित्सा के दो प्रकार कहे गये हैं। आम दौराने के विकित्सा में मुख्यतः अपतर्जन विकित्सा या प्रयोग होता है। अपतर्जन के ओरपि लंबे समय तक एक रुक्ष उपक्रम समाहित किये गये हैं। इसमें भी लंघन विकित्सा से मूल जामनशन होता है। आचार्य चक्र ने अम विकारों का नाश करने के लिए अपतर्जन विकित्सा भेदों का वर्णन किया है, यथा-

1. संघन— लंगन या लप्पायां करने में अग्रु तथा रामू महाभूत की गुड़ि होकर अल्प चल आम दोप नहीं होता है।
 2. संघन-पाचन— इसमें मध्य चल आम दोप नहीं होता है।
 3. दोपावसेघन— बहु दोप (माझापिण्ड) की अवश्या में मंगेघन कर्म (मंगेघन) के हारा आम दोप को गर्जाएं में पहा धन्तज्ञन चलता है।

सम्पूर्ण शारीर में फैले हुए साम दोष की मरणोपन द्रव्य निकालने का प्रयत्न की कला चाहिए। वर्धमंश आम से विक्रिय दोष गर्भाद्वारा प्रभृती में बद्ध होकर व्यायाम करने वाले व्यक्ति में आम रहते हैं जिससे वे बाहर निकालने को उन्मुक्त नहीं होते हैं। ऐसे इन वर्धमंश दोष को बाहर निकालने का प्रयत्न किया जाएगा तो ने आप्रव (प्राण इन्द्रिय) को ही नहीं बदल करते हैं। तैसे-जैसे फल से रस निकालने के प्रयत्न में गमधर फल ही नहीं है बल्कि ही फल है। अतः आम दोषों को निकालने के लिए पहले दौरन्तरप या सामान्य औरोप सेवन का उपयोग हो, विर स्वेदन या स्वेदन कर उस आम दोष को विरोधनमन्त्र याकृत दौरन्तरप दोष काल में घटावाल संशोधन विधि से निकालने का प्रयत्न करें। यह संशोधन दोषों के निकटस्थ मार्गों से ही करें। यथा-आमाशय स्थित दोषों को उच्च-कर्म से नुच्छ जाने द्वारा, पक्षाशय स्थित दोषों व मलों को विरेचन करने से गुरु मार्ग द्वारा एवं उच्च वर्धुता द्वारा दोषों किट्ठिविरेचन (नस्य) कर्म से नासा मार्ग द्वारा निकालने का इन्द्रान करना चाहिए। बाइर निकल रहे आम दोषों को स्तम्भक औपरिधियों से नहीं रंगना चाहिए, क्योंकि ये केवल दोष अनेक प्रकार के रोगों को डलाना कर सकते हैं। स्वयं उच्च दोषों के निकल दर्शन के पक्षात् वर्चे सुए आम दोष को उचित पाचन औपर द्रव्यों से उत्तरने का प्रयत्न करना चाहिए।

आजार्य चरक ने आम दोष जनित विकार दों प्रकार के माने हैं-

- | | |
|---|-----------------------------|
| 1. विसूचिका | 2. अलसक |
| इनके चिकित्सा सूत्र निम्नानुसार वर्णित हैं- | |
| विसूचिका रोग का चिकित्सा सूत्रः | |
| 1. संधन | 2. विरेचन कर्म |
| 3. पेया-विलेपी सेवन | |
| अलसक रोग का चिकित्सा सूत्रः | |
| 1. उपवास (लंघन) | 2. स्वेदन |
| 3. लत्खण च उच्छ्वासक से बमन | 4. गुदवर्ति से भत निष्कासन। |

१. ग्रंथिवासनप्रदेशपात्रों भिषजः - ग्रंथिवासन, अहसासके च ॥ (च.पि. २/१०)
 २. ग्रंथिवासनप्रदेशपात्रों भिषजिवासनप्राप्तुर्मुखो ॥ (च.पि. २/१३)
 ३. ग्रंथिवासनप्रदेशपात्रों भिषजिवासनप्राप्तुर्मुखो ॥ (च.पि. २/१२)

क्षाय-चिकित्सा

266

आम दोष की अन्य चिकित्सा विधियाँ

इसमें अपतर्पण चिकित्सा एवं व्यापि विपरीत औषध का प्रयोग गता है। जैसे-

आमदोष से विमुक्त व्यक्ति का चिकित्सा सूत्रः

- | | |
|----------------|------------------|
| 1. आधार्यं | 2. स्नेहपान |
| 3. निरुह वस्ति | 4. अनुपान वस्ति। |

उपर्युक्त चिकित्सा आम दोष से विमुक्त हो जाने पर, दोषों का पाचन हो जाता है, अग्र दोष हो जाने पर विपरीतर्वक दोष-भेषज-देश-काल-बल-शरीर-आहार-ग्राम, सत्त्व-प्रकृति-वय एवं रोग को ठीक-ठीक विचार कर करने से बांधित फल प्राप्त होते हैं।

अन्य चिकित्सा सूत्रः

योगत्वात् में आम दोष का विस्तृत चिकित्सा सूत्र वर्णित किया गया है जो निम्न प्रकार है-

- | | |
|--------------------------|------------------------|
| 1. लंघन (उपवास) | 2. उष्ण पेया |
| 3. लघु अत्र | 4. रुक्ष औदन |
| 5. विकृप सेवन | 6. पाचन |
| 7. स्वेदन | 8. उर्ध्व संशोधन (वदन) |
| 9. अष्टः संशोधन (विरेचन) | 10. निरुह वस्ति |

अमप दोषनाशक औषध योग

- | | |
|------------------------------------|---------------------|
| 1. रस/भस्म | |
| मात्रा - | 125-250 मि.ग्रा. |
| अनुच्छन - | मधु, उष्णोदक |
| (i) अश्वतुर्घी रस | (ii) अजीर्णकण्टक रस |
| (iii) गुमबाय रस | (iv) अग्निकुमार रस |
| (v) अग्नि मंदोदन रस | (vi) पाशुपत रस |
| (vii) अर्जीर्ण भट्ट व्यत्त्वानल रस | |

2. चूर्ण

- | | |
|-----------|--------------|
| मात्रा - | 2-6 ग्राम |
| अनुच्छन - | तड़, कोणा जल |

- सर इंद्रियादानं या ॥
- विमुक्तमप्तवाय लक्ष्मीनी ॥
- सर विमुक्तमप्तवाय लक्ष्मीनी विरही विद्वाद्वाय विमुक्तमप्तवाय च ॥

(प.रि. 2/13)
(प.रि. 2/13)
(योगत्वात् लक्ष्मीनी प्रथम अध्याय)

आम गंगा प्रवेशन

267

- | | |
|--------------------------|--------------------------|
| (i) वैष्णोल चूर्ण | (ii) गिर्ह चूर्ण |
| (iii) लवणभास्त्रकर चूर्ण | (iv) गिरवात् रात्र चूर्ण |
| (v) हिंगाटक चूर्ण | (vi) अश्वतुर्घी चूर्ण |
| (vii) भजमोदादि चूर्ण | (viii) नवसन चूर्ण |
| 3. यटी | |
| मात्रा - | 250-500 मि.ग्रा. |
| अनुच्छन - | उष्णोदक |
| (i) शंख यटी | (ii) अश्वतुर्घी यटी |
| (iii) विपतिन्दुक यटी | (iv) चढ़वांत्र यटी |
| (v) वित्रकादि यटी | (vi) लगुन्ही यटी |
| (vii) गव्यक यटी | (viii) हिंगाटक यटी |
| (ix) संजीवनी यटी | (x) रसेन यटी |
| (xi) आमपाचक यटी | |
| 4. आसव/अरिष्ट | |
| मात्रा - | 20-40 मि.ली. |
| अनुच्छन - | समभाग जल |
| (i) दशमूलारिष्ट | (ii) वैष्णोलक्ष्मी |
| (iii) द्राक्षासव | (iv) चंद्रकाशारद |
| (v) कुमार्यासव | |
| 5. क्लाय | |
| मात्रा - | 20-40 मि.ली. |
| अनुच्छन - | स्वतंत्र रूप से, जल |
| (i) धान्यपेचक क्लाय | (ii) शुच्नी चंद्रक क्लाय |
| (iii) शूष्यगादि क्लाय | |
| 6. घृत | |
| मात्रा - | 10-20 मि.ली. |
| अनुच्छन - | दुध, उष्णोदक |
| (i) पिष्पल्यादि घृत | (ii) वैचकोल घृत |
| (iii) शूष्यगादि घृत | (iv) वित्रकादि घृत |

*** नोट ***

द्वादश अध्याय

आवरण विवेचन

८०-८१-८२-८३

८४-८५-८६-८७

८८-८९-९०-९१

आवरण परिचय—संहिताओं में वात दोष प्रकारों के निम्न दो कारण वर्णन हैं—

(i) जातक्षय होने से, जिसे वायु का स्वतन्त्र प्रकोप कहा जाता है।

(ii) वायु के प्राकृत मार्गों में आवरण होने से, जिसे वायु का सामान्य दोष कहा जाता है।

सामान्यतया जब पित व कफ दोष के शास्त्रीक गुण शरीर में वृद्धि का ग्राहण हो इन दोनों दोषों की वस्तुः वृद्धि होती है। वात दोष इनसे भिन्न है। वात दोष प्राकृत रसों के एक देश या सर्वशरीर में रुक्षत्वादि गुणों की वृद्धि हो जाती है, वायु का भी यही प्रकृत रहता है।

वृद्धि (प्रकृतिता) दोषों (दोष-धातु-मल) के द्वारा अस्त्रावायु के किसी भी किसी विशिष्ट वायु को क्रिया का उसके मार्ग में अवरोध होने से मन ही और "ज्ञवरण" कहता है। आचार्य चरक ने दोषों की क्षय, वृद्धि व सम अवस्था के बारे ही आवरण का वर्णन भी किया है। आवरण अनेक प्रकार के होते हैं जैसे—दोषों अतु पर दूषों का दोषों पर, एक दोष का दूसरे दोष पर तथा वायुओं का परस्पर एक दूसरे आवरण। ८०-८१-८२-८३-कुपितस्ते संभूत दृष्टि तदा। ८४-८५-८६-८७

आवरण-परिभाषा लक्षण-प्राप्ति-उत्तरार्थता दृष्टि-तदा।

आवरण का अर्थ है मार्ग में अवरोध या रुक्षावट उत्पन्न होना। अतः जब विशेष दोष-धातु-मल-अवरण के प्रकृतिता है, के द्वारा वायु की स्वाभाविक (प्रकृत) प्रविष्टि घटती है अतः वायु के मार्ग में रुक्षावट उत्पन्न कर उसके कारणों को ही किया जाता है तो उस दोषादि (दोष-धातु-मल-अवरण-वातादि भेद) के द्वारा वही "आवरण" कहा जाता है। सामान्य भाषा में अगर किसी ऐसे के ऊपर कवर (कवर विषा दिया जाय तो इसे कवर द्वारा मेत्र का आवरण कहा जायेगा।

आवरक

आवरण करने वाला दोष-धातु-मल "आवरक" कहा जाता है। आवरक दो

१. वर्णन्तुष्टिकृतो मार्गव्यवहारेन च (४)। यार्थप्रकल्प देहे मार्गव्यवहारातिः॥ १४॥

वर्णन्तुष्टिकृतो मार्गव्यवहारेन च (४)। यार्थप्रकल्प देहे मार्गव्यवहारातिः॥ १४॥

आवरक

आवरक वायु को "आवरक" कहते हैं। आवरक वायु दृष्टि होता है। दृष्टि वायु भी कभी-कभी ठरा स्थान पर संचित होकर प्रवृत्ति दी जाता है।

आवरण प्रकरण का वर्णन आचार्य चरक ने आचार्य युक्त ने वायरायि प्रकरण में वायराय आग्नेय ने वायराय प्रकरण में किया है।

वायुओं का परस्पर (अन्योन्यावरण) आवरण

संहिता ग्रन्थों में वायुओं के परस्पर आवरण या विवृत वर्णन देता है। अद्यता कोई एक वायु (प्राण, उदान, समान, व्यान, अनान) किसी भी वायु के से दूसरे का आवरक नहीं है। तात्पर्य यह है कि वायोक्रम सभी वायु प्रकृत-दृष्टि वायु के दृष्टि दृष्टि सकती है। इस प्रकार यांत्रियों वायुओं के परस्पर आवरण में वायन उत्तर ये अवरण देते होते हैं जिनका विस्तृत रूप में वर्णन यथा स्थान दर्शा दिया जा रहा है।

मिश्र आवरण*

कभी-कभी एक ही वायु कफ दोष तथा विशेष दोषों से अवृत हो जाता है। इस प्रकार के आवरण को "मिश्र आवरण" या "द्विवरण" कहा जाता है। इनके कुल दौर भेद होते हैं जो निम्न प्रकार हैं—

१. कफपित्तावृत प्राण वायु
२. कफपित्तावृत उदान वायु
३. कफपित्तावृत समान वायु
४. कफपित्तावृत व्यान वायु
५. कफपित्तावृत उदान वायु

आवरण का महत्व*

आवरेंदीय चिकित्सा में आवरण का ज्ञान उतना ही आवश्यक है जितना कि दोषों के राम-निराम, क्षय-वृद्धि एवं समावस्था का है। आवरणों का सम्बद्ध परिकल्पना होने से उनको चिकित्सा करने में विकल्पक कभी भी त्रुटि नहीं करता और उनको सूक्ष्म भूल से रोक रोग निवारण करने में समर्थ होता है।

१. दिवाऽन्या च विभवेत् सर्वावरणं विवर्त्तते।
स्थानान्येष्य वातादो युद्धि हार्ति च कर्मवायम्॥ (प्रापि. १८/५२)
२. वर्णनात् च विभवेत् विवरणं च कर्मवायम्॥ (प्रापि. २३/३९-३१)
३. लक्षणात् च विभवेत् विवरणं च कर्मवायम्॥
उपलक्ष्य विभविष्ट्वा विभवात्तर्वते विवरणं॥ (प्रापि. २४/३१)
४. वृद्धि समावृत च विभवात्तर्वते विवरणं॥
विभवुष्ट्वा देहो न प्रपूर्वति कर्मवायम्॥ (प्रापि. २४/३७)

आवरण साम्यासाध्यता

सभी अवृत वात विकार एक वर्ष तक उपेक्षा या अव्याप्ति के बावरण शारीर में प्रभाव में असुख या कृच्छ्रसाध्य (दुरुपक्षम) हो जाते हैं।

उपेक्षित आवृत वायु के उपद्रव

आवृत वायु को उपेक्षा करने से हृदोग, विद्रुपि, स्नोहरोग, गुल्मि, अतिसार आदि रोग उपद्रव रूप उत्पन्न हो सकते हैं।

आवरण विषयक अन्य तथ्य

1. एक दोष दूसरे दोष एवं दूष्य को आवृत कर देता है।
2. आवृत के लक्षण दृष्टिगत नहीं होते अधिकृत आवरक के लक्षण उप होते हैं।
3. दोषों के द्वारा दोषों का अधिकार दूष्यों का आवरण होता है।
4. जिहावातः आवरक दोष व्याधिके 'हेतुस्थान' में स्थित होता है।
5. व्याधिकारक दूष दोष (आवृत दोष) के विपरीत आवरण दोष तथाः (दोष-दूष सम्पूर्खता) में भाग नहीं होता है।
6. एक दोष दूसरे दोष, दूष्य, भल को आवृत कर देता है तो आवृत दोष या दूष अपने प्रकृतवस्त्रमें रहे हुये भी कार्य नहीं कर पाते हैं।
7. मौद्रिक दृष्टि से आवरण को अवधारणा स्पष्ट है परन्तु आदुरीय इटि (Clinically) से दोषों में आवरण तथा मूल दोष की अंशांशकलनन करने व्यवहारिक दृष्टि से कठिन प्रतीत होता है। अधिकाधिक अतुरीय अनुभव के अधार पर आवरण विनिदिय संभव है और तदनुरूप चिकित्सा वरने से रोग में पर्यावरण लाभ की सम्भावनायें भी बनती हैं।

आवरण से सार्वजनिक रुक्षने वाले स्नोतोदृष्टि के लक्षण 'संग' में भी कुछ समानताएँ एवं असमानताएँ हैं जो निम्न सारणी में वर्णित की जा रही हैं—

१.	सर्वप्रयोगीरुक्षित चीनिकायन्त्रा।
२.	सर्वप्रयोगीरुक्षित चीनिकायन्त्रा।
३.	दोषों विद्रुपि, जीवा दृष्टिवैद्यीय एवं चा।
४.	परम्परागत चीनिकायन्त्रा।

(च.पि. 23/235)

(च.पि. 16/226)

संग या आवरण में अन्तर**संग**

- 1) दोष या दूष्यों का स्नोतोदृष्टि में स्फक्त जाना संग है।
- 2) यह दोष-दूष्य सम्पूर्खता जीवा स्नोतोदृष्टि का एक प्रकार है जब दूष्यों की प्राकृत गति में तथा दूष्यों की अवृत गति में वापा उत्पन्न होता है।
- 3) जिस दोष या दूष्य का संग हुआ हो, उसके एक रसायन में वृद्धि के लक्षण और अन्यत्र शय के लक्षण मिल सकते हैं।
- 4) संग के पक्षात् विमार्गयमन सम्भव है।
- 5) इसमें दीघन-पाचन व स्नोतोदृष्टि से लाभ होता है।
- 6) संग आम या साम दोषों या सम्पूर्खता प्रकार विशेष से होता है।

आवरण भेद

मुख्य रूप से आवरण को निम्न तीन वर्गों में विभाजित करते हैं—

1. स्वतन्त्र आवरण ये कुल 22 होते हैं।
2. अन्योन्यावरण ये कुल 20 होते हैं।
3. प्रिक्ट्रवरण ये कुल 5 होते हैं।

स्वतन्त्र आवरण

ये निम्न हैं—

1. पित्तावृत वात
2. कफावृत वात
3. रक्तावृत वात
4. चांसावृत वात
5. मेदावृत वात (आद्यवात)
6. अप्यावृत वात
7. मजावृत वात
8. शुक्रावृत वात

9. अन्तर्वृत यात्रा
 11. मूलवृत्त यात्रा
 13. पितावृत्त प्राण वायु
 15. पितावृत्त समान वायु
 17. पितावृत्त अपान वायु
 19. कफवृत्त उदान वायु
 21. कफवृत्त व्यान वायु

अन्योन्यावरण
ये निन है—

१. उदाहरणीय प्रायोगिकपु
 २. समाजशक्ति प्रायोगिकपु
 ३. प्रायोगिक उदाहरणपु
 ४. समाजवृत्त उदाहरणपु
 ५. प्रायोगिक स्थानवापु
 ६. समाजवृत्त स्थानवापु
 ७. प्रायोगिक स्थानवापु
 ८. समाजवृत्त समाजवापु
 ९. समाजवृत्त / समाजवापु
 १०. प्रायोगिक अधारवापु
 ११. उदाहरणवृत्त अधारवापु

ग्रन्थावली

- पितकफलवृत्त प्राणवायु
 - पितकफलवृत्त सनानवायु
 - पितकफलवृत्त अचानवायु

विभिन्न आवारण-कारण व लक्षण

संस्कृत विद्यालय

- पितामुख वाच—वायु के पितृ दोष द्वारा आवृत होने पर दाह, दूषा, सूक्ष्म, प्रम, राप, कटु-अप्त-लसयग-रुग्ण पदार्थों से विदाह तथा शोतृ पत्तों जैसे इच्छा होना आदि लक्षण उल्लेख होते हैं। इसकी शोतृ व उष्ण प्रम तंत्र 'व्यतीताप' विकिसा प्रसिद्ध है। जीवनीय घृत, क्षीर व यापना वस्त्र भी देव संबोध रहता है।

१. नियमित विद्युत सामग्री का उपलब्ध होना।
 २. विद्युत संचयन के लिए बड़ी संख्या में बैटरी।
 ३. विद्युत संचयन के लिए बड़ी संख्या में चार्जर।

- धन्यवादाम् याता—करु दोष काहा यातू के अपूर्व रोपे पाए देवतान्, गीतेबना, शूल, शोक, कम्तु-हिक्क-काषय एवं उला वदायी मे दासान् (अपा), अपद-ह्रष्ण-हस्त तथा ठण्ड वदायी मे गवि रोग अस्तु वस्त्रान् कृपापूर्वक ।

- ३- रसायन यात्रा—रक्त द्वारा यात्रा के प्रारंभ होने पर यहाँ में सूने नदी और वेदना, स्वर्ण का असुखी, प्रसुती, व्याधि व भूमि के प्रभाव से दूर होने, शीश, मण्डल (चक्रो), विनज विकास आदि व्यथा दूर होती है। इस 'यात्रारक' शंखों के समान चिकित्सा जाना अप्रभावी रहता है।

4. मांसाद्युत धारा—खटी पांसदेशीयों में कम्पु जा आजान दी जाता है और कन्दूर व चिवार पिट्ठिकायें उत्पन्न हो जाती हैं। संकेतग्रन्थ में गोद, गोलाय व गोड़ पर चौटियाँ चलाने वैसी प्रतीक्षा होती है।

५. मंदसाराद्युत याता—इस आवश्यक को अद्यतन, द्युद्युत, यात्रायात्, यात्रायोगित या उरुस्तम्भ माना गया है। इस आवश्यक में अन्यून यात्रा और चलायगमन, स्निग्ध, मृदु, सीधे शोक उत्तर करते हैं। मंदजन में अन्यरंभ होती है। यह कृष्णसाध्य है।

6. अस्थायावृत चात⁴—अस्थि से आवृत चातु में ठप्प सर्व व मन्दन-कोड़न की आवश्यकता लगती है। अंगों में दूटने के समान पांच हाँस्ते हैं, जुड़ चुपने जैसे पीछा भी होता है।

7. मन्जावृत चात^४—मजा से आवृत वायु में अंग सूक्ष्म चलते हैं, जूँग झटकी है, शरीर रस्सों से धैंधा हुआ प्रतीत होता है, अंगों में सूक्ष्म हंदा है हाथों से दंगों को दबाने पर सुख अनुभव होता है।

- | | | |
|---|---|------------------|
| ✓ | ० हीलीलालक्ष्मनि कदमाकुलापौरिक्षिण् ॥
लहुनवासारस्वेष्टकामिता च कपलामृते । | (परिः २५.४२-४३) |
| ✓ | ० हीलोपनुश्वानि ततिस्रेय कपलामृते । | (पुरि १३१) |
| ✓ | ० राजामृते सद्वालिलालक्ष्मनामृते भूषणम् ॥
भवेत् तताः ध्युम्बुद्ध्यंते भावामृते च । | (परिः २५.६३.६४) |
| ✓ | ० शूरीपिति निराशः स्मरादिः प्राप्तुः ॥
स्वेषः पितिकाः सुर्वत्तेष्वेषितिविते । | (पुरि १३३, ३४) |
| ✓ | ० कलिनाम पितिकाः पितकः क्षयुमुखाः ॥
इहः पितिकानां च दीपत इव मांतोः । | (परिः २५.६४-६५) |
| ✓ | ० चतुः तिनामृते भूषः तोषोऽप्तुः अस्तिपाताः ।
मदपत्तम इति द्वयः च तुक्ष्युः मेदात्तमुषः ॥ | (परिः २५.६५, ६६) |
| ✓ | ० स्वर्णमवक्षः तु तु तु तु तोडनं चापिक्षदिति ।
तोडनां तोडनां प शूरीपिति तु तु ॥ | (परिः २५.६६) |
| ✓ | ० ए गृष्णेषु तु तु तु तु तु तु तु तु तु ॥
वद्युत्तु तिवाः प्रयुक्त्यामृते परिहेनाम् ॥ → ५.१०८.३० | (अ.परि. १६-३७) |
| ✓ | ० तु ॥
तु तु ॥ | (परिः २५.६७) |

क्राय-चिकित्सा

8. शुक्रावृत चात'—शुक्र से बायु के आवृत होने पर शुक्र में ना नहीं रहता। अथवा अधिक थेग होता है। शुक्र निष्कल्प होता है अर्थात् शुक्र गुणमत्ता करने में समर्थ नहीं होता है। इसकी चिकित्सा में यत्यग ग शुभमत् उपयोग करने में सहायता रहता है। *Shreyas Udy*
9. अन्नावृत चात'—अज से बायु के आवृत होने पर भोजन करने के बाद अज में शुत हो जाता है और जब भोजन पूर्ण होता है तो शूल की शानि हो जाती है। इसकी चिकित्सा में दीपन-चाचन औषध व लघु अज देते हैं।
10. मलावृत चात'—मल से बायु के आवृत होने पर विवरण, पद्मासन में कैद से काटने के समान पौड़ा होती है। भोजन के पश्चात खाये स्नेह वा पचास शोप्र ही हो जाता है, भोजन के बाद आनाह व मल शुष्क तथा कण्ठ-बंहुने से निकलता है। श्रोणि, वंक्षण व कटि प्रदेश में वेदना होती है बायु के अनुत्तोन नहीं होता है, हृदय अस्थस्थ रहता है। *Sreyas Udy*
11. मूत्रावृत चायु'—जब बायु मूत्र से आवृत रहती है तो मूत्र की अप्रवृति मूत्राशय में आधान होता है। *Mithahat Bladder*
12. सर्वधात्मावृत चात'—सर्वधातुओं से आवृत चायु में श्रोणि, वंक्षण व कटि प्रदेश में पौड़ा, बायु विलोम गति, हृदय में पौड़ा व रोगी अस्थ रहता है। *Shreyas Udy उंडू - 16*
13. पित्तावृत प्राण चायु'—पित्त दोष से आवृत प्राण चायु में मूर्च्छा, दाह, फूल, शूल, घरविदाह, शीतकामिता, खाये हुये विदर्ध अथ का वपन होता है सभी लक्षण दृष्टजन हो सकते हैं। यह आवरण कोष्ठप्रद होता है कोष्ठ प्राणचायु ही आयु व जीवन की परिचायक है।
14. कफावृत प्राण चायु'—कफ दोष से प्राण चायु के आवृत होने पर उनके (चार-चार धूके की प्रवृत्ति), छाँके, उद्गार (डकार), श्वास-उपासन में शुष्कावृतिनिति व निष्कल्पत्वं पूर्ण होती है। *(च.वि. 20/4)*
15. दुःख वृत्ति व लालौनी श्वास-उपासने ॥ *(च.वि. 20/5)*
16. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/6)*
17. प्राणवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/7-8)*
18. मूर्च्छावृत्ति ॥ *(च.वि. 20/9)*
19. मूर्च्छावृत्ति व लालौनी श्वास-उपासने ॥ *(च.वि. 20/10-11)*
20. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/12)*
21. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/13)*
22. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/14)*
23. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/15)*
24. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/16)*
25. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/17)*
26. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/18)*
27. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/19)*
28. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/20)*
29. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/21)*
30. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/22)*
31. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/23)*
32. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/24)*
33. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/25)*
34. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/26)*
35. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/27)*
36. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/28)*
37. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/29)*
38. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/30)*
39. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/31)*
40. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/32)*
41. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/33)*
42. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/34)*
43. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/35)*
44. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/36)*
45. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/37)*
46. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/38)*
47. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/39)*
48. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/40)*
49. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/41)*
50. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/42)*
51. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/43)*
52. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/44)*
53. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/45)*
54. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/46)*
55. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/47)*
56. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/48)*
57. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/49)*
58. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/50)*
59. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/51)*
60. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/52)*
61. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/53)*
62. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/54)*
63. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/55)*
64. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/56)*
65. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/57)*
66. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/58)*
67. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/59)*
68. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/60)*
69. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/61)*
70. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/62)*
71. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/63)*
72. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/64)*
73. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/65)*
74. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/66)*
75. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/67)*
76. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/68)*
77. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/69)*
78. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/70)*
79. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/71)*
80. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/72)*
81. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/73)*
82. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/74)*
83. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/75)*
84. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/76)*
85. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/77)*
86. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/78)*
87. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/79)*
88. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/80)*
89. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/81)*
90. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/82)*
91. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/83)*
92. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/84)*
93. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/85)*
94. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/86)*
95. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/87)*
96. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/88)*
97. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/89)*
98. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/90)*
99. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/91)*
100. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/92)*
101. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/93)*
102. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/94)*
103. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/95)*
104. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/96)*
105. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/97)*
106. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/98)*
107. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/99)*
108. दृढ़ोद्दितिवृत्ति ॥ *(च.वि. 20/100)*

आग्रह विवरण

275

- रुक्मायट का अनुभव, भोजन में आर्द्ध और छाँट (गमन) होती है। ये कष्टप्रद आवरण हैं। आग्रह गुदा ने दीवान, तना, वैवर्ष अंडे तथा भी चर्मित किए हैं।
15. पित्तावृत उदान चायु'—पित्त दोष में अन्त उदान चायु में धूम, मूर्च्छा, दाह, नाभि व यथा प्रदेश में फ्लू, भोजन एवं शर्करा में अव्याह होता है।
16. कफावृत उदान चायु'—कफदोष में उदान चायु के अन्त होने पर लार्प में विवरणी, वाक् (वाणी) व स्वर की दीवान, दुर्बलता, भयग्रन, भयग्रन, भोजन में भैरवी, मदाग्नि आदि लक्षण दृष्टप्र होते हैं।
17. पित्तावृत समान चायु'—पित्तदोष से आवृत समान चायु में अतिव्याह, तृष्णावृद्धि, दाह, मूर्च्छा, अहर्वि, भ्राता अतिरोप अंडे लक्षण निलंबित हैं।
18. कफावृत समान चायु'—कफ दोष से आवृत समानचायु में अव्याह, लोमधार्प, शरीर में अधिक शीतलता आदि लक्षण प्रकट होते हैं।
19. पित्तावृत व्यान चायु'—पित्त से आवृत व्यान चायु में लार्प में दीवान आदि लक्षण निलंबित हैं।
20. कफावृत व्यान चायु'—कफ से आवृत व्यान चायु में रोगों के सम्बूद्ध शरीर में भारीपन, सर्व अस्थियों में पौड़ा, शरीर चेष्टा का स्तम्भ, चलने-फिरने में असमर्थता आदि लक्षण निलंबित हैं।

० मूर्च्छावृति च रुचिय दाहो नाम्नासः कर्त्तः ॥

(च.वि. 23/223-224)

(मु.पि. 1/35)

१ उदाने पित्तसंपुर्के मूर्च्छावृत्तिप्रकरणाः ॥

२ आग्रहे रुचियोदाने वैयरप्य चाक्षव्याहः ॥

(च.वि. 23/224-225)

(मु.पि. 1/36)

३ दीवाने गुदावृत्तिप्रकरणाः शीतलताः ॥

४ अतिव्याहेदानुप्राप्ते दृढ़ोद्दितिवृत्तिः ॥

(च.वि. 23/225-226)

(मु.पि. 1/36)

५ पित्तसंपुर्के स्नाने स्वदुपयत्तस्तोषेयम् ॥

६ स्नाने पित्तसंपुर्के स्नेदानावृत्तिप्रकरणम् ॥

(च.वि. 23/226-227)

(मु.पि. 1/37)

७ अस्त्वेदोद्दितिवृत्ति च लोमधार्पत्येव च ॥

८ कफावृते स्नाने स्वद्वान्तां शीतलताः ॥

(च.वि. 23/227-228)

(मु.पि. 1/38)

९ कफायिकं च विवर्षां रोगाहः कफाग्रृहः ॥

१० अन्ते पित्तावृते तु रुचियः तप्तीकृतः कर्त्तः ॥

(च.वि. 23/228-229)

(मु.पि. 1/39)

११ गुला सर्वांगाशास्त्रां स्वर्वस्वर्वप्रतिवर्णाः ॥

१२ अन्ते कफाग्रृहे तिर्हु गतिस्त्रूताव्याहारिकः ॥

१३ गुरुणि सर्वांगाशास्त्रां स्वर्वस्वर्वप्रतिवर्णाः ॥

(च.वि. 23/229-230)

(मु.पि. 1/39)

१४ तिर्हु कफाग्रृहे अन्ते पेणालाप्ताप्तेय च ॥

१५ तिर्हु कफाग्रृहे अन्ते पेणालाप्ताप्तेय च ॥

21. प्राणवृत अपान वायु—विशदोष से अपानवायु में आया हो। वर्ण का मत व मूत्र विकल्प है, गुदा व घैड़ में ताप वर्ष जाता है, वासिक रसाय (आर्ति) अतीमात्रा में विकल्पों साथा है एवं वे दीक्षित हो सकते हैं।
22. कफवृत अपान वायु—कफ दोष से आवृत अपानवायु में शरीर के भाग में गुरता, गतु-आण व कफ विकित गल, भारी मत्ता वीर्य प्रवृत्ति तथा एवं रोनों कफव प्रभेह से पीकित हो सकता है।

अन्योन्यावरण-कारण, लक्षण व चिकित्सा

1. प्राणवृत व्यान वायु—प्राणवायु से आवृत व्यान वायु में तार्क इन्द्रियों व शून्यता, स्मरण शक्ति व बहुत का क्षय हो जाता है। इस अवस्था में उपर्युक्त रोगों की चिकित्सा करनी चाहिये।
2. व्यानवृत प्राण वायु—व्यानवायु से आवृत प्राणवायु की अवस्था में अग्निकं, प्रवृत्ति, लोक्याहं (रोगांच), त्वचा विकार, शरीर शून्यता आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसको चिकित्सा में स्नेह युक्त विरेचन दें।
3. प्राणवृत समान वायु—प्राण वायु से आवृत समानवायु में शरीर में शक्ति, गदगद, भूक्ता, अस्थष्ट वाञ्छी, संज्ञा चेष्टानाश आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसमें सार्वत्र व्यक्ति के साध-साध स्नेह का चतुष्प्रयोग (घमन-विरेचन-निह-अनुकूलन हारण) करना चाहिये।
4. समानवृत अपान वायु—समान वायु से आवृत अपान वायु में ग्रहणी दोष चर्क्षणों, इदव रोग, आपाशय शुल होता है। इसकी चिकित्सा में अग्निकंपक द्रव का प्रयोग करना चाहिये यथा-चित्रकादि घृत, पिण्डली घृत इत्यादि।

1. एष द्रुतवृत्तं व्यवह तु गुणेभ्यः ॥
तिवृत्तिवृत्ते व्यवहारितिर्विग्नः ॥
2. अन्ते विवर्तुते द्वितीये व्यवहारः ॥
3. विवर्तावृत्तेष्वाप्तुवाचः उपर्युक्तः ॥
स्वकृत्व व्युःः एव वर्त्त्वाव्यवहः ॥
4. एष व्यवहारं व्यवहारं कर्त्त्वात् ॥
स्वीकृत्वर्त्त्वं द्रुत्वं व्यवहारात् ॥
5. एष व्यवहारं व्यवहारं कर्त्त्वात् ॥
स्वीकृत्वर्त्त्वं द्रुत्वं व्यवहारात् ॥
6. एष व्यवहारं व्यवहारं कर्त्त्वात् ॥
स्वीकृत्वर्त्त्वं द्रुत्वं व्यवहारात् ॥
7. एष व्यवहारं व्यवहारं कर्त्त्वात् ॥
स्वीकृत्वर्त्त्वं द्रुत्वं व्यवहारात् ॥
8. एष व्यवहारं व्यवहारं कर्त्त्वात् ॥
स्वीकृत्वर्त्त्वं द्रुत्वं व्यवहारात् ॥
9. एष व्यवहारं व्यवहारं कर्त्त्वात् ॥
स्वीकृत्वर्त्त्वं द्रुत्वं व्यवहारात् ॥
10. एष व्यवहारं व्यवहारं कर्त्त्वात् ॥
स्वीकृत्वर्त्त्वं द्रुत्वं व्यवहारात् ॥
11. एष व्यवहारं व्यवहारं कर्त्त्वात् ॥
स्वीकृत्वर्त्त्वं द्रुत्वं व्यवहारात् ॥

- (च.चि. 28/235-232)
(मु.नि. 137)
- (च.चि. 28/230-231)
(मु.नि. 133)
- (च.चि. 28/202, 203)
(मु.नि. 131)
- (च.चि. 28/203, 204)
(मु.नि. 132)
- (च.चि. 28/204, 205)
(मु.नि. 133)
- (च.चि. 28/205, 206)
(मु.नि. 134)

हिंदूः प्रतिवेद्ये नि: खासोऽवधारासामिदः ॥
होतो द्रुत्वाव्यवहारात्ते व्यवहारेषु ॥
द्वीपर्विकं कर्त्त्वं कार्यावासार्वं लया ॥
कर्मैवेवतावार्ती नदो मुख्यतापि या ॥
दद्वनेष्वृत्ते प्राप्ये तं तानि: द्वैत्यवारिता ॥
तिवृत्तावासोलोने द्वुष्टं वैयोपादेषु ॥
उपर्युक्तेषु व्याप्ते हार्दिकाशाद्यो गदा: ॥
द्वृत्ति तत्र वासादि भीर्न्दं वैयातुलीपद् ॥
स्वैर्वृत्तेऽनिवारीतार कर्मैवेऽपानसंदृते ॥
कर्त्त्वे स्वद्वयं तत्र दीपनं प्राप्ति चापानम् ॥
वन्यापानस्तु वायुर्गुह्यतिविवर्तिकः ॥
तिवृत्तिवृत्ते व्यवहारात्ते विवर्तिवृत्तेषु ॥
स्वात्मेष्वृत्ते व्यवहारात्ते विवर्तिवृत्तेषु ॥
विवर्तिवृत्ते व्यवहारात्ते विवर्तिवृत्तेषु ॥
स्वात्मेष्वृत्ते व्यवहारात्ते विवर्तिवृत्तेषु ॥
स्वात्मेष्वृत्ते व्यवहारात्ते विवर्तिवृत्तेषु ॥

३१ वि.- 19

5. प्राणवृत व्यान वायु—इस आवरण में गिरेहर, ग्रन्तिग्राम, दाय-द्रुत्वाम वा रुक्ता, वै लक्षण विलोप हैं। इसमें उपर्युक्त गोलों की विवित्स व्यान प्राणवृत व्यान वायु—इसमें गार्विक वृत्ति, द्वीप, द्वय, वर्ण का रक्त ही जाता है। गुल्मी भी हो सकती है। ऐसी अवस्था में दौलत जल में गोली द्वय पुर मिथ्यन करना चाहिये, गीरी को अपान देने सुन्दर व्यवहार विकल्प करना चाहिये। (Urticaria (f.) - Urticaria (f.) - Malaria)
6. उदानवृत प्राण वायु—इसमें गार्विक वृत्ति, द्वीप, द्वय, वर्ण का रक्त ही जाता है। यमन (छर्दि), दाय, काल आदि रोग उदान हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में व्यक्ति का प्रयोग व्यान वायु का अनुलोदन जरूर कर्त्त्वा चाहिये। (Oedema (f.) - Oedema (f.) - Malaria)
7. उदानवृत अपान वायु—यह उदानवृत व्यान में अपेक्षय उदान हो जाती है तो यमन (छर्दि), दाय, काल आदि रोग उदान हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में व्यक्ति का प्रयोग व्यान वायु का अनुलोदन जरूर करना चाहिये।
8. अपानवृत उदान वायु—इस आवरण में नोह, अग्निकं, ग्रन्तिग्राम उदान होता है। ऐसी अवस्था में दौलत व प्राणी अनुकूल व्यवहार देने वक्त्वा जल करना चाहिये। (Urticaria (f.)
9. व्यानवृत अपान वायु—इस आवरण में यमन, आपान उदानवृत, गुल्म व घटकतिंका रोग हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में लिंग द्रवों की विवर्तन वायु का अनुलोदन जरूर करना चाहिये।
10. अपानवृत व्यान वायु—इसमें मल-मूत्र व रुक्त की अवृत्ताम वै इन्वर्ति होती है। ऐसी अवस्था में औषध-अन-पान जलमें संबद्धी व स्वस्क द्रवों का प्रयोग करना चाहिये। (Diarrhoea)
11. समानवृत व्यान वायु—इसमें मूच्छां, तदा, प्रत्यान, अंतों में विवित्स, अग्नि-ओज-बल का नाश हो जाता है। इसमें व्यान व तमु पोषण हैं।

[Sindhu 10 04]
[Medicaments de development]
(वर्ति 222, 227)

(च.वि. 23.23, 209)
(च.वि. 23.209, 210)
(च.वि. 23.210, 211)
(च.वि. 23.211)
(च.वि. 23.212, 213)
(च.वि. 23.213, 214)

12. उदानायुत व्यान यापु—इस वायरण में अंगों में अस्वेदन, शारीरिक चोटाओं का नाश, नैत्रों का सराया नहीं पाये जाते हैं। इसकी चिकित्सा में अल्प य लघु धोगना अन्योन्यवायरण के शेष बचे हुये आठ वायरणों का ज्ञान पूर्णपात्र होता है। के आधा पर करना चाहिए।

संस्कृताच्यु आवरण^१

बातों के अलग-अलग आवरणों में प्राण तथा जीवनमयीता में से योद्धा से आवरण कष्टप्रद माना गया है।

आवाण असंख्य हैं

प्राणादि वासु के बीस अन्योन्यावरण तथा दोष-धातु-मल व अत्र के अपराह्न वाईं प्रकार कहे गये हैं ये प्रतीकात्मक हैं, व्यायाकि आवरण के न्यून या अधिक होने अनुगमन भी हो जाते हैं।

आवाप्त चिकित्सा सिद्धान्त से चिकित्सा

जनरल को अपनी में विजय वीत प्रकार की स्थिति बदली ते

- i) दोषों का दोषों पर आवरण
 - ii) दूषों का दोषों पर आवरण
 - iii) बात के भेदों का एक दूसरे पर आवरण

अतः उपर्युक्त स्थितियों को ध्यान में रखते हुये निम्नलिखित विकल्प चुनने चाहिए-

- आवृत तथा आवरक दोनों को ध्यान में रखते हुए चिकित्सा देनी चाही
 - आवरण का मूल हेतु 'आतोदोप' है, अतः चिकित्सा भी मूल: जस्ता ही की जाती है, परन्तु उस तक पहुँचने के लिये पहले आवरण से गुरुत्व जाना आवश्यक होता है।
 - आवृत वात में आवरक की चिकित्सा प्रथम तथा मूल हेतु चिकित्सा बाद में की जाती है जिसके लिये वांतव्याधि चिकित्सा में तत्त्वात्मक लिहाज, उपकरण एवं औषध-आहार की लगत्था वीजाती है।

- ✓ १. सम्बन्धस्थितिकाले देशराजनीतिस्तरपृष्ठ
दउनेकाहुँ अपने राज राज्य गिर सम्मु। (विवि. ३)
२. प्रभावोन्वयुक्तिराज्य बाह्य भूमिका सहजाईः।
एष राज्यकामय हाँनिरुद्धिरुद्धिः उपले पक्षा॥ (विवि. ३)
३. सम्बन्धु कालार्थं प्राप्तेऽपार्वते गुरुतरपात्राणं दृष्ट्य भावावरणेषु देशोन्तराताम्।
(सुनि. ५/२९ वा विवि. ४)
४. पितृः चित्तादि... नृपतिः॥

- | | |
|-----|--|
| 4. | यिरोग स्वयं से पिता, कफ के द्वारा घोटाएं के अनुग्रह होने पर कामुकुमित हो जाएं। |
| 5. | पित्रायरण (पित्रकल्पना) में संसुखय रिति लगायत् करने की प्रिक्षिता करनी चाहिए। |
| 6. | पित्रायरुष शात में झेंग में गोत-दृग्म इन्द्रानी (अन्यथा ग्रन्थ) पर ध्यान करना चाहिए। याताराटोगाधिकार में शोत्रों त्रिवर्णपूर्ण ग्रन्थ उपर भी इन्द्रानी की। |
| 7. | कफावृत वात में यथ (जी), जांस्त योग, दोषण अंडेनकाम, निरुद वस्ति, चमन, विरचन, पुराण वृत्, तिल व मरवे तेज का द्रव्यमान छाँटें। |
| 8. | आमाशय में कफ होने पर यद्यन करने, यज्ञशय वंश कल होने पर विशेषन करने, सार्प्यण शारीर में पित करने पर विशेषन करने छाँटें। |
| 9. | स्वेदन क्रिया के द्वारा द्रव्योद्धृत ढोका करने तब अज्ञात में जित्त हो जाय अवश्य कुपित पित अपने लक्षणों द्वारा गोत्र में इन्द्रान करने तो कक्ष और पित को वस्ति के द्वारा निकालें। |
| 10. | यदि कफ से अनुग्रह वात हो तो गर्भ गोत्यू विजाकर निरुद वस्ति, यदि वित से संयुक्त वायु हो तो शोत्र के साथ निरुद वस्ति के द्वारा इन्द्रान लगाया जाहिये तथा मधुर वर्ण की औपचारिकों से निरुद तेज से अनुवासन वस्ति का भी प्रयोग करें। |
| 11. | यदि कफ के साथ वात गिरःप्रदेश में चक्षा गत्य हो तो घृतवस्त्य आदि शिरोयेण नाशक विधियों का प्रयोग करन्द चाहिए। |
| 12. | रक्तावृत वात में 'वातारक्त' रुग्न के समान विकितका करें। |
| | प्रिया स्वधारणी सर्वी संस्कृते चर्चित रसायने। |
| | काते पित्रायरिति: गोत्रावृद्धृते विशेषतः ० |
| | गंगावृत्त जप्तप्रतितामा विशेषतावै प्रिविविक्ते । |
| | पित्रायरुषे पित्रोयेण शोत्रात्मका व्याप्रिक्षयम् । |
| | अवलक्षण व कर्यावेत शारीरिकवौती च शाश्वते ॥ |
| | कफवृत्तो यथावति यज्ञदाता मुख्यकृतः । |
| | स्वेदस्त्रीक्षणा निरहात वन्मने स्वेदेवनम् ॥ |
| | जैवी सर्वप्रस्तावा तैत्ति तित्वात्प्रवृत्तं हित् । |
| | आमाशयगते घृता करने वायनव्यवेत् ॥ |
| | पश्यन्ताये विशेषत तु पिते सर्वज्ञे तथा । |
| | स्वेदैर्विष्विनिता: स्वेत्या यथा पश्यन्ताये विशेषः ॥ |
| | पित का दर्हणायाम्बृतीत्वात्प्रविहित् । |
| | स्वेष्यवृत्तानुले वायनव्यवेत् ॥ |
| | पितैषो विशेषत निविरित शोत्रावृत्ते । |
| | गम्भीरप्रसिद्धै तैत्तिक्षमनुगमनम् ॥ |
| | पित्रोयेण तु लक्षके घृतवस्त्यादि करन्देत् ॥ |
| | सर्वीत्वो वृत्तो वायनव्यवेत्विक्षय ॥ |

13. आप से अनुरूप चाल में प्रयोग, चाल और गोद नामक चिकित्सा का एक विधि है। अनुरूप चाल में स्ट्रेन, अध्यंत, मीठा रस, धीर, मृत, रैल आदि प्रयोग की।
 14. अस्थि य भजा से अनुरूप चाल में प्रयोग करें। हर्डो अनुरूप चिकित्सा का एक विधि है।
 15. शुक्र से अनुरूप चाल में शुक्रत पर चलाप्रद औषध-आहार है।
 16. मूत्र से अनुरूप चाल में मूत्रल औषधि, उत्तर चरित य स्ट्रेन का प्रयोग करें। पुरीत से अनुरूप चाल में एरण्ड फैल चान, चिनाप द्रव्य रसायन य कलार य चिकित्सा करें।
 17. सर्व आवरण में अनभिव्यन्दि व स्त्रिय औषध य सोतो शुद्धि कारक चिकित्सा व औषध है।
 18. सर्व आवरण में कफ व पित्त के अविरोधी औषध य आहार इल लं याहनुलेपक, शोध हितकारी चिकित्सा प्रयोग करें।
 19. सर्व आवरणों में मधुर-उत्तुवासन वस्त्रियों के साथ-साथ गापन चालार्द प्रयोग करें, अथवा रोगी के बहु को देखकर मृदु विरेचक औषधियों का प्रयोग करें।
 20. सर्वी प्रकार के आवरणों में रसायन का प्रयोग करना चाहिये यथा-शिलावंब, मुमुक्षु, च्छवनाशा, अध्यामलकी रसायन, ब्रह्मरसायन।
 21. अपन वायु के आवृत हो जाने पर अधिनदीपक, ग्राही, वायु उत्तुलेपक, पष्ठकार्य विशेषिती चिकित्सा करें।

आन्योन्यायरण विकित्सा पिण्डान
 वायु के स्थान पर उसके व्यापारिक कार्य की गुरुदं और शय का विचार कर
 अवगत, स्लेह्यान, वित्त विकित्सा कर्म करने चाहिए। इस वर्ष जीव व्रत के दृष्टिकोण
 जीव-जारी रो करना चाहिए इसे ही 'अस्यागम' विकित्सा कहा जाता है। उदाहरण जीव के
 विकृत होने पर उसे विकित्सा द्वारा छाप यो और वे जीव का चाहिए। अस्ति वायु को
 अनुशोधक अवग-पान-औपचार द्वारा भीवं की ओर लान चाहिए। यजन वायु का गमन
 करना चाहिए। यान वायु के कुरात होने पर इसे उत्थानें, अपेक्षन और मध्य लाई में
 हो जाना चाहिए। इन चारों वायुओं से प्राण वायु को रक्षा करने चाहिए। उन्नयन के
 स्थान में रहने से शरीर की स्थिति ठंडक रहती है। ऐसे वायु विनां दो य दोसों में
 आपृत हो तो उसे लाने प्राकृत स्थान में, (ईचा देव चाहिए)। उन्नेक अन्य व्यापार व्यवस्था
 पूर्व में उनके लक्षणें सब वर्णित हो जा सकती हैं।

• ၁၃၂ •

४. सामान्य दोष की २२ विधिहस्ता ? -
इस शान्ति-वालदोषोः मात्र सं विद्युपदाज्ञाभृता
क्षमन्वितिर्कर्त्ता वस्तिक्षीः अभ्यन्तरा वा ॥

〔二〕

१.	इन्द्रकर्मिनां नमस्ते प्रणवेष्ट। स्वेच्छापूर्वमहोत्तमा पौरीत्वं हितः ॥	(च.पि. 28/155)
✓	सुरांक्षेपास्त्रियां पूर्वयोद्धां ऽग्नैः। अग्नयां द्विगुणः सर्वं देहं तद्गुणं ॥	(च.पि. 28/156)
✓	सूर्यां तु द्वैष व्याप्तिः गोदावर्यः। सूर्य ईशवराय लिप्यन्तवर्तितया ॥	(च.पि. 29/157)
१.	पिरिकर्मनः स्वेच्छापूर्वमहोत्तमः। अर्थपूर्वक्यां निरापि शंखां तु द्विकार्णेः ।	(च.पि. 29/236, 237)
१.	कर्मिनां विवरणं पद्मन चक्रगुणेभ्यः। सर्वस्त्रियां च अनु तद् कर्म यज्ञां ते हितम् ॥	(च.पि. 29/238)
१.	कर्मिनां विवरणं प्राणे मृते च दद्यात् । प्राणीय बलाधिकं पृथु च देहां हितम् ॥	(च.पि. 29/240)
१.	राजांक्षेपं सर्वाकारां देवं विवरणं विवरणात्। महोत्तमां विवरणं द्वाः विवरणम् ।	(च.पि. 29/241-242)
१.	वाङ्मुखानं च वाचाविवरणम् ॥	(च.पि. 29/243)

- | | |
|--|----------------------|
| १. स्थानावधेद्य..... स्थानकामदवचारेण। | (प्र.पि. २५/२१७-२१८) |
| २. ग्रन्थं योजयेत्पूर्वमपासने स्थानुदेशमेण।
सामानं हातपेच्छीय विषा व्यानं तु योजयेत् ॥
शारीरं इष्टप्रथापुर्वोऽपि स्थाने हातव विष्यति पृथुः।
स्थं स्थानं गायेदेवे कृष्णोऽपान विषांगान् ॥ | (प्र.पि. २५/२१९-२२०) |

अन्योन्यावरण चिकित्सा प्रिलेन

वायु के स्थान एवं उग्रके व्यापारिक कार्यों की गृद्धि और शय का विचार कर अपेक्षा, स्नेहपान, वाति विकितमा कर्वे करने चाहिए। उदाहरण के लिए इन के ब्रह्मनुगम जी-जीरी रों करना चाहिये इसे ही 'व्यापारम्' विकितमा करा देता है। उदाहरण के विकृत होने पर उसे विकितमा द्वाग ऊपर की ओर वे लकड़ी चाहिये। अचल वायु को अनुदोषक अग्न-पान-आपात द्वाग दोनों की ओर लाना चाहिए। यज्ञन वायु का गमन करक चाहिये। व्यान वायु के वृक्षालोने पर उसे उद्धोगाय, अपेक्षन और मध्य सार्व में ही जाना चाहिये। इन चारों वायुओं से प्रान वायु की रक्षा करनी चाहिये। उद्यन्यवु के स्थान में रहने से शरीर की स्थिति ठंडी रहती है। वर्ण वायु विनासी हो या दोनों में आपृत हो तो उसे अपने प्राकृत स्थान में (ईचा देव चाहिए)। उद्यन्यक अन्यन्यवर्ष व्यापक विकितसा पूर्व में उनके लकड़ीं काय वर्णित की जा चुकी है।

त्रयोदश अध्याय

उपद्रव व अरिष्ट विवेचन

उपद्रव (COMPLICATIONS)

आचार्य नाथवकार ने ग्रन्थ का विषय (अधिकार) उपद्रव, अरिष्ट, निदान व लिङ्
गों माना है। रोग को उत्पत्ति करने वाले दोषों के अवस्था प्रक्रोप से उत्पत्ति होने वाले अन्य
विकार ही उपद्रव कहे जाते हैं। "उप समीपे द्रवति हस्ति" अर्थात् जो व्याधि के समेत
रहता है उसे उपद्रव (Complication) कहते हैं। जिस दोष से व्याधि उत्पत्ति हो उसे
दोष से नुख्य व्याधि के पक्षात् उत्पत्ति होने वाला विकार ही उपद्रव है। यह उपद्रव
उपक्रम अविरोधी अर्थात् नुख्य व्याधि के उपचार से ही शान्त होता है।

उपद्रव ढोया या बढ़ा हो सकता है, लेकिन नुख्य रोग के ही आश्रित रहता है।
प्रधान रोग होता है और रोग का अप्रभावात्मक उपद्रव होता है। प्रधान रोग के खल्फ ही दोष
के बाद अप्रधान उपद्रव को शान्ति स्वयंमेव हो जाती है। यह उपद्रव शरीर में अधिक
पौड़ा करने वाला होता है, बच्चोंके प्रधान रोग के हारा शरीर के जर्जरित हो जाने के बाद
उत्पत्ति होता है। शरीर के दुर्बल होने पर जो भी उपद्रव होते हैं वह बाह्यकारी अवश्य होते
हैं। इसलिये उपद्रव की चिकित्सा शीघ्र ही करनो चाहिये।

उपद्रव की विशेषताएँ

उपद्रव को निम्न विशेषताएँ होती हैं—

- i) उपद्रव उत्पत्ति के तिथे अन्य दोष प्रक्रोप या सम्प्रति को आवश्यकता नहीं
होती है।
- ii) नुख्य व्याधि के शास्त्रानुसार लक्षणों से भिन्न लक्षण उपद्रव के रूप में उत्पत्ति
होते हैं।
- iii) उपद्रव को अप्रधान, प्रतन्त्र, अनुवन्य संज्ञा भी दी जाती है।
- iv) प्रधान रोग की चिकित्सा से ही उपद्रव (अप्रधान) शान्त होता है।

१. ग्रन्थानुसार उपद्रव को अन्य दोषों के विवरण।

(पुस्तकालय नामि १०)

२. व्याधोर्धी से व्याधिर्विकल्पकुलकर्तव्यः। उपद्रवाविरोधी च स उपद्रव उत्पत्ते॥ (ग्रन्थि १२ ओं उपरा)

उपद्रव उत्पत्ति

विवरणोऽप्यापेतः॥ (ग्रन्थि २१:४०)

- v) सबल उपद्रव की चिकित्सा शीघ्र करनो चाहिये।
- vi) प्रधान व्याधि तथा उपद्रव (अप्रधान) की चिकित्सा विरोधी नहीं होनी
चाहिये।
- vii) सभी व्याधियों में उपद्रव उत्पत्ति नहीं होते हैं।
- viii) उपद्रव को व्याधि कहा जा सकता है, लक्षण नहीं।
- ix) व्याधि की सामान्य अवस्था में उपद्रव उत्पत्ति नहीं होते व्याधि व्याधि व्य
ठग्र स्वरूप की होती है तभी उपद्रवों की उत्पत्ति होती है।
- x) साधारणता में उपद्रव का विशेष महत्व है क्योंकि उपद्रव उत्पत्ति होने पर
सुखसाध्य व्याधि भी कृच्छ्रसाध्य हो जाती है।
- xi) लक्षण भी यदि लम्बे समय (चिरकालातुबन्धी) तक रहे हों तो उपद्रव में
परिवर्तित हो सकते हैं।
- xii) आमुलिक चिकित्सा विज्ञान में एक रोग उत्पत्ति हो जाने के बाद दूसरा रोग
उत्पत्ति होने पर उसे उपद्रव (Complication) कहा जाता है।
- xiii) आचार्य वाभृ पूर्वरूप (Prodromal Signs/Symptoms) एवं उपद्रवों
को प्रतन्त्र व्याधि के अन्तर्गत मानते हैं। वो व्याधि के पहले हो वह पूर्वरूप
एवं जो व्याधि उत्पत्ति के बाद उत्पत्ति हो वह उपद्रव है।

विभिन्न दोषों के उपद्रव

विभिन्न संहिताओं में आचार्यों द्वारा विभिन्न मुख्य दोषों के उपद्रव निन्दातुसार वर्णित
किए गए हैं—

च्वर—कण्ठमूल शोथ, हिक्का, शास, पिपासाधिक्य, अतिसार, अनिमांष, कास,
दूर्चां, अस्विच, छार्दि, विद्युग्रह, अङ्गभेद आदि। (सु.३. ३९/२९५)

रक्तपित्त—दौर्बल्य, श्वास-कास, च्वर, अवस्था, पाण्डु, दाह, मूर्च्छा, विदाह, तृष्णा,
पृष्ठनिशेष, अनादेष, हृदपीड़ा, अतिसार आदि। (सु.३. ४५/१)

अतिसार—शोफ, शूल, च्वर, तृष्णा, शास, कास, अस्विच, छार्दि, हिक्का, मूर्च्छा
आदि। (सु.३. ३३/१), (मा.नि. ३/१४-१९)

पाण्डु—अस्विच, पिपासाधिक्य, छार्दि, च्वर, शिरःशूल, अग्रिसाद, शोथ, कफगत
इर्षता, मूर्च्छा, मलम, हृदपीड़ा आदि। (सु.३. ४४/१३)

प्रेने—तृष्णा, अतिसार, दाह, दौर्बल्य, पिह्का, अलवी, विद्युपि, अनिद्रा, आसास्य,
स्वर्वत्त, कफ, प्रतिरप्ताय, चक्षिकोपसर्ग आदि। (च.नि. ४/४८), (सु.नि. ६/१३)

¹ द्विष्ट लक्षणात्मकान्वय व्याधियोऽन्तः पुरुषोऽप्याप्ता। पुरुषोऽप्याप्ता वज्रः रक्तादुत्पत्तः॥ (म.प.१२/६०)

जलोदर—पार्टि, अतिसार, तमकधार, गुणा, कास, हिकना। ॥१५॥
मूषापात्र आदि। (च.चि. 13/52-54)

कुहु—प्रसव (पूर्णसाव), अंगभेद, अंगों के अवयवों का दृट्या। ॥१६॥
ज्वर, अतिसार, दाह, दीर्घत्व, अरोचक, अविषाक आदि। (च.चि. 5/11)

रुम्माद—अवाल्मुख (मुख सदा नीचे रहना), उम्मुख (मुख सदा ऊपर रहना)
मास व बत झोण होना, आनिजा आदि। (सु.सू. 33/25)

अरिष्ट विवेचन

परिभाषा—विन लक्षणों से रोगी की भावी चिकित्सात्मक मृत्यु का जान होता है। इन्हें 'अरिष्ट' या 'रिष्ट' कहा जाता है।

स्वास्थ्य—जो बढ़े हुए दोष चिकित्सा के फल को विफल कर रखता है। इसके बाद विन लक्षणों को उत्पन्न करते हैं उन्हें 'अरिष्ट' कहा जाता है। दोष अविमात्रा में कुपित होते हैं तो शरीर निर्माणक पञ्चमहाभूत को विघ्नित करते हैं और रोग को ऐसी भयंकरता उत्पन्न कर देते हैं जिसमें चिकित्सा लाप ही नहीं करती है। अरिष्ट इन्द्रिय (Sense organs) व्यापार की विकृति से उत्पन्न माने जाते हैं।

व्यावार्य चरक ने अरिष्ट सम्बन्धी बारह अध्याय युक्त स्वतन्त्र 'इन्द्रिय स्थान' का संरचना का है जो कि वास्तव में आयुर्वेदीय रोग-चिकित्सा विज्ञान (Pathology) का स्वरूप ही प्रतीत होता है।

विस प्रकार उत्पन्न होने वाले फल का पूर्वलूप युक्त होता है उसी प्रकार मात्र युक्त के शरीर में 'अरिष्ट' नामक लक्षण पूर्वलूप होता है। इन्द्रिय स्थान (अरिष्ट स्थान) का महत्व चिकित्सा में व्याप्ति के परिणाम (Prognosis) की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

अरिष्ट भेद

व्यावार्य चरक ने अरिष्ट के निम्न युक्त दो भेद चर्चित किए हैं—

(१) अनियत अरिष्ट—ये अरिष्ट अनियमित होते हैं। ये कभी-कभी दैवतिन चिकित्सा (यथा मन्त्र, पूजा, पाठ से) अथवा रसायन चिकित्सा के पूर्ण प्रयोग से टल जाते हैं।

1. विचारावधारण विकृतिपूर्ण।
2. विषयवस्तुतावधारण; केवल दैवतिन्युक्त।
3. विष्ट कुर्वन्ति वर्षावान वार्ते नियमित।
4. युक्त चरा युक्तं परामोदं भविष्यतः।
5. इव तिष्ठयावान् युक्तं विकृतिः।

(परि. १३)
(परि. १५)
(परि. १६)

उपद्रव व अरिष्ट विवेचन

(२) नियत अरिष्ट—नियतमानुषयात्रक रोगों में ये नियत अरिष्ट कहे जाते हैं। निया अरिष्ट भी नियम दो प्रकार के होते हैं।

(अ) मुकुर्याश्रित—ये अरिष्ट लक्षण अनुरुप में रहते जाते हैं। यथा—यज्ञ, स्वर, गंध, रस, स्पर्श, पूर्वलूप, लय, उत्तरव, स्वर, रोत्त, रोत्त, अकृति, छाया, प्रतिश्लाया आदि सम्बन्धी लक्षण दृष्ट में।

(ब) मुकुर्यमनाश्रित—यह अरिष्ट लक्षण अनुरुप में यज्ञार्थित अन्य भावों में पाये जाते हैं। यथा—दूत विषयक, शकुर्विषयक, अन्नविषयक, पद्मविषयक आदि।

अरिष्ट के अन्य भेद

i) सद्योमारक

ii) कालान्तरमारक

वस्तुतः रोग एवं रोगी के शरीर में उत्पन्न हुए अरिष्ट लक्षणों को देखते हुए चिकित्सक को स्वविवेक से अरिष्ट सम्बन्धी नियंत्रण सेना चाहिये।

अरिष्ट व उपद्रव में भेद

अरिष्ट व उपद्रव में निम्न भेद होते हैं—

अरिष्ट

उपद्रव

- | | |
|--|--|
| 1) अरिष्ट मरण सूचक लक्षण होते हैं, व्याप्ति नहीं। | 1) प्रधान व्याप्ति के पहले उत्तर काल में होने वाले लक्षण हो उपद्रव कहे जाते हैं। |
| 2) नियत अरिष्ट की चिकित्सा नहीं होती है। | 2) प्रधान व्याप्ति को चिकित्सा से हो उपद्रव भी शान्त हो जाते हैं। |
| 3) अरिष्ट उत्पन्न होने पर व्याप्ति को प्रत्यालोक्य की असाध्य क्षमता में रखा जाना चाहिये। | 3) सुखसाध्य व्याप्ति भी उपद्रव उत्पन्न होने पर कृच्छ्र साध्य अथवा असाध्य हो जाती है। |

अरिष्ट यहस्त्य

चिकित्सक के प्रश्नापराप्र के कारण अरिष्ट नहीं होने पर भी अरिष्ट मानना और अरिष्ट होने पर भी अरिष्ट न देख पाना और रोगी को मृत्यु हो जाना संभव है। चिकित्सा में

1. यद्युपावेशी भौतिक्याणं कर्त्तव्यात् तुरुषमन्विताणं, कर्त्तव्यव्युत्पाद्याणं। तत्र चर्तुं पुरुषप्रक्रियानि व्याप्तुरेतानि युक्तिना परीक्षेः, पुरुषस्त्रयाणि पूर्णः प्रकृतिं विकृतिः।" (च.क. १/४)
2. विष्ट्युपावेशी भौतिक्याणं कर्त्तव्यात् तुरुषमन्विताणं। भर्तुं चाऽप्यताम्युद्देश्यं प्रक्रियान्। (च.क. १/६)

साध्यासाध्यता का विशेष महत्व है। आरोग्यों ने निर्देश दिया है कि आगुर में जब रोग कम्पनी प्राप्त है तब तक चिकित्सा करनी चाहिये, फिन्नु रग्ग य असाध्य रूप में रोगों के बारे में आगुर के निकट सम्बन्धियों को सूचित कर देना चाहिये। रोग की चिकित्सा उपरोक्त के पूर्व साध्यता य असाध्यता के बारे में निश्चय कर सेना चाहिये। रोग गाँव में, चिकित्सक को प्रत्यक्ष कर्माचारों का ज्ञान हो, तथा चिकित्सा समय पर की जाए तो, चिकित्सक को सफलता अपश्य मिलती है। साध्यासाध्यता को इसी से व्यापि नाम दिया की होती है—

- | | |
|-------------|-----------------------------|
| i) सुखसाध्य | ii) कृच्छ्रसाध्य |
| iii) याच्य | iv) प्रत्याख्येय (अनुपक्रम) |

उपर्युक्त में से चारि प्रत्याख्येय व्यापि में अद्वितीय लक्षण उपरिचय होते हैं। अतः सुदृढ़मान चिकित्सक को चाहिये कि वह रोगों के साथ, याच्य, द्वं अलाप्य, अद्वितीय लक्षणों की धौकाएं कर साध्य रोगों में चिकित्सा कर्म शीघ्र प्राप्त करें।

विभिन्न रोगों में मुख्य अद्वितीय लक्षण

i) इन्द्रिय विषयक अद्वितीय

- वर्ण—नीत, स्थाव (Cyanosis), ताप्र, हरित, शुक्ल ये वैकारिक वर्ण हैं। ये वर्ण संखिया विषाक्ता, मूत्रविषयता (Uraemia), रक्तविषयता (Toxaemia), पाण्डु (Anaemia), अर्वृद (Cancer), चासायरोध (Respiratory Failure) आदि रोगों से ग्रसित रोगी में देखने को मिलते हैं।
- स्वर—वैकारिक स्वर ऐड सदृश्य, ग्रस्त, अव्यक्त, गदगद, क्षीण, दीन, अनुकूल होता है। यह स्वरअद्वितीय कुष्ठ, फिरंग, स्वरभेद, राजयक्षमा, काहगा अर्वृद (Larynx Cancer), अद्वितीय, हिक्का, चास, उम्माद आदि रोगों में मिलते हैं।

- किन्तु वर्णविषयक अद्वितीय रूपों में विविध व्यापि स्वरित्येव च ॥
- पितमा प्रकृति चर्वित्येव विषयत्वं स्वराक्षयम् ।
प्रकृति चर्वित्येवः वर्णः स्थायु पीपाः ॥ (च.सृ. 10/19,20)
- स्वराक्षयाद्वितीय अनुकूल वर्णः स्वराक्षय वैकारिक परान्ति, स्वराक्षयेष्वर्णविषयतात् प्रत्येकमुवासां पूर्वोपासां ॥
- प्रत्येकमुवासां पूर्वोपासां गर्वत्यः ॥ (प.1. 1/9) (प.3. 1/15)

(च.सृ. 10/19,20)
(च.सृ. 10/21)
(प.1. 1/9)
(प.3. 1/15)

उपद्रव य अद्वितीय विषयत्वम्

287

गन्ध—आगुर शरीर में विभिन्न पृष्ठाओं, घन्त, कृद, नम, मणु, मूर, माला, शर्व की गन्ध आवा अद्वितीय रूप है। मूरान्त्र को दूरीय य दुर्गम्य की सुन्दरी समझना भी अद्वितीय है। यह गन्ध सधुमेह, कौष या गहन (Gangrene), बढ़ागुदाद (Intestinal obstruction), मूत्रविषयता, मुख्यमुख्य स्विधिपि (Lung abscess), पीठम, दम्भद आदि रोगों में पायी जाती है।

रस—मरणासन्न पुरुष का रस अवश्यन विस्त य अवश्यन नपुर हो जाता है। विस्तता में शरीर पर से मरणी, युक्त, मरक, दंड (जो, घटनत) अद्वितीय होता हो जाते हैं। अवश्यन नपुर शरीर में स्नान वशात् चन्द्र-केतन का सेप करने के बाद भी मरकियों शरीर पर बैठते हैं। यह अद्वितीय नपुर, मूत्रविषयता, रक्तविषयता अद्वितीय रोगों में देखने को मिलता है।

स्पर्श—स्पर्श से आगुर शरीर को शम्पूने रोकने को जाता है। स्पर्श स्मृदन करने वाले (Carotid artery, Radial artery) अवश्यन में स्मृदन न होना, सर्वदा उष्ण रहने सही भाग का रौत होना (Peripheral Circulatory Failure), मृदु प्रदेश का दाढ़ छाना अद्वितीय स्पर्श है। ये लक्षण चक्षुधात, जलाहास (Dehydration), अवसाद, हृदयाधात (Cardiac Failure), मस्तिष्काधात (Brain Failure) आदि रोगों में देखने को मिलते हैं।

ii) पूर्वरूप विषयक अद्वितीय

निम्न रोगों में पूर्व रूपों से विभिन्न असाध्य रोगों का ज्ञान करने में सहायता मिलती है—

- ज्वर—संहिता में विविध समस्त या अधिकदा पूर्वरूप ज्वर में प्रकट हो तब मूल्यु निश्चित होती है।
 - वृष्टय-चन्द्रने कुरुं प्रगत्युपाली मणु ।
प्रत्यं मूर्युपीये च मूरानि कुचायानि च ॥
ऐ चाचे नितिकल्पाने गन्धा विषयपोदेशः ॥
तेऽप्यनेनानुग्रन्थेन नितेया विकृति गतः ॥ (प.3. 2/13-14)
 - “अद्वितीयास्पैतल्यकर्मपूर्वपदोः ।
स्वदुत्त्वयरप्यापि विकृति भजते रातः ॥
“मैत्रिकर्त्तीव यूकास दंशात् वाहौः ॥ रातः ॥
गितात्प्रपार्पिणि, जलोः कापान्युपीयः ॥
अस्तीतिसंकारं कापात्प्रपार्पिणि विकृति गतः ॥ (प.3. 2/21, 22)
 - अपि नन्तरुशिलान्यानुमानिति सर्वाः ॥ (प.3. 3/4)
 - प्रपार्पिण्याने..... स्वामुद्रास्त्वातोऽन ॥
 - पूर्वरूपानि सर्वाणि व्याप्तेऽन्तिमाशयानि । ये विशिष्ट विहरनेन पूर्वान्तर्गतः सर्वः ॥ (प.3. 3/4-5)
 - अन्यन्यपि च रोगस्य पूर्वरूपानि च चाप् । विशिष्टवेन व्याप्तेन विवरणात् विवरणः ॥ (प.3. 3/4-5)

काय-चिकित्सा

288

- ii) राजयश्मा—विस बम्बा (Tuberculosis) के रोगी का यह भूमि है, प्राणीश्वय घड़ना जाता है एवं रोगी स्वी प्रसाद में अधिक आम है, उमड़ी बम्बा रोग से मृत्यु हो सकती है।
- iii) रक्षित—जो आगुर अनेक साथीप से ही आकाश को लाता है, जो में हुए सब्ज़े के समान रक्षणीय का देखता है यह रक्षित रोग गे १००% जीव हो जाता है।
- iv) गुल्म—विस गुल्मों के उदाहरण में आटोप, शूल, आन्वयन, जांत्रु दुर्बलता, नाड़-भूत-गुल्म व नेत्र की विवरणी (Discolouration) हो जाती है गुल्मों मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।
- v) प्रमेह—विस प्रमेहों के शरीर पर स्नान व चन्दन लेप पथार भी मृत्यु का जाकर शरीर पर ठंडातों हैं वह व्यक्ति प्रमेह रोग से मृत्यु को ग्राह जाता है।
- vi) कुह—विस कुहों के शरीर पर तुण आदि किसी भी वस्तु से भूंड़ा भूंड़ा कठिन स्वर्ण बात्र से ही कुह (Trophic-Ulcers) हो जाय और अधिक ज्ञाय प्रयत्न से अच्छी चिकित्सा करने पर भी कुह स्थान न भरे, इनके बाद होने वाला कुष्ठ उस व्यक्ति को मार डालता है।
- vii) अप्स्तार—जो व्यक्ति अप्स्तार में अन्धकार न रहने पर भी अन्धकार को देखता है एवं शब्दों के न रहने पर भी अनेक शब्दों को सुनता है तो वह संभव अप्स्तार रहने पर मृत्यु को प्राप्त होता है।

III) रुप (लक्षण) विषयक अधिक

ज्ञानार्थी ने निम्न रोगों के अधिक सूचक रूप तथा उपद्रव देखकर चिकित्सा = कारे व निर्देश दिया है-

- i) विस रोगी को गम्भीरता हिका तथा रक्तालिसार हो उसे अधिक न दें।
- वाट च _____। जीवित म विपुन्नति॥ (च. 5/7-9)
 - स्वास्थ्य-व्यापक, राजन्य-व्यापकम्। म रक्षणात्मकाय लैवानाय नीयो॥
 - राजन्य-व्यापकम्। राजन्य नुर्हाम्। द: अनेक विस चर्चा न रहे प्राप्त सीदति॥ (च. 5/10, 11)
 - दृष्टिकुरु च दैवतं विवितवय। नक्षिद्वु च वैवर्ग्य मुमीनालकरोऽहः॥ नह वर्तीन्द्रे पास दृष्टि दृष्टि नीयो। विस गुल्मालकराप हुये विवित मानवद्॥ (च. 5/12-13)
 - स्वास्थ्य-व्यापकम् विवित मुर्हाम् विवित। व विवित स्वित्ति प्राप्त होन्ते॥ मैर वृत्तिर्व विवेकाः। यः: च विवित। विवेके से प्रोत्तेष्व स्वास्थ्यते। तथा व्याप्त॥ (च. 5/14, 15)
 - सांस: भावित संस्कृत मुक्ताः दृष्टि दृष्टि। भावित च न दैवति भुक्तिर्वृत्तिर्वित तथा॥ न व्यक्तव्यापकम् दृष्टिर्वृत्तिर्वित। विवित विवित स्वास्थ्यते। विवित विवित॥ (च. 5/16, 17)
 - भ्रमम् वार्ता च वृत्तिर्वृत्तिर्वित। वह वृत्तिर्वित विवित विवित विवित॥ (च. 5/18, 19)
 - मैर वृत्तिर्वित दृष्टि दृष्टि व विवित। विवित विवित विवित॥ (च. 5/20, 21)
 - विवित विवित विवित विवित विवित। विवित विवित विवित विवित॥ (च. 5/22, 23)

- ii) किसी भी अन्य रोग मे दुर्योग मात्रा को अनाद तथा अदिनार दोनों रोग एक साथ हो। तो उक्ता जीवित रहना दुर्योग होता है।
- iii) बल व मांस ये हीन विस गंगी को प्रसाद तुर्यं ज्ञाता है एवं मृत्यु काम (Dry Cough) भी तो तो यह गंगी को मृत्यु को प्राप्त होता है।
- iv) जिस रोगी का मृत्यु तथा पुरीय प्रश्नित हो, जोगे में नासांगीनदा हो, उम व उदार रोग से पीड़ित हो तो वह मृत्यु को प्राप्त होता है।
- v) जिस रोगी ने शोथ उदार से प्राप्त होकर उन्नाट मे उत्तरता है वह मृत्यु को प्राप्त होता है।
- vi) विस व्यक्ति के वक्ष प्रदेश मे रहने वाला कन (Sputum) अदि ज्ञान मे नीता, भोला एवं रक्तमिक्रित वर्णमुक्त सर्वदा विकलता रहता है तब मृत्यु को प्राप्त होता है।
- vii) जिस रोगी को शोथ पद्धति व्यवहार अदि ज्ञान अद्या उदार, अदिनार वक्षता, शोथ हो तो वह मृत्यु को प्राप्त होता है।
- viii) जिस व्यक्ति के बल, मांस, विजान, अवस्था, डडनी-दौड़, रक्त रोधदा से नष्ट होते हैं वह मृत्यु को शोध्र प्राप्त होता है।

IV) स्वप्न विषयक अधिक

स्वप्नों का प्रयोगन स्वस्थ तथा असुर इन दोनों के लिये भवित्व रहते बताने वाले होते हैं। मृत्यु जब पूर्ण रूप से निद्रा के बराबर्भूत नहीं रहता तब इन्द्रियों के अधिकार मन होता है। ये की सहायता से सफल या विफल अनेक तरह के स्वप्नों (Dreams) को देखता है। ये की सहायता से सफल या विफल अनेक तरह के स्वप्न दृष्टि, शूल, अनुभूति, प्रार्थना, कल्पित, भाविक इव दोनों भेद से सत्ता तरह के होते स्वप्न दृष्टि, शूल, अनुभूति, प्रार्थना, कल्पित, भाविक इव दोनों भेद से सत्ता तरह के होते हैं। मृत्युकाल में अति बलवान विद्योदयों से जब मनोवाही सततत् दूर्व हो जाते हैं तब है। दृष्टि, शूल, अनुभूति, भावित, कल्पित, भविकर कष्टकारी स्वप्नों को उत्पत्ति होती है। दृष्टि, शूल, अनुभूति, भावित, कल्पित, भविकर कष्टकारी स्वप्नों को उत्पत्ति होती है। रात्रि के प्रयत्न प्रहर का देखा गया दिवास्त्र, अतिहस्त्रदीर्घ स्वप्न विफलता रहता है। रात्रि के प्रयत्न प्रहर का देखा गया स्वप्न अल्पकलदायक एवं प्राप्तःकाल का स्वप्न विसे देखकर मृत्यु रहने न किया वाय स्वप्न अल्पकलदायक एवं प्राप्तःकाल का स्वप्न यादि आत्मर को दिखे हो उसे मृत्युकालक महन फलदायक होता है। अरिष्ट सूचक स्वप्न यादि आत्मर को दिखे हो उसे मृत्युकालक

- ज्वरः दीर्घिको दृष्टि गुल्माकासक दृष्टि। अतिवासिवेष्वर्व दृष्टि देखतादेव सः॥ (च. 6/10)
- पस्य मृत्युं दुर्योग च विवित सोष्यतातै। विलम्बो व्याप्तिः। भवते च च विवित॥ (च. 6/11)
- दोषुकुरुषु देष्वा नीता: पीतः सरोहितः। मातां अद्यो दृष्टि दूरान् दीर्घिकेऽप्तुः॥ (च. 6/12)
- वह विवानमारीवं प्रदृष्टो दृष्टि दृष्टि दृष्टि दृष्टि दृष्टि दृष्टि दृष्टि दृष्टि दृष्टि दृष्टि॥ (च. 6/13)
- नवित्ताः। पुरुषः। वार्तावनपत्तात्तवा। अद्योदेत विवान विवान् विवान्देवतः॥ (च. 6/14)
- दृष्टि मृत्युं दृष्टि दृष्टि॥ (च. 6/15)
- मनोवाही वृत्तिर्वृत्तिर्वित। विवित विवित विवित विवित॥ (च. 6/16)
- गत विवित पूर्ववक्षलं विवितदेवतुः। विवितव्याप्तिविवित विवित विवित॥ (च. 6/17)
- हृष्ट व्रव्याहृष्ट च दृष्टि दृष्टि दृष्टि दृष्टि दृष्टि दृष्टि दृष्टि दृष्टि दृष्टि दृष्टि॥ (च. 6/18)

समझना चाहिए एवं स्वस्थ पुरुष को दिखाई दें औ उसे दारण रोग नै भवान्य मि गान्
होना समझना चाहिए यद्या-

1. शिरः प्रदेश पर घंसा (बांस), गुलम, लात की उत्पत्ति दिखाना।
2. स्वन में तिर के बाल मुश्छित हो जाना।
3. स्वन में गिर्द, उम्म, कुत्ता, कौआ आदि से पिर कर पराजय रान्नागता।
4. राक्षस, घोड़, पिशाच, स्त्री, चाण्डाल, प्रविह एवं आन्धक ऐश्वर्यानि ते
पराजय स्वीकार करना।
5. स्वन में स्नेहचन, अध्यंग, बव्यन, पराजय, सुवर्ण प्राणि, वप्तन, विरन्त
आदि देखना।
6. कुट्ट में गिरना, नदी में बहना या ढूबना।
7. चढ़, नूर, दोप व लारे देखना।

इन प्रकार शास्त्र में संक्षेप में दारण स्वप्न वर्णित गये हैं।

V) दूत सम्बन्धी अरिष्ट

दूत (Messenger) विषयक विचारों या घटनाओं का विश्लेषण बताने से भी अरिष्ट दूत सम्बन्धी घटनाओं का ज्ञान प्राप्त होता है। अतः दूत सम्बन्धी अरिष्टों को निम्न बोल
करने में चाहे वा सकता है-

(i) चिकित्सक की स्थिति विषयक अरिष्ट^२

- जो दूत चिकित्सक के यज्ञ करते समय या पिण्डदान करते समय आते हैं वे
अरिष्ट सूचक हैं।
- जब दूत चिकित्सक को बुलाने आये उस समय चिकित्सक निद्रालोन हो या
किसी बन्धु को खाट रहा हो तो यह अरिष्ट सूचक है।
- चिकित्सक जब अपने केरों को खोले हुए हो या नग्न अवस्था में हो तब
समय दूर के आने पर अरिष्ट सूचक है।

(ii) स्थिर दूत विषयक अरिष्ट^२

जब दूर दौन-हाँस हाँकर, भयभीत होकर, दीड़कर, घबड़कर, मलिन वेप में आये
तो आतुर या मरणासन समझें। दुर्लभत्र स्त्री, पंगु, अन्ये व नरुंसक दूरों का आना भी
अरिष्ट सूचक है। जब दूर गये या फैट की सवारी कर चिकित्सक के पास आये तो यह
अरिष्ट सूचक है।

- | | | |
|--------------------------------|------------|---------------|
| 1. गर्वेतराहै, अप्तने | प्रमुखता ॥ | (च. 5/8-12) |
| 2. दूरपर्याप्त वस्त्राने | प्रमुखता ॥ | (च. 13/9-15) |
| 3. दैर्घ्येत्पुरुष | पुरुष ॥ | (च. 12/16-18) |

(III) घब्ब विषयक अरिष्ट^२

अल्पान्तरीक्षणार्थ यात्रा करते समय पथ में निम्न अनुभ लक्षण दिखाने पर अरिष्ट
समझना चाहिए-

- छीक (शब्दयु), रोदन, सहश्राङ्गन, गिरना, विष्वन, चोट लगना, टोक
लगना, निदा का राष्ट्र मुनना, यम्भ, पाण्डी या दुर्दृष्ट का किसी कोट या
अन्य वस्तुओं में लगकर रुक जाना।
- घ्वज, पताका का गिर जाना।
- घिली, कुत्ता या सर्प के हाथ गुला करना।
- खाट, आसन, सवारी गाड़ी का उत्तल रखने देखना।

VI) आयु सूचक अरिष्ट

चिकित्सक को निम्न अरिष्ट लक्षणों के आधार पर आतुर के मृत्यु कलत का अनुमान
करना चाहिए-

- (i) एक वर्ष का अरिष्ट^२-जिस व्यक्ति को सारे शरीर की अंतिम (कांति) अल्प
हो गयी हो अथवा जठराग्नि विलक्षुल नम्द हो जाये हो, रोगी ज्वर विन चंचल
रहता हो, शरीर की लाया सुंदर प्रतीत न हो, नव जदा दुर्को रहता हो, कहों
भी किसी भी कार्य में मन न लगता हो, जिस व्यक्ति के हाथ दो गाये बति
खाने वाले जीव नहीं खाते हों, जो पुरुष अस्थनी न्यनक दाते को नहीं देख
पाता है, जो व्यक्ति बिना किसी कारन के रोगा, शरीर को पुष्ट और घन-
धान सूचक रखा आदि को शरीर में प्राप्त करते हैं, उन तभी का जीवन एक
वर्ष के अंत में नष्ट हो सकता है।

- (ii) छह मास का अरिष्ट^२-जिस व्यक्ति के भोक्त, स्वप्नाव, स्वरण शक्ति
(Memory), त्वाग, चुम्हि एवं बल बिना कारन हो नष्ट हो जाते हैं, जिस
व्यक्ति के मस्तक पर सहसा धमनियों का सुंदर जाल दिखाई पड़े, जिस
व्यक्ति के ललाट के ऊपर चन्द्रमा को तरह टेही रेखाओं का समूह दिखाई
पड़े, उस व्यक्ति को आयु छह मास में समाप्त हो सकती है।

- (iii) तीन पक्ष (डेढ़ मास) का अरिष्ट^२-जिस आतुर के तीव्रता के साथ बल व
यांस क्षय हो रहे हों, तीव्रता के साथ रोग बढ़ि हो रही हो, आतुर अरोचक से
पीड़ित हो तो वह व्यक्ति तीन पक्ष (1/२ मास) में ही मृत्यु को प्राप्त होता है।

1. "अश्वाध्ययोत्सुकृं" । रुदान्त विशिष्टता ॥ (च. 12/35-31)
2. अनुभवेतिनेकाप्ति दुरुणाये दुरुषाः सदा । तर्ति न रापते पर्याप्त स्वच्छताम् ॥ (च. 11/3)
3. चाहृं चतिपृष्ठे
 त्वस्य जीवितम् ॥ (च. 11/4-6) |
4. भृषि: शोर्व
 समादितोऽृ ॥ (च. 11/7-9) |
5. वसन्तासामयस्तीतो रुदान्तिरोत्पकः । यस्त्वात्तुराम्य सहस्रने शैवू पश्चात स जीवति ॥ (च. 9/22)

- (iv) एक मास का अरिष्ट—जिस आतुर का शरीर विना प्राण हो ॥१०॥ यहाँ है, मृत्यु होती है। चतुरा-पित्रा-योलना गणाहो पुरुष गः पूर्व गः, जिस का हाथ-पैर-मुख विशेष रूप से शुष्क हो गये हों वे गुण यहाँ स्थापनीय हैं, सलाट य परिस के ऊपरी भाग में चढ़ावा गये होते हैं ॥११॥ यहाँ रेतारे प्रतीत हो वह व्यक्ति एक मास में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।
- (v) अर्धमास का अरिष्ट—जिस पुरुष के शरीर पर खान पान उत्तम लंगन के बाद सबसे पहले छाती (शर्दा) का भाग गूदा जाता है वे शरीर ना अन्त भग गैला रहता है वे वह पुरुष पन्द्रह दिन (एक पद्म) तक ही जीवित रह सकता है।
- (vi) सद्योपरणीय अरिष्ट—शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होने वाले मनुष्य में निम्न उत्पन्न देखने को मिलते हैं। शीघ्र या सद्यः से यहाँ ३ दिन या ७ दिन तक जाता है।

- वितके हृदय में बहुत बड़ी यज्ञाशीला तृष्णा के साथ उत्पन्न हो गयी है।
- दिलके शरीर में चलायमान वायु पिण्डलियों को शिथिल कर एवं नासिका को टेकाकर शरीर में चलाती है।
- विस पुरुष की भीष्म अपने स्थान से चला हो गयी है, शरीर के भीतरी भागों में भयंकर दाह हो रहा हो एवं साथ ही हिक्का उत्पन्न हो जायें।
- विसका सारा शरीर बात प्रकृति से व्याप्त हो, मल पातला हो, शाराज शोष हो, वह शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होता है।
- किसी भी रोग से पौष्टि रोगियों में तृष्णा, शास, शिरोरोग, मूर्च्छा, दुर्बलता, कन्धकून, पलता मल हो जाय तो वह शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होता है।
- विस व्यक्ति के शरीर में प्रवाहन की तरह लाल मसूरिकायें उत्पन्न हो जायें वह शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होता है।

VII) आहार विषयक अरिष्ट

चिकित्सक द्वारा उत्तम रीति से निर्मित किए गए आहार द्रव्यों का प्रयोग करने से व्यक्ति में कोई लभ प्रतीत न हो तो रोगी का जीवित रहना दुर्लभ है^१।

1. ० इन्द्रियः संवेदो गतिविवरणेव । यद्यप्येवेत्पर्यन्ते पद्य यासं न जीवति ॥ (च. 11/10)
2. इन्द्रियं पूर्वं न जीवति ॥ जीवितुमहीति ॥ (च. 12/12)
3. यम ॥ न जीवति ॥ (च. 12/5)
4. अन्तुं पर्वतेर रात्रो दद्य वेत्तव्यम् । भित्ति पूर्वं तृष्णा च स्तो जहात् स जीवितम् ॥ (च. 12/14)
5. दृष्ट्याद्यन्तोऽप्तेन तेष्टैवेत्पर्यन्ते ॥ पूर्वः प्राप्ताप्रहास्यतु शृङ्गेनेन चलुः ॥ (च. 12/21)
6. उष्णकार्याद्यन्तं दद्य यज्ञे पर्युक्तः । उष्णपूर्वं विकर्षयन्ते न विषां स विवरणति ॥ (च. 12/14)
7. वा रुपुरुद्यन्ते विषां मृष्टिविषम् । दः वर्त्त तप्य नाश्विति दुर्लभं ताम् जीवितम् ॥ (च. 12/1)

उपद्रव य आरम्भ विवेचन

VIII) औपथ विषयक अरिष्ट

चिकित्सक जिस आतुर का ठंडेय लेकर औपथि परिक्रम से जनना चाहता है वा औपथि का प्रयोग प्रवलपूर्वक करना चाहता है, वर का न सकता हो तो उस आतुर का जीवित रहना दुर्लभ है^२।

- जो औपथि अनेक बार प्रयोग करने पर सकल मिठ दूध होती है, विधि सम्मत उसका निर्माण य प्रयोग किया गया हो, तर वह आतुर के रोगनाशन में सकल मिठ न हो तो उसका जीवित रहना मुश्किल है।

IX) भूत्र-पुरीष व शुक्र विषयक अरिष्ट

विस पुरुष का मूत्र, पुरीष व शुक्र जल में ढालने पर दूध जावे दूध व्यक्ति अपने पीछवा, हिंसा से देव करता हो तो वह मृत्यु रूपी जल में दूध जाता है।

*** लोकुम्भी ***

1. यप्तिवातुं दीयः सोकर्त्तिकृत्यावधाम् । यद्यमन्ते न शान्तेति दुर्लभं ताम् जीवितम् ॥ (च. 12/6)
2. विद्वां पूर्वः गिर्द्वं विप्रियव्यापारितम् । न तिष्ठत्यर्द्वर्पं दद्य चारो ताम् विकितिम् ॥ (च. 12/7)
3. लोमपूर्विवरणं यस्य मन्त्रिति धाम्पतीम् । ग यस्ताम् सर्वदेहो मृत्युर्वर्तीन यवति ॥ (च. 11/11)

पा. पि.- 20

विफलता में सहायक अंदू

295

चतुर्दश अध्याय

चिकित्सा में सहायक अंडे

विकितसा इन के पूर्व विकितसा के सहायक अंगों का ज्ञान भी परम अवश्यक किताब के मुख्य सहायक अंग निम्न हैं—

- व्यापिक्षमत्व व राजीविक बल
 - विकार अनुत्पत्तिकर एवं विकार प्रशामन चिकित्सा
 - औषध सेवन सम्बन्धी नियम
 - अनुपन विवेचन
 - दृष्टि एवं अष्टविध आहार विशेषायतन
 - अपथ च दैरोधिक आहार-विहार
 - आत्मचिक आमुखेंद्रीय औषध योग
 - आदर्श आत्मरक्षत प्रबन्ध

उत्तरी वर्षित चिकित्सा में सहायक अंगों का क्रमशः वर्णन दिलावत्तम् ।

1. व्याधिक्षमत्व या व्याधि प्रत्यनीक क्षमता (Body Resistance /Immunity)

माध्यिकसत्त्व शरीर को उस विशिष्ट रूप को कहते हैं जो व्याधि के बत छोटानी है एवं व्याधि को ढासन होने से रोकती है। शरीर में रोगोत्पत्ति को प्रतिवर्गित करने को व्याधि प्रतिवर्गक समाज कहते हैं।

आधिकारिक प्रतिक्रिया का सवाल पूछ दें। मात्र ऐसा उत्तर है-

- पहुंच से गंगा साधन होते हुए भी बिना किसी विकित्सा के ही खल हो जाते हैं तथा बहुत से साधन सम्पन्न रोगी उत्तम चिकित्सा में भी ठीक नहीं होते एवं प्रायु को प्राप्त हो जाते हैं।
 - जहाँ पर नहायणी फैलती है तब स्थान पर जीवाणुओं का प्रकोप होने वे जल, वायु आदि यामान्य भाव दिपत हो जाते हैं। जल दिपत यांत्रों के सेवन

१ अप्पीलेशन व्यक्तिगतीय रूपानं व्याप्तुमासार्वतिक्षमादव्यवस्था व्याप्ता । (स.स. 286 पा कर्मान्वय
२ साध प्रस्तुत्यन्ते विषयी, विभूतिर्वाच इति, आप्तिकाले विषयी, अप्पीलेशन विषयी । (स.स. 124

295
रो याही के कुछ नियासी रोगकाना हो जाते हैं याही नहीं, कुछ की चौमाने
रो गृह्ण हो जाती है एवं कुछ ढीक हो जाते हैं।
इसके अतिरिक्त रोग भी न होना, मृदु या दाढ़ा होना, शोषण गम्भीर रूप प्राप्त कर-
लेना या चिरकारी (Chronic) होना आदि भी इस बात पर नियंत्रण करते हैं कि दूष दोषों
से गोरीरण विद्युतें कितानी मात्रा में दूषित हुई हैं।
इन बातों को ध्यान में रखने पर नियन्त्रण साफने जाते हैं।

1. रोगी के रोग को दूर करने की एक स्वास्थ्यविकल्प रोग प्रतिरोधक शक्ति होती है जिसे 'यत्', 'व्याधिप्रत्यनीक बल' या 'विकारविद्युतमय' कहते हैं।
 2. ऊपर भूमि में चौथे हुये चौज की खांडि शरीर को रोग प्रतिरोधक शक्ति के कारण रोगों के बीज इस शक्ति के द्वारा रेह में नष्ट कर दिये जाते हैं जिसमें रोग उत्पन्न नहीं होता।
 3. इस शक्ति की प्रबलता या निर्बलता तथा रोगों के कारणों के बनावट के अनुसार रोग, मृदु, दारुण, घातक या चिरकारी रूप धारण कर सकता है।
 4. शरीर की आरोग्यता इसी रोग प्रतिरोधक शक्ति द्वारा बल पर निपत्त करती है।
 5. शक्ति बल ही व्याधि बल को नष्ट करता है अतः इसकी सहायता रोग करने चाहिए। जिसका बल नष्ट हो जाये वह रोगों ऊर्ध्वाकृत्य होता है।

आपुनिक चिकित्सा शास्त्र में इस शारीरिक रक्षा को "Body Resistance" या "Immunity" कहा जाता है।

શ્રોતૃ પણ વ્યાપિ ક્ષમતા

यदि व्यापिक क्षमता के लिये जरीर में उपस्थित ओब को हो उत्तरदायी भवन बारे से व्यापक विकितसा विज्ञान की कसौटी पर यह तथ्य प्रमाणिकता लिये हुये सत्य सिद्ध होते हैं पर्याप्त-

"This immunity, however depends on antibacterial qualities not only of the blood, but also on that of tissues, the intercellular fluids, lymph & so for the defence comes into play in the order of tissues, lymphatic system, blood stream & finally Reticuloendothelial system."

आचार्य हेमाद्रि ने लिखा है कि 'ओज' शब्द शरीरस्य पातुओं के तेवर से (Lymph), जीवसोचित (Blood), एवं प्राकृत रसेया के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

- | | | |
|---|---|-----------------|
| १ | महिलाएँ पर्याप्तीना पुनः करावतोः (निषिद्धानग्राम प्रतिवेच्यकार्त्ति-वक्त्रदृष्टि) | (व.मृ. 235) |
| २ | स यम् निवारयोपद्वयं विवरोपेष्यो विकलागीवाप्राक्षभावप्रतिविहेत्प भवति । | (व.रि. 44) |
| ३ | सर्वप्रकाशप्रयोग्य । | (व.वि. 3142) |
| ४ | ३ अस्ति बलं पापि नासद नियं तदशितो खापित्यतं नितनि । | (शु.वि. 180) |
| ५ | ५ अस्ति च वस्ति पाप्य तातो ग्रन्थार्थिकिंतिषुप् । | (शु.मृ. 1521) |
| ६ | पाप्य तातो तथा गोवार्हादेष्यो प्राकृतो रसोऽप्य येदेतेः शब्द प्रतीतिः । | (व.मृ. 11/17) |

काय-चिकित्सा

296

आचार्य भेल ने जिन 12 ओज गैर स्थानों परी गणना की है (रक्त, गंभीर, गृह, गृह वज्रा, शुरू, शुरूत, स्वेद, पिता, इलेप्या, मूत्र तथा पुरीप) उनमें ॥१॥ जो "एवं इन स्त्रेष्ठत कस्त्रां (Mucous membrane)" को आई रखने वाले स्थान, जो एवं स्त्रेष्ठत तथा मूत्र-मूत्र-स्त्रेष्ठादि सभी में जीवाणुनाशक (Bacteriolytic) रक्त तथा बिन्हें अध्युनिक चिकित्सा विज्ञान की भाषा में Lysozymes कहते हैं। और इन प्रकार का होता है-

- 1) पर ओज-(अट बिंदु प्रगाण)-दृद्याक्षिण
- 2) अपर ओज-(अर्थात् प्रगाण)-सर्वशरीर में व्याप्त

पर ओज के क्षय होने पर भृत्य हो जाती है तथा अपर ओज को शीतांग में भृत्य भवधीत एवं चिंतात्मक हो जाता है। उसकी इन्द्रिया एवं मन पीड़ित व अस्थि हो जाती है। तब व्यक्ति व्याप्ति का बोग रोकने में असमर्थ होता जाता है। अपुनिक विडानों ने अपर ओज को Glycogen तथा पर ओज को Pituitary gland Hormone माना है। हिताहार-विहार, रसायन सेवन व सदाचार से ओज की सतत करने चाहिए।

व्याप्ति-क्षमत्व या बल के प्रकार

शारीरिक बल निम्न तीन प्रकार का माना गया है—

- 1) सहज (Natural)
- 2) युक्तिकृत (Acquired)
- 3) कालज (Periodic)

1. सहज बल^१

शरीर एवं मन का वह प्राकृत बल जो जाति या अवक्ति के बन्द (अनुरूप प्राप्ति) से प्राप्त होता है किसी चुक्ति या कारण को अपेक्षा नहीं करता वह 'सहज' कहलाता है।

2. युक्तिकृत बल^२

हिताहार सेवन, हित निदार सेवन तथा ओजस्कर रसायन एवं बाजारीतर विद्युत के प्रयोग से उत्तम यस 'युक्तिकृत बल' कहलाता है। अध्युनिक चिकित्सा विज्ञान द्वारा ये को कृत्रिम धमता उत्पन्न करने के लिये वैक्सीन (Vaccine) व रसायन (Serum) का प्रयोग किया जाता है। वह भी 'युक्ति कृत' बल ही होता है। जीवाणुओं में निदान होने इस कर्म का ज्ञान था। हानिकार द्रव्यों के शरैः शरैः अन्य

१. विंदु १ दूर्वनोऽपेक्षण व्यतीति व्यतीतिदिवः।

दृष्टव्यं दृष्टव्यं रथः धृष्टव्यीकरणः धृष्टे।

२. विंदुप्रवायां गाहां वायां गृह्यत्वान्तरं च।

३. गाहां वायां गृह्यत्वान्तरोऽप्राकृतं वायां गृह्यत्वान्तरं व्यः कृतं च।

४. युक्तिकृतप्राकृतज्ञानप्राप्तेष्वाक्षरम्।

जुः रस इव से हानि न होने का उपदेश आनन्द चराक य आचार्य याप्त दोनों ने किया है।

3. कालज बल

यह बल जो अत्यं आयु के अनुसार प्रत्येक वर्ष में बढ़ता या बढ़ता रहता है 'कालज बल' कहलाता है। यथा-आदान काल में गर्भांक बल स्वभावतः बढ़ता है तथा विसर्ण काल में स्वभावतः बढ़ता है। इसी प्रकार युवावया य चलचलवया में यस अधिक होता है तथा युद्धावया में यस क्रमतः क्षीण होता जाता है।

अध्युनिक चिकित्सा विज्ञान में यस को Immunity कहा जाता है तथा इसके निम्न तीन प्रकार बताये गये हैं—

1. स्वाभाविक क्षमता (Natural Immunity)

2. रोगज क्षमता (Acquired Immunity)

3. युक्तिकृत क्षमता (Artificial Immunity)

1. स्वाभाविक क्षमता (Natural Immunity)

मनुष के शरीर में स्वाभाविक रूप से उपस्थित रोग प्रतिरोधक हमता ये स्वाभाविक या Natural Immunity कहते हैं। जब यह स्वाभाविक हमता कम हो जाती है तब मनुष रोगकान्त होने लगता है। रक्त में उपस्थित Leucocytes (W.B.Cs.) एवं Reticuloendothelial System (R.E. System) इसके लिये उत्तरदायी हैं।

शरीर में रोगों को उत्पत्ति करने वाले जीवाणुओं द्वारा उनके विरों (Antitoxin/ Antigen) के भक्षण का कार्य W.B.Cs. करते हैं। इस भक्षण किया को Phagocytosis कहते हैं। W.B.Cs. इसी जीवाणुओं एवं उनके विरों को यह भक्षण किया हो व्याप्ति क्षमता का प्रमुख आधार है।

शरीर की प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाने के लिये जीवाणुयों से मुछ आहार, चुन्ना वाया का सेवन एवं स्वस्थवृत्त के नियमों का पालन करना अनिवार्य है।

Leucocytes के अतिरिक्त Lymphocytes भी जीवाणु प्रतिरोध का कार्य करते हैं। इनकी उत्पत्ति Lymph glands, Tonsils तथा Spleen में होती है। Blood के Plasma में भी जीवाणुओं के संहार करने के लिये कुछ विशिष्ट द्रव्य पाये जाते हैं जिन्हें Bacteriolysis कहते हैं।

Blood में जीवाणु प्रवेश होने पर Agglutin नामक द्रव्य उत्पन्न होते हैं जो कि जीवाणु को गति शून्य कर आपस में चिपका देते हैं। यह क्षमता Blood की Agglutinating जीवाणु को गति शून्य कर आपस में चिपका देते हैं। यह क्षमता Blood की Agglutinating जीवाणु को गति शून्य कर आपस में चिपका देते हैं।

1. १ एवजिप्रौद्यः युक्तिकृतकाः इतरासेवी।

(प्रम. 26/104)

२) युक्तिकृतप्राप्तेष्वाक्षरम्।

(प्रम. 22/5)

Power कहताती है। यह भी रोग प्रतिरोध करने का कार्य करती है। इस Body के साथ में प्रविष्ट होने पर उसको नियन्त्रिक्य करते गए लिंगे जैसे श्वास और अन्य अंतर्बोध युक्त अंगों द्वारा नियन्त्रित होते हैं। इसका अर्थ यह है कि उस Antigen (Foreign body) को जान नहीं देता है और इसका नियन्त्रण द्वारा इसका नियन्त्रण किया जाता है।

३ शोषज स्थमता (Acquired Immunity)

किसी रोग से ज्ञानात्मक होने के पश्चात् रोग मुक्त होने पर उस रोग के लोगों के संहार की गतिशीलता में स्वयमेव ही ठंडपन हो जाती है। एक बार रोग हो जाने के अचिक दोबारा उस रोग से चौकित नहीं होता यथा—मसूरिक्वा। इसे रोगज या “Necrophily” भी कहते हैं।

प्रत्येक जीवाणु के स्थिर Leucocytes तो एक ही होते हैं किन्तु काल्यन (Opsonin), जोग्यनु सूदन (Bacteriolysis), प्रतिविष (Antitoxin) तथा समझन (Agglutinin), पित्र-धित होते हैं। शरीर पर जीवाणु जन्य किसी रोग का आक्रमण होने पर यह प्रतिकारार्थ शरीर में यथोचित कल्पन प्रभृति द्रव्यों तथा Leucocytes नीं कठिनपिछ उत्पन्न होते हैं। रोग का आक्रमण यदि घातक सिंह हुआ तो शरीर की क्षमता के समझना चाहिये एवं यदि रोग का नाश होकर शरीर रक्षित रहा तो शरीर की प्रतिरक्षा क्षमता बहवती समझनी चाहिये एवं रोगोत्पादक जीवाणु पर प्रतिरक्षण हापड़ा की विवर जानना चाहिये।

रोगोत्पादक जीवाणुओं का नाश होने पर शरीर में विशिष्ट रोग प्रतिरोधक गैरि बनती है जो कि दोषी काल तक बनी रहती है। यथा-मसूरिका, आंत्रिक न्यायादि का अक्षमता एक बार हो जाने पर पुनरावृत्ति शास्त्र नहीं होता। इसका कारण रोगारूप सम्पन्न Acquired Immunity है।

३. युक्तिकृत स्वास्थ्य (Artificial Immunity)

स्वास्थ्यविध शब्द के अतिरिक्त कृत्रिम डायरों से भी जीर्ण में ज्ञाता डायन बोलते हैं। पथा- विशिष्ट प्रकार के जीवाणुओं का Vaccine बनाकर टीका लगाना। यह विशिष्ट जाति के जीवाणु अथवा उसके गिर विकास वर्द्धी जाति में सूची वेध द्वारा जाति में प्रशिष्ट किये जाते हैं। इसका उनके रस (Lymph) एवं रक्त (Blood) में जीवाणु के विष (Toxin) या प्रतिविष (Antitoxin) उत्पन्न हो जाता है इसके एवं निकालकर उसकी लसाका (Serum) का संग्रह कर रख लिया जाता है तथा अग्रारोग के प्रतिरोधी (Prophylactic) तथा आगा रोग के प्रतिकारी (Curative) इम्बज मूर्चावेप (Injection) दिया जाता है।

इसी प्रकार अमरिया के उत्तरांगे में Serum therapy कहा है।

के साथ वह गृहीयेप (Injection) दिया जाता है। ये Vaccination कहते हैं। इस साथ के माध्यम से जीवाणुओं को ख़ास रोगों में ख़ंति करना चाहता है जिसमें गोगैर-गोली (Anti-body) बन जाती है एवं ये रोग को छान्तमग बनाती हो जाता है।

युक्तिकृत विशेष धमता की अवैश्या गोपन शम्भव इन्हींके लक्षण है। यंकानक गोके प्रसार के सभी युक्तिकृत धमता स्वे उद्देश करने वेदनकर है। ऐसा इन्हींहोता है। योग्य एक कंसाओं (W.B.Cs.) के द्वारा गोपन की गयी जीवन की यह प्रदीन आवा ने 'प्राकृत रसेमा' या 'ओंज' या 'बल' कहा है।

ज्ञापि धर्मित्व के हास का कारण

शरीर का निर्माण चार प्रकार के अस्तित्व, चेत, सौंदर्य एवं जुनैन इत्यत्र इनमें
होता है एवं इन्हीं के अहितवार प्रयोग से यंग उत्पन्न होता है। अहितवार आहार व
प्रयोग शीघ्र ही दोषकारी नहीं होता, कर्मकाल समाप्त अवस्था अस्तित्व तुल्य रूप से बनने
होते, सभी दोष भी समाप्त बत बाले नहीं होते तथा व्याप्ति नहीं भैं समय अधिकांश
बाले नहीं होते। यही अपव्य देवा, कल, संयोग, गौच, ज्ञान एवं अतिविषय से ब्रह्म
अपव्य हो जाता है।

जिन व्यक्तियों का सारीर अविस्मृत या अनिकृष्ट होता है, जिनके गहरे में सोच रक्ख एवं अस्थियाँ सुसंगठित नहीं होतीं, जो दुर्बल होते हैं, जिनका शरीर अद्वितीय आहार-विहार से पोषित होता है एवं जो अन्य जल्द व अन्यद्वारा होते हैं, उनका शरीर व्याधि क्षमता से होता होता है। ये सापात्रण परिवर्तनों में भी शरीर को रखा नहीं कर सकते व ये एकाकान्त हो जाते हैं।

ज्ञानिकम् वर्धक उपाय

1. सात्य सेवन (जो शरीर को हिलकर हो) से अपीलकर बढ़ता है।
 2. सर्वसाधारण से उत्तम चलप्राप्ति होती है।
 3. उत्तम जीवनीय द्रव्यों का सेवन, मुद्र वायु का सेवन, सद्यूत पातन आदि द्वारा भी शारीरिक चल बढ़ता है।
 4. जिन्हें घृत, दूध, मांसरस एवं घट्रस सात्य हो चक्रे उत्तम चत होता है तथा क्लोश सहने में समर्थ य चिरायु होते हैं।
 5. जो नातिस्थूल, नातिकुरा हों, रक्त, मांस अतिथयों सम्प्रभाव में हों, यो स्वल्प शरीर का स्वामी हो, शरीर का पोषण हिलकर एवं पौर्णक आहार से बुझा हो।

1. *Answers* from *theories*

महाराष्ट्र विद्युत प्राप्ति बोर्ड अधिकारी।

१. संग्रहालयीय विषयात्मक

४ अप्रैल १९५८

(四三 2845)

१८८

《एसू 25-40

(नम् २५/४३)

काष्ठ-विकिता

300

विकार आहार की गत्रा शरीर के अनुशास से उत्पन्न हो एवं विकिता बढ़ती है, ऐसे व्यक्तियों का शरीर 'व्याविधाय' होता है परं ॥१॥ ५०॥ ये रोग प्रतिरोधक क्षमता डाम होती है।

२. विकार अनुत्पत्तिकर एवं विकार प्रशमन विकिता

(अ) विकार अनुपचिकिता

विकार अनुपचिकिता से सातर्थ है विकार या रोग को उत्पन्न हो न दें। विकार प्रशमन विकिता में उत्पन्न हुये विकार को मुक्ति पूर्वक शमन करते हैं जैसा कि ये भी खर्चित किया गया है कि आयुर्वेद शास्त्र य विकिता के मुख्य दो प्रयोजन हैं—

(i) स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना।

(ii) अदुर या रोगी में उत्पन्न हुये विकार का प्रशमन करना।

प्रथम प्रयोजन 'स्वस्थस्य स्वास्थ्यक्षणम्' को पूर्वि के लिये आचार्य चतुर्वेद ने शुस्थान में 'स्वस्थक्षुक' नामक चार अध्यायों का वर्गन किया है। यही 'स्वास्थ्यन' भी है। स्वस्थवृत्त में कहे गये नियमों का पालन करने एवं दिनचर्या-शारियर्य-ज्युग्मन अर्थात् का पालन करने से रोग के उत्पन्न होने को संभावना बिलकुल क्षीण हो जाती है। यह अद्युर्वेद के 'विकार अनुपचिकिता' विकिता है जिसका अर्थ है—विकार को उत्पन्न हो न देना।

आचार्य सुदूर ने विकिता स्थान के २४वें आधाय में 'अनागतामापाप्रतिरेप' के रूप में इती विकार अनुपचिकिता का अप्रत्यक्षता कर्त्तव्य किया है। अकाल के दुष्ट या आधा अपो उत्पन्न नहीं हुआ है, परन्तु विकार में विस्तके उत्पन्न होने की संभावना है उत्पक्ष प्रतिरेप "अनागत वायाप्रतिरेप" कहलाता है। इसके 'स्वस्थवृत्त' में सम्मूल घटन प्राप्त होता है।

द्वितीय प्रकार नगरों (नगर राष्ट्रक) वहार की रक्षा में तथा रथी (सारीय) रथ को रथ में सदा स्वास्थ्य रहता है वैसे ही सुदिग्मान मनुष्य की अपने शरीर की क्रियाओं के लिए सदैव स्वस्थपन रहना चाहिये। यहीं पर नगर का उदाहरण शरीर को आपना देवी (कुर्जित देव-दूलाति) से बचाने गौर रथ का उदाहरण शरीर को बाहा देवीं (निष्ठ आहार-विद्वानि) से बचाने को और संकेत करते हैं।

१. भवयंगद्वाक्षम्यांवर्णं गः । मुद्देविद्ये विकारान् न प्रोक्षिप्तुते ॥
मुद्दिवाक्षम्यांवर्णं । व्यापका सम्पदः; स्वास्थ्यक्षणीय गतः ॥
२. उद्देवं चन्द्र व्यापका स्वास्थ्यक्षणमनुपान विकाराप्रतिरेपं च ॥
उद्देवं चन्द्रं ॥
३. भवयंगद्वाक्षम्यांवर्णं व्यापका स्वास्थ्यक्षणमनुपान विकाराप्रतिरेपं ॥
भवयंगद्वाक्षम्यांवर्णं ॥
४. कार्त्तिकाप्रतिरेपं व्यापका स्वास्थ्यक्षणमनुपान विकाराप्रतिरेपं ॥
कार्त्तिकाप्रतिरेपं व्यापका स्वास्थ्यक्षणमनुपान विकाराप्रतिरेपं ॥

विकार अनुपचिकिता के अनार्थ विन विन्दु सम्प्रिति किये जाते हैं। विकिता स्वास्थ्य पालन से मनुष्य निरोगी एवं स्वास्थ्य रह सकता है—

- (i) आदर्श दिनचर्या
- (ii) आदर्श शारियर्य
- (iii) आदर्श ऋतुचर्या
- (iv) अच्युत्य य सद्युत्य-सदाचार भेदन
- १) आदर्श दिनचर्या—विन नियमों का निश्चयन्वर्क पालन 'आदर्श दिनचर्या'

के अन्वर्त्त अपेक्षित होता है—

१. प्रातः काल ब्रह्ममुहूर्ते में उठना।
२. उठकर ही करतल (हस्त) को रेखाओं का दर्शन करना।
३. दैनिक नित्यकर्म (पल-मूः त्याग) करें।
४. दनधारन या दातौन करें।
५. जिह्वा निर्वाहिनी से जिह्वा स्वच्छ करें।
६. शब्दोत्तित्र अंजन, धूपधान (प्राणयोगिक), नस्य कर्म करें।
७. मुख में सुपान्तिरु द्रव्य (एता, लक्षण, उडवित्रो, पूर्ण) व लान्धूल धारण करें।
८. गण्डू-कानल का प्रयोग करें।
९. श्वोशक्ति व्यायाम व योगाभ्यास करें।
१०. प्राणायाम का अभ्यास करें।
११. वाप्रण (ठैलमर्दन), कर्षपूरण, मूर्ध तैत धारण करें।
१२. शरीर मार्जन, त्वान, वनुलेप स्वच्छवस्त्र पालन करें व देवोदंचन-पूजन करें।
१३. माला-त्वान-ज्ञापूरण धारण करें।
१४. यथाकाल शौरकर्म (केसा-नद्ध-इमन्त्र कर्तन करना) करें।
१५. पादत्र-जूते, छाता व दण्ड धारण करें।
१६. लघु य अनुकूल आहार एवं जल ग्रहण कर जीविकोपालेन करें।

इस तरह मर्यादित दिनचर्या का पालन करने से व्यक्ति स्वस्थ रहता है एवं रोगों से बचा रहता है।

II) आदर्श शारियर्य

१. संध्याकाल में नित्य दैनिक कर्मों से निपटकर आहार प्राप्तन करें।
२. आहार रात्रि के प्रथम प्राप्त में (निद्रा से ३ पर्ण पहले) ही लें।
३. रात्रिकालीन भोजन दिन के आहार की अपेक्षा लघु, अत्यं एवं सुपाच्य होना चाहिये।
४. लघु लोहिता विकिता स्थान अप्तप-२४, चारक संकृता लूप स्थान भव्याप-५,६,७,८, एवं अटांग इटप मूलस्थान अप्तप-२,३,

4. रात्रि में दूध का सेवन न करें।
5. आहार के पश्चात दूध गाहन न करें।
6. शाम से चूंच ये आहार गाहन के पधारा शामदण्ड (सी चाटा) न हो।
7. शाम से पूर्व दिन में किये गये कार्यों की समीक्षा कर अपने [निर्णय] से बाले कार्यों की रुच-रेखा लैपार करें।
8. मुख्यद आसन या शय्या पर शयन करें।
9. आपुवेदीय ग्रन्थ 'काकचंडीधार कल्प तन्त्र' में कहा गया है कि गाँव के प्रथम प्रहर में चानी पीना शरीर के लिये विष के समान हानिप्रद होता है। मध्य-रात्रि में चानी पीना दूध के समान साधारण होता है। प्रातःकान् (गुरुदेव से पहले) पिया गया चान भल मां के दुग्ध के समान शरीर को लाग देता है।

जो मनुष्य हितकर आहार-विहार का सेवन करता है, विचार पूर्वक तपान जूळ को सम्पादित करता है, विषय-चारनाओं से दूर रहता है, दानो-शान्ति प्रिय-सत्यपादक, सुनारोत तथा आप मुरुओं के बचनों का अनुसरण करने वाला होता है यह मत निर्णय रहा है।

iii) आदर्श ऋतुचर्या

विकार अनुत्तिकर चिकित्सा में दिनचर्या एवं रात्रिचर्या के समान ही ऋतुचर्या की भी महत्व है। स्वव्यवृत्त में प्रत्येक ऋतु के नियम, आहार, विहार का वर्णन दिया है। दो मास की एक ऋतु होती है एवं उह ऋतुओं का एक चर्च (संवत्सर) होता है। एक चर्च में सूर्य गति अनुसार आदानकाल व विसर्गकाल में बोटा जाता है—

(i) आदानकाल

आदानकाल में सूर्य उत्तरायण व आग्नेय होता है। इसमें शिशिर-वसन्त-ग्रीष्म ऋतुयों सम्बन्धित की जाती है जो सामान्यतया 21 दिसंबर से 21 जून तक के बीच का काल होता है। इस काल में क्रमशः तिक, कपाय एवं कटु रस की वृद्धि होती है, मनुष्यों में व्याक्रम स्वाभाविक रूप से बल (Immunity) की प्राप्ति होती है। विलृत ऋतुचर्यों का वर्णन (विवारण): 'स्वव्यवृत्त' के ग्रन्थ में ही देखें। यहाँ ज्ञान बोहन वाल ही मंभाव है।

विवित सामाजिक अंद्र

(ii) विसर्गकाल

इसमें गूर्ध दशिणायन व सौम्य होता है। इमर्व गर्भ-जलद-हेमन ऋतुयों सम्बन्धित की जाती है जो सामान्यतया 22 जून से 20 दिसंबर तक के बीच का काल होता है। इस काल में क्रमशः आप्त, लयन एवं मधुर रस की वृद्धि होती है। मनुष्यों में व्याक्रम स्वाभाविक रूप से बल (Immunity) की प्राप्ति होती है। विलृत ऋतुचर्यों का वर्णन (विवारण): 'स्वव्यवृत्त' के ग्रन्थ में ही देखें। यहाँ ज्ञान बोहन वाल ही मंभाव है।

आदानकाल व विसर्गकाल के अनुसार विभिन्न ऋतुओं में ज्ञान के मुख्य पटक दोष वात-पितृ एवं कफ का भी संबंध-प्रकार-प्रगमन व्यवहार से होता रहता है। जल: ऐसे आहार-विहार का सेवन करना चाहिये त्रिमये स्वास्थ्य मदा एक दो बात रहती है। दो बातें वात निर्वहन (संसोधन) आवश्यक है अन्यथा ऋतुन्यन गेन (Seasonal Disorders), ऋतुसंधिगत रोग होने की प्रबल सम्भावना रहती है त्रिमये सारी ऋतुसंधिय हो जाता है। जल: प्रकृतिः व स्वभावता चैत्र मास (फलवर्ष-मार्च मध्य) में कल दोष वा दमन कर्म है, श्रावण मास में (जुलाई-अगस्त मध्य) बात दोष का जाली कर्म से व अग्नन मास (दिसंबर-जनवरी मध्य) में पितृ दोष का विरेचन कर्म हाथा निर्वहन करना चाहिये।

iv) अन्य चर्चाएः व सदबृत्त-सदाचार सेवन

इसके अन्तर्गत निम्न विन्दूओं को और ध्यान दिया जाना अत्यावश्यक है—

अ) रसायन व वाजीकरण सेवन

जल और अपथ द्वय या भाव स्वस्थ पुरुष में छवंस्कर (जो व या ऊर्ध्वों को बढ़ाने वाली) होते हैं उन्हें ही वृद्धि व रसायन कहते हैं। इन दोनों का प्रयोग स्वस्थ पुरुष की जीवनोंपर शक्ति (Immunity, Body Resistance) बढ़ाने के लिये किया जाता है। संसोधन कर्म के पश्चात् ही रसायन-वाजीकरण औपथ का प्रयोग ब्रेत्तुकर होता है।

ब) सदबृत्त-सदाचार सेवन

कार्यिक-वाचिक-मानसिक पापकर्मों का त्याग, सत्यवचन, अहिंसा, अपरिग्रह, गौव एवं ब्रह्माचर्य आदि के पालन से रोगाक्रमण से बचा जा सकता है। इस सद्वर्त्म में जागार्य चरक ने सूत्रस्थान के अध्याय 8 में विभिन्न सदबृत्तों का वर्णन किया है जो निम्न प्रकार हैं—

1) दैनिक जीवन में क्या करें क्या न करें-स्पष्ट कर्म सम्पादित किए जाने चाहिए।

1. वातापाये यतीन नवमप्रदये पूजः। सहस्रप्रप्तये चैत्र इष्टवेदोपासन्यम् ॥ (च.ग्र. 7/46)
2. पैदव निशां व या ॥
3. मातापौत्रीवलारे हिन्द्वत किन्वितांस्य देवतृप् ॥
4. मातापौत्रीवलारे यतु गद वृष्ट तदत्परम् ॥ (च.ग्र. 1/14-5)
5. वसदृपा..... भवतीह ॥ (च.ग्र. 8/18-29)

1. निर्णयार्थवार्तार्थी गव्येवकारी विषयव्यापारः। दात्र सप्तः शायपरः शामाकालोपतोपी न भावारोः। (ग.ग्र. 2/2)
2. १ इ ऋतु संक्षेपी चट्टागुरुप्रथमोन विषयात्। ग्रामदिव्यवेदावकालान्ते च वैत्यूर्ध्वनिर्विवरोः। उत्तम्यात् अवश्येन वातीन् तु गुरुग्रन्थात् ईश्वरायनं विषयां च ॥ (ग.ग्र. 4/1)
3. मातापौत्रे च दीर्घव विषयांत्वान्वर्त्यग्। गायों पथ्यपौत्र रथने शंखाकाले च निर्दिशोऽपि ॥ (ग.ग्र. 4/1)
4. शामीद्विग्रहृत्यैवापादः। शाम शुक्रवारः सप्ताः। ग्रामीरोऽपि यात्राम् गुप्तो वर्षः। गायोऽपानः॥ ग्रामीरोऽपि वर्षान् विषयांप्रयत्नाम्। अदार्श च, तदादले नृणां प्राप्तिर्विवरणम् ॥ (ग.ग्र. 3/2)

- पोतन सम्बन्धी सदस्याः।
 - प्रत्यया सम्बन्धी सदस्याः।
 - हिंगों से व्यवहार सम्बन्धी सदस्याः।
 - पूर्ण लोगों का विस्तार न करें।
 - पठन-पाठन में निपेप सम्बन्धी सदस्याः।
 - सामाजिक व्यवहार में निपेप।
 - वार्तालाक व्यवहार में निपेप।
 - कार्य सम्बन्धी निपेप।
 - हजन-कर्म की विधि।

इसीलिये स्वकालमान चाहने वाले सभी मनुष्यों को सहवदा अपनी स्मरण रक्षा की जानकारी हुए। सभी सदृश्यों को यह प्रश्नन करना चाहिये। इन सभकाल पालन जाने सहज हो सकता है।

३। पह्ये आहार सेवन

ऐसे जाहां हूँवों का नित्य सेवन करना चाहिये जिससे स्वास्थ्य का बहुवर्षीय (Maintenance of positive health) होता रहे अर्थात् स्वास्थ्य उत्तम बना रहे तो उत्तम नहीं होपे हैं डनकी उत्तमि भी न हो सके ।

८) सम्बन्धित सेवन

झाहा-न्वन-द्वार्षर्व ये यत्र उपस्थित हैं। यदि ग्रामी निवासित रूप से निरुपेक्ष करे तो शत्, वर्ण, दरवाय (वृष्टि), स्वास्थ्य लाभ व दीर्घ जीवन प्राप्त होत है। यह प्रावर्तिक दर्विभावजड़ा होती चाहिए।

१) प्रमाणात्मक व अनु

प्राणिदया, दूष, गति, देव अर्चना, क्षमा, अस्त्रेय, शुचिता, संयम, पवानपुरुष, इन अद्वितीयक रूपों के विषयों के पालन से मन, शरीर व आत्मा में प्रसन्नता रहती है औ शरीर निरोगी रहता है।

५) सद्भव गोष्ठी

पर्याक, सार्वाक, जिल्हान्द्रिय, जान-समझ, अनुभवी, सामग्रकृति एवं समग्रय विषयों
के साथ प्रयोग में ग्रन्थ से सम्बन्धित स्वाप्नय उत्पन्न होता है।

रुपवृंद सभी नियमों का पालन करने से यथा संभव स्वास्थ्य की रधा की उत्तरी है।

१. तत्त्वानुसारी विश्वासेति सर्वेषां सर्वा विश्वासात् एव प्रकल्पनुष्टेष्म ॥
प्रद्युम्निकृष्ण विश्वासेति विश्वासात् विश्वासेति विश्वासेति ॥
 २. तत्त्वं चिन्त्य एव अन्योऽस्माकां देवास्तुपूर्व । अस्माकां विश्वासात् विश्वासेति च यत् ॥
 ३. एव उत्तमं हीनं आत्मा स्वयं विश्वासेति ॥

(व) धिक्कार प्रशासन चिकित्सा

आगुर्वेद शास्त्र या चिकित्सा के हिंदौरप्रय प्रयोगन 'आगुर्व चिकित्सामन च' की पूर्वी के लिये विकारप्रसामन चिकित्सा का प्रयोग किया गया है। इसे तो 'आगुर्व चापा प्रतिषेध' कहते हैं। चारीर में दोष-धातु-मल वैषम्य जो प्राण होकर विकार उत्तरण करते हैं, उनके पश्चात् इन दोष-धातु-मल को साम्पत्ता में लड़ने के लिये चिकित्सा का प्रयोग किया जाता है। यही चिकित्सा 'विकारप्रसामन' चिकित्सा है। धातु-वैषम्य करने वाले कारक या निदान निम्न तीन प्रकार के होते हैं—

- i) असाह्येन्द्रियार्थ संयोग
 ii) प्रज्ञापराम
 iii) पृष्ठाप

(iii) प्रारम्भ
अतः विकार प्रशंसन चिकित्सा का प्रयोग सूत्र है कि धातुवैचार्य करने वाले निदानों (कारणों) का परिवर्णन किया जाय और धातुओं को ताम करने वाले घावों स्थान सेवन किया जाये। यहाँ पर "धातु" शब्द से दोष-धातु-मत ही तिपा जाना चाहिए होता है। मनसिक रोगों के लिए इन व ताम की स्थिति देखकर सत्त्वावध, आकाशन्, पैदंप्रदान, पत्त्वावध आदि चिकित्सा कर्त्ती चाहिए। अतः विकारप्रशंसन चिकित्सा के अंतर्गत पद्यावान्तिक निम्न उपाय किये जाने अपेक्षित हैं-

- i) दैवत्यपात्रय, मुकुट्यपात्रय-सत्याजय चिकित्सा।
 - ii) संतर्पण-अपतर्पण चिकित्सा।
 - iii) शोधन-शमन चिकित्सा।
 - iv) हेतु विपरीत-ज्याधिविपरीत-उभयविपरीत चिकित्सा।
 - v) द्रव्य भूत- अद्रव्य भूत चिकित्सा।
 - vi) रक्षायन वाजीकरण चिकित्सा।
 - vii) अन्तःपरिमार्बन-बाह्यपरिमार्बन-शस्त्रप्रगणण चिकित्सा।
 - viii) आसुरी-मानुषी-दैवीय चिकित्सा।
 - ix) लंघन-संधनपात्रन- दोषावसेवन चिकित्सा।
 - x) संशोधन-संशमन-आहार-आचार चिकित्सा।
 - x1) पाणन-दोपन-धूपा-तृष्णा-थायाद-धृपसेवन-घासुसेवन चिकित्सा इत्यादि का

- विकारे व्यापक व्याप्ति का लक्षण है। सुधारने का दृष्टिकोण विकारे का व्यापक व्याप्ति का लक्षण है।
- विकारे का व्यापक व्याप्ति का लक्षण है।

3. औषध सेवन सम्बन्धी नियम

चिकित्सा में खेज का महत्वपूर्ण स्थान है। अतः चिकित्सा के समानक भौजन में क्षयोंकी ओर औषध उपचार यात्रा में, उचित समय पर सेवन नहीं की जाये तो लाग्यद नहीं होती एवं चिकित्सा में भी सफलता प्राप्त नहीं होती। अतः यहाँ पर संक्षेप में औषध सेवन काल एवं मात्रा निर्धारण विधि का वर्णन किया जा रहा है-

1. औषध सेवन काल

औषध सेवन के काल रोगी व रोग की अवस्था के आधार पर निर्धारित किये जाते हैं। आचार्य चरक ने औषध सेवन के 'दशकाल' व आचार्य शार्दूलधर ने 'पौष फाल वर्षिणी' किये हैं। अतः विभिन्न वाचायों के वर्णन के अनुसार औषध सेवन के नियम एकादश काल होते हैं-

i) अन्पक या अनन्त्र (Medicine Intake on Empty Stomach)—खाली पेट अवर्त्त पूर्व में खाये हुए भोजन के पच जाने पर औषध लेना उथा औषध के पच जाने पर भोजन लेना 'अन्पक काल' (अनन्त्र काल) कहलाता है।

कक्ष प्रक्रीय की अवस्था में रोग व रोगी के बलबान होने पर इस काल में औषध प्रयोग करते हैं।

ii) पूर्वभक्त (प्राक्भक्त) (Pre-prandial Medicine Intake)—इसे 'अनादि काल' भी कहते हैं। इसमें भोजन करने के कुछ मिनट पूर्व औषध सेवन करना चाहिए। इन काल में व्यापान वायु के विकार यथा-विवर्ण, उदारता, अशरीरी, गृजकृष्ण एवं प्रद आदि रोगों को चिकित्सा में औषधि प्रयोग करना चाहिए।

iii) अध्यभक्त (अध्यभक्त्या अनन्त्रापय्य) (Medicine intake in between the meals)—आपा भोजन करने के बाद औषध लेना अवश्यात् बचा हुआ आपा भोजन करना यह 'अध्यभक्त काल' कहलाता है। सामान वायु से होनेवाली विकृतियाँ यथा- ग्रहणी दोष, अवद्रव्यशूल, परिणामशूल, उदर शूल, अविसार, प्रवाहिका, अलसक एवं विलम्बिका आदि रोगों में इस विधि से औषधि प्रयुक्त करते हैं।

iv) सभक्त (सात्र) (Medicine Intake mixed with meals)—भोजन के एक ग्रास के साथ औषध मिलाकर लेना 'सभक्त काल' कहलाता है। अरुणी (Anorexia) की अवस्था में इस काल में औषध प्रयुक्त करते हैं।

v) पश्चात् भक्त या अद्यो भक्त (Post-prandial medicine intake)—भोजन करने के तुरंत पश्चात् औषध सेवन करना 'अद्योभक्त काल' कहलाता है। अवानवायु

1. वैष्णवकाली भुजाती गर्ये पश्चान्पुरुषः। पश्चात् भाष्टंतुरुक्त लापापालनो दता॥ (प.प्र. 30/298)
2. अपाने विष्णुं । हितम् ॥ (प.प्र. 30/299-301)

चिकित्सा में सहायक अंग

श्री विष्णु में प्रताःकाल भोजन के बाद, वैसे-दत्त रक्तचाप में एवं उदान वायु की विष्णु में साध्यकाल भोजन के बाद जैसे- स्पर्षेद में औषध देने का विधान है।

vi) सामुद्रग (Pre and post prandial Medicine intake)—भोजन के तुरंत पश्चात् औषध लेना 'सामुद्रग काल' कहलाता है। इस काल में कम्मा, असेप्टिक व इव जैव रोगों की अवस्था में रोगी को औषध प्रयुक्त करते हैं।

vii) भक्तान्तर (Medicine intake repeatedly in between the meals)—भोजन के बीच-बीच में औषध सेवन करना 'भक्तान्तर काल' कहलाता है। इस विधि से असाध जैव रोगों की अवस्था में औषध प्रयुक्त करते हैं।

viii) सात्रास (Medicine intake with every bite of meals)—भोजन के प्रत्येक ग्रास के साथ औषध सेवन करना 'सात्रास काल' कहलाता है। प्राणवायु से उत्पन्न होने वाले विकृतों यथा- ग्रास रोग आदि में रोगी को इस विधि से औषध प्रयुक्त करते हैं।

ix) ग्रासान्तर या कल्पलान्तर (Medicine intake in between two bites of meals)—एक ग्रास खाकर औषध लेना फिर दूसरा ग्रास खाना एवं फिर औषध लेना अवश्य दो ग्रासों के बीच औषध सेवन करना औषध सेवन का 'ग्रासान्तर काल' कहलाता है। इस काल की अनुसार प्राणवायु की विकृति जन्य रोगों में रोगी को औषधि प्रयुक्त करते हैं।

x) मुहुर्मुह (Frequent intake of medicine irrespective of food consumption)—भोजन के पूर्व, पश्चात्, मध्य आदि का विचार न करके बाट-बाट औषध सेवन करना 'मुहुर्मुह काल' कहलाता है। इस विधान के अनुसार विप विकार, एवं रोग, हिका, तृप्या, शास, कास आदि रोगों में रोगी को औषध प्रयुक्त करते हैं।

xi) नीश (Medicine intake just before the hours of sleep)—इसे अवानवाय चाहते हैं। रात्रि में सोने से पूर्व औषध सेवन करना औषध का 'नीश काल' कहलाता है। इस विधि के अनुसार उर्ध्वजुगल विकारों में रोगी को औषध प्रयुक्त करते हैं।

2. औषध मात्रा निर्धारण—आचार्य शार्दूलधर के नानुसार रोगी में औषध प्रयोग की मात्रा काल (ऋगु), जठरायि, यथ, यत, प्रकृति, दोष एवं देश आदि का विचार करके निर्धारित करने चाहिए। औषध सेवन की कोई निर्धारित मात्रा नहीं होती है। क्षयोंकी औषध मात्रा विर्फ रोगों पर ही निर्धार नहीं होती है बल्कि औषध की मात्रा चिकित्सक के विषेक पर भी निर्धार करती है।

¹ विष्णवीसंख्य वायुम्: कालपर्वती वायुम्। प्रकृति दोषदर्ती व दृष्टि वायुं प्रकल्पयत्। (शार्दूल मंडित पूर्वक्रम 1/37)

सामान्य-विधिता

३०८

ब्रह्मनुगारा औपर्याप्ति भागा- अल्प मात्रा में दी जानी औपर्याप्ति रोप को दूष गृहीत में बालक होती है जैसे दोहरा जल बहुत ज्ञाता अग्नि को जहाँ शुद्ध जाता है। अग्निक भाग में पूरुष औपर्याप्ति को दोषनुक अशीर्षी उपहरण युक्त कर देती है जैसे अग्निक भाग में वर्णहुआ जल (अतिवृष्टि) परिवर्त (धौती) करे साथा या गता देता है। अतः रोप न गृहीत कर चिह्नित कर भाग से प अग्निक और न करन औपर्याप्ति जल प्रयोग करना उचित नहीं है।

ब्रह्मनुगारा में औपर्याप्ति भागा- यज्ञों को औपर्याप्तियाँ हमेशा द्रव या लोट के रूप में देती चाहिए। चूर्चा या कल्पक मृता-मधु के साथ मिलाकर चटाना चाहिए। गोलां या लड्डू बच्चों के कर्दापि न हैं। मात्रा या धात्रीको (क्षीराद् या क्षीराक्राद् अवस्था में) दो यज्ञों औपर्याप्ति स्तरों से दूष के माध्यम से उत्सर्जित होकर वालक पर प्रभाव ढालती है। अग्निक मृदुकृत ने १६ वर्ष तक की वय ब्रह्मनुगारा (कफ प्रधान) मानी है। ऐसे वालक भी निर्मान प्रकार के बनित हैं।

१. **झीरप-** केवल दुष्प धीने वाले वालक जो एक मास से एक वर्ष तक की अवस्था के होते हैं, उन्हें झीरप कहते हैं। झीरप अवस्था में यदि वालक को औपर्याप्ति देना हो तो धात्री या जला को औपर्याप्ति देना चाहिए। अत्यरिक्त मात्रा में मधु मिलाकर औपर्याप्ति को धात्री या जला के स्तरों पर लेप कर बहलक को स्तान करना चाहिए। इस अवस्था में "अनुलिन्वद्वय" मात्रा में वालक को औपर्याप्ति दें। यही अनुलिन्वद्वय से तात्पर्य अंगृहि के दो संहें में विवरों औपर्याप्ति रह सके उठनी औपर्याप्ति है।

२. **क्षीराक्राद्-** दूष और अन्न खाने वाले वालक जो एक वर्ष से दो वर्ष तक की अवस्था के होते हैं उनमें वेर की गुठली के समान मात्रा में कल्पक या चूर्चा देना चाहिए।

३. **अक्राद्-** केवल अन्न खाने वाले वालक जो तीन वर्ष से सोलह वर्ष तक आयु के होते हैं उनके लिए वेर के बराबर भागा में औपर्याप्ति देने का विधान है।

१. नाम्य इन्द्रीयं व्याप्तिं वदत् ॥३३३॥ यदेष्य भागीतां रस्यात्तायस्यत्पुरीः पथः ॥
भैषज्यर्थं वन्नं उत्तमाद्युपायीवयाव च। वर्णत्वैव नालक्ष्यं वैष्णववाचारपैतान् ॥ (भ.गि. 30/311-314)
२. वालवं शिरिषाद्-क्षीराद्, धात्राद् इति। (गुरु ३५.३१)
३. हृषि भागाद् वैष्णववाचुर्वद्वय इति (व) वैष्णववीक्षणां विद्यमान् ॥ (गुरु ३५.३१)
४. वैष्णववीक्षणां रस्यात्तायस्यत्पुरीः क्षीराक्राद् ॥ (गुरु ३५.३१)
५. वैष्णववीक्षणां रस्यात्तायस्यत्पुरीः क्षीराक्राद् ॥ (गुरु ३५.३१)

कालीपि का प्रयोग करता हो तो औपर्याप्ति की दुष्टा यां यौवना का विचार कर देता चाहिए।

मूल एक रसी (लगभग १२५ विघ.) की भाग में मधु या दुष्प में निकाल ० से १ वर्ष तक ये वालक को देना चाहिए। निर्गुण्य अकार-ज्ञाता न्यो (सुगभग ५०-६० विघ.) यद्यों तुष १ वर्ष में ६ रसी (लगभग ५०० विघ.) तक औपर्याप्ति है। विर १ से १६ वर्ष तक औपर्याप्ति की भाग अकार-ज्ञाता युवा (वृक्ष), वृक्षार १६वें वर्ष हक ६ ग्राम (भाग) तक लें जायें। ६ ग्राम के औपर्याप्ति तक ७० वर्ष तक तक के दीर्घियों को दें।

यज्ञों में वालकों की भाग के अनुप्रव औपर्याप्ति है।

वालकों में रसीपि (भस्म) १, से एक रसी (लगभग २५-१२५ विघ.) की भाग में है। धीर-धीर आयु के अनुप्रव भाग वृक्षार युवा वृक्ष युवाक्षा में १ से ५ रसी (लगभग १२५-५०० विघ.) तक की भाग में देना जो औपर्याप्ति देने के बाबत।

विभिन्न औपर्याप्ति कल्पों की सामान्य भागा

आपुर्वेट में वर्णित विभिन्न औपर्याप्ति कल्पनाओं की भाग देने के बहावत और अवस्थानुगारा निर्धारित की जाती है। सामान्यतः विभिन्न औपर्याप्ति कल्पों की भाग निष्ठ प्रकार से दी जाती है-

१. रस, भूल, लौह, मन्दूर, निटो- १२५ विघ. में ३७५ विघ. (१ से ३ रसी)
२. पर्णी (कल्प रेहित)- २५० से ५०० विघ. (२ से ५ रसी)
३. वटी - ५०० विघ. - १ ग्राम
४. स्वरस - १० से २४ विघ. (१, चतुर्थ)
५. वृक्षार कल्पना - २४ - ४३ विघ. (१ चतुर्थ)
६. चूर्चा - ६ से १२ ग्राम (१ कर्णे)
७. अवलोह या पात्र - १० से २४ ग्राम (१, चतुर्थ)
८. सिद्ध धूत या तैत - २४ से ४८ विघ. (१ चतुर्थ)
९. आसव या अणि - २४ से ४८ विघ. (१ चतुर्थ)

औपर्याप्ति का निषेध रखना चाहिए-

१. यज्ञों को अकोम या अकोम युक्त औपर्याप्ति न हो क्योंकि उसके ऊपर अप्त्येष

३१ विघ- 21

- 2 सगर्भ रसो को भी अफीम युक्त औपचित न है।
 - 3 मदतागि व बहुमूत्र के रोगी को पूर्ण अधिक न है।
 - 4 सगर्भ रसो को धृत्युगमात्री से निर्वित औपचित न है।
 - 5 पारद, संखिया, कुचला के योगों का प्रयोग यदि अधिक फालत तक चाहते हैं तो चीव-चीव में एक-दो सप्ताह तक ये औपचित योग बन्द न हो देना चाहिए।
 - 6 कमज़ोर आन्द्र वाले मधुमेह के रोगी को अफीम युक्त औपचित न है।
 - 7 अप्स्त पित्त के रोगी को खोजन के बाद या चीव में अधिक जल पीना, ज्वर शाक खाना, खट्टे पदार्थ खाना, गर्म खोजन खाना एवं अधिक चाप-चौड़ी पीना हानिप्रद है।
 - 8 बहुमूत्र रोग में अधिक घृत, खट्टी चीजें, नये चावल, अधिक धोंठा खाना, अज्ञार्य में खोजन, पुनः पुनः खोजन और अधिक जल पीना हानिप्रद है।
- औषध संबंधी अन्य निर्देश**
- हेठले के अनुभव के आधार पर निम्न औपचित सेवन संबंधी नियमों का पालन करना हितकर रहता है-
- 1 ड्यूमाशय पर कार्य करने वाली औपचित रिक्तकोष प्रातःकाल में है।
 - 2 दोपन (भूष बढ़ाने वाली) औपचित खोजन के पूर्व देना चाहिए।
 - 3 खाचन (खोजन पचाने वाली) औपचित खोजन के बाद देना चाहिए।
 - 4 अनुलोमक औपचित खोजन के तीन घंटे बाद देना चाहिए।
 - 5 खनिज व अम्ल रस युक्त औपचित ग्रायः खोजन के पूर्व हैं।
 - 6 अम्ल व शर को उदासीन करने के लिए औपचित (Antacids & Alkaliser) खोजन के तुरंत बाद देना चाहिए।
 - 7 सौह व संखिया के योग खोजन के बाद हैं।
 - 8 आसव व अणि भी खोजनोतर हैं।
 - 9 तीव्रता से कार्य करने वाले रेचक द्रव्य यथा-इच्छाभेदी रस, नाराच रस और प्रातःकाल एवं मदता से कार्य करने वाले रेचक द्रव्य यथा-सनाय, हरंतरं, प्रिफला आदि रात्रि में सोते समय देना चाहिए।
 - 10 मार्त्तवजनन औपचित मासिक साव होनेवाली तिथि के एक सप्ताह पूर्व हैं।
 - 11 मृत्ति औपचित प्रातःकाल है।
 - 12 परिषामगूल में औपचित खोजन के पूर्व व पश्चात् (सामुदाय काल) हैं।

- 13 निद्रावजनन (Sedative) औपचित निदावजन के आधा घंटे पूर्व देना चाहिए।
- 14 प्रातुअनुसार ग्रीष्म में अधिक ठण्डा औपचित व गौव इन्हुं में अधिक खींच औपचित न हैं।
- 15 आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की औपचित्यों आप्रेय स्वभाव की होने के कारण कुछ अल्पाहार या जलपान के बाद देना चाहिए।

4. अनुपान विवेचन

अनुपान का अर्थ होता है जो औपचित वा आहार के साथ में या बाद में दिया जाता है। जो अनुपान खाये हुए औपचित-आहार के गुणों से विवरित गुण बढ़ाता हो किन्तु वीर्य आदि से धातुओं के लिए विपरीत न हो यह प्रसास्त (ड्रग) अनुपान होता है। अनुपान सेवन से अनेक लाभ होते हैं। औपचित एवं आहार के साथ अनुपान सेवन करने से वह विलोन होकर शोषण ही शोषण में फैल जाती है व औपचित-आहार के गुण वर्ष शोषण ही शोषण पर कार्य करते हैं। दोप युक्त, गुरु एवं अधिक मात्रा में खाया हुआ खोजन भी अनुपान से सुखपूर्वक पचकर आसु व बल बढ़ा देता है। अनुपान से शारीरिक धातुयों पूर्व तृप्त होती है। अनुपान से रोषण, प्रीणन, वृंहण, अत्रसंकृत, लंतेदन, चाचन होता है। अतः रोग-रोगी-दोप-औपचित-आहार-विहार का विचार करके अनुपान का सेवन करना चाहिए। अनुपान का निर्धारण हम निम्न तीन चर्चों के अनुसार कर सकते हैं-

- (अ) औपचित व आहार अनुसार — जैसे— जैह में उप्पोदक सेवन
- (ब) रोगी अनुसार — जैसे— स्थूल रोगी में मधुदक सेवन
- (स) रोग अनुसार — जैसे— रक्पित में खींच व इक्षुरस सेवन
- (अ) औपचित व आहार अनुसार निर्देशित अनुपान
 1. खेड (भज्जाक व तुवरक तैल के असारिक) में डजन जलपान।
 2. मधु-दधि-भूता-भावतक तैल-तुवरक तैल में शोतूत जलपान।
 3. मास में मद्य या फलाम्ल सेवन।
 4. हरीतकी - सैधव, शक्करा, शुष्ठी, चिप्ती, मधु-गुड प्रयोग।
 5. लशून - शक्करा, मधु, घृत प्रयोग।

1. पदारप्तुरी: सारे विशेषता गद्दियों। मधुनुपान खाली हूँ एवं विशेषता । (च.ग. 27/319)

2. अचनुपानकमीगुण्डा प्रस्ताव: । चालाम्लेपनप्रयोग: (च.ग. 27/325)

(४) गोगी अनुपान निर्देशित अनुपान

1. फूल रोगी - खींच रस, सुरा प्रयोग
 2. मधूत रोगी - मधुदक प्रयोग
 3. धूप, बालाक, नृद रोगी - शीर प्रयोग
- (५) रोगानुसार निर्देशित अनुपान
1. दातज रोगों में - दिवाय य उष्ण अनुपान, लम्बुन कल्क गिला चूपान।
 2. दितज रोगों में - मधुर-शीत अनुपान।
 3. कफज रोगों में - रुक्ष य उष्ण अनुपान।
 4. स्त्रियकाव रोगों में - मधुपिण्डिता आद्वक स्वरस पान।
 5. भातुक्षय जन्म रोगों में - मांसरस पान।
 6. अविहार, अनिद्रा, गत्ता, घलम में - मध्य, ऐसा दुग्ध प्रयोग।
 7. रक्तपित्त - दुग्ध या हड्डुरस, वासा स्वरस पान।
 8. रोप - मांस रसपान।
 9. तिव रोग - शिरोप या आक, स्वर्ण पत्र सेवन।
 10. शूल में - घृत मिश्रित हिंगु सेवन।
 11. जीवन ज्वर में - पिण्डली चूर्ण मिश्रित मधु सेवन।
 12. ज्वर - चिरायत, नागरमोदा, पित्तपापड़ा छाथ सेवन।
 13. ग्रहणी दोष - तक्र प्रयोग।
 14. अविसार - कुटज त्वक क्षाय प्रयोग।
 15. अर्जन - ऊर्ध्वोदक, निद्रासेवन।
 16. कृनिरोग - विठंग प्रयोग।
 17. अर्जन - भिलाया, चित्रक मूल चूर्ण प्रयोग।
 18. हिङ्का - लाल्हारस नस्य प्रयोग।
 19. कास - वासा, कण्टकारी प्रयोग।
 20. कास - त्रिकटु मिश्रित मधु, भाङ्गी, शुच्छी प्रयोग।
 21. पाण्डु - पुरनवा क्षाय, मण्डूर प्रयोग।
 22. क्षय रोग - क्षीर, मांसरस, शिलावतु प्रयोग।
 23. प्रयेह - त्रिकला, आपसकी य हरिद्रा प्रयोग।
 24. पर्णहोटर - पिण्डली चूर्ण सेवन।
 25. दन्तगाद - पुराण धूत (कौम्भ धूत) सेवन।
 26. अपम्पार - श्वासी य वासा स्वरस पान।
 27. नेत्ररोग - त्रिकला प्रयोग।

१. ईराक्षकुर्वर्द्धे लीक्करम् ॥

(पं१ लाल्हारसाद्य)

चिकित्सा में महापक्ष अंग

28. आपाता - गोमूत्र गिला एकाद नेन रस।
29. गतरोग - गुण्डुल य लग्नुन प्रयोग।
30. उद्दरोग - रेचन (Purgation) उद्देश।
31. गतरक - गुदुची प्रयोग।
32. लार्दित - मारेडारी (उद्देश का वर्त्त) उद्देश।
33. मेदोरोग - मधुदक पान।
34. प्रदर - लोध्र प्रयोग।
35. अरुचि - विजीरा निवृ ल्लग्म उद्देश।
36. द्रव्य - नवीन गुण्डुल प्रयोग।
37. दंडक - मधुपान।
38. अन्नपित्त - द्राक्षा, कृनारांड प्रयोग।
39. मूत्रकूच्छ - शावायरो, खेता गुण्डार उद्देश।
40. कुर्वि - खट्टिरसार जल प्रयोग।
41. शेत कुष्ठ - याकुचोपल उद्देश।
42. भव - संतोष करना।
43. लर्दि - लाजा य मधु प्रयोग।
44. पार्वशूल - पुष्करमूल प्रयोग।
45. पूर्वांडी - शोतृ जल तिंबन।
46. अशमरी - पापायनभेद प्रयोग।
47. गुल्म - तिलू त्वक प्रयोग।
48. विद्धिपि - रक्तमोशन प्रयोग।
49. भाग्नदर - केचुआंड य जल अस्त्र, यद्देश रक्त उद्देश।
50. स्वरभेद - पुष्कर मूल य मधु प्रयोग।

ठपर्मुक घर्जन के अनुसार दिया गया अनुपान दोग-दोग-जैवप-जहार-विहार के अनुसार छोड़ होता है। अनुपान उपलब्ध न होने पर "उच्च जल (कोण्य जल)" का अनुपान सर्वशेष होता है।

५. पद्ध्य (Dietetics)

"पद्ध्य" चिकित्सा या ईपत्र का पद्ध्य है। "पद्ध्य" को व्याख्या करते हुए अद्वार्द्वे चरक ने कहा किया है कि जो आहार-विहार एवं अद्वार्द्व तालं यानि (स्वेच्छा) के तिर लिंगकर हो तथा मन को भी किया हो उसे "पद्ध्य" कहते हैं।

विकास

1. "पद्धो शुद्धेन बाढ़ा दोषा धात्रवक्त, तथा पर्वतसंवर्द्धम भातुनो गुदने तेन पूत्तरभेद शरीराल्लोगे भन्नाति, इति शरीराल्लोगति पर्वतसंवर्द्धम भन्नाति।" अर्थात्

- पथ शब्द से दोष एवं पातुओं का ग्राहण होने से सम्पूर्ण शरीर अस्थि एवं अन्य भागों को जो हितकार हो उसे "पथ्य" कहते हैं।
2. "पथः स्नोतोरुपात् शरीरमात् अनपकारकं यत्पथ्यम्।" अथांग भागों शरीर के लिये जो पदार्थ हानिकार न हो वह "पथ्य" है।
 3. "किंवा स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च पथ्यः, तग्गादारो पथ्यम्, यज्ञ मनसः प्रियम्, एतेन मनः शरीरानुपथाति पथ्यमिति।" अथ स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा एवं रोगी के रोग का शमन करना ये दोनों पथ्य हैं। अतः दोनों के लिए जो हितकर हो वह "पथ्य" है।

जो शरीर का अपकार करनेवाला व मन को प्रिय नहीं है वही "अपथ्य" है। किं द्रव्य की दृष्टि से यह लक्षण निश्चित नहीं है। वही द्रव्य मात्रा, काल, संस्कार, भूमि, दोष को भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करके पथ्य भी हो जाता है एवं अपथ्य भी चया- घृत पित्त व वात रोगों में साधारणतः पथ्य है किंतु अतिमात्रा में सेवन करने में वर्ण त्रुत्य में, मधु के साथ, आनूप देश में, स्थूल मनुष्यों व कफज रोगों में घृत अपथ्य हो जाता है। अतः मात्रादि का ध्यानकर पथ्यापथ्य का निर्णय करना चाहिए। विष भी उचित फल में देने पर अमृत तुल्य हो जाता है। "विषस्य तिलं दद्यात्" (च.चि.) पथ्य का निर्देश करने वाला तंत्र आयुर्वेद वाइभय में "स्वस्थवृत्त" कहलाता है। चरक सुहिता सूत्रस्थान के अध्याय 5 से 8 तक (स्वस्थ चतुष्क) में इन्हीं का निर्देश है।

पथ्यापथ्य नियमक भावः

पथ्य एवं अपथ्य का नियमन करने वाले भाव छः हैं। इनके प्रयोग से अपथ्य अपथ्य हो सकता है तथा सही प्रयोग न होने पर पथ्य भी अपथ्य हो सकता है। यह भाव निम्न प्रकार हैं-

- | | | |
|-----------|--------|-----------|
| 1. मात्रा | 2. काल | 3. क्रिया |
| 4. भूमि | 5. देह | 6. दोष |

पथ्य का महत्व

1. शरीर पथ्याहार पर ही अवस्थित हैं। शरीर के तीन उपस्थितियों में आहार जो पहला स्थान है। शरीर के घटक द्रव्य आहार से निर्मित होते हैं। रोग भी अहिताहार सेवन से होते हैं। अतः पथ्याहार ही जीवन संरक्षण का मूल है।

-
- | | |
|---|-----------------|
| 1. पथ्य पथोऽनपेतंयद्यांकं मनसः प्रियम्॥ | (च.ग. 25/45) |
| 2. मात्रावातान्तिक्षयामृष्मिदेहादाप्यनुजानारम्। प्राप्य तत्तद्वृश्यन्ते ते ते भायारतथा तथा॥ | |
| तस्मात् स्वभागो निर्देशस्तथा मात्रादिग्राह्यः। | (च.ग. 25/46-47) |
| 3. प्रय ठपात्रम्भः। इति आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति। | (च.ग. 11/35) |
| 4. आहारसंभवं वर्यु योग्याहारसंभवाः॥ | (च.ग. 28/42) |

इन्हीं की भावाण देकर गुणों में शुद्धि करने के तरिख पर बोलता है—
“एही शोध कामक है पूर्ण वापछन के साथ ग्राफ़्ट
कर करता है।” “फरन” या तात्पर्य है विप्रिन “Preparation”
संयोग— किन्तु भी दो इन्हों का प्रयोग हितकर गा अवश्य,
उसके संयोग पर निर्भर करता है जैसे पूर्ण एवं मध्य तापमात्रा
से विवरण होता है, वही विषय यात्रा में देने पर या पृष्ठ-पृष्ठ
तापमात्र है। “संयोग” या अर्थ है “Combinations”।

- (iv) राशि— राशि का ग्राहण्य है मात्रा "Quantum"। राशि के हैं—

 1. सर्वप्राण
 2. परिप्रह
 1. सर्वप्राण— विभिन्न आहार द्रव्यों को पिलाकर लेना 'सर्वप्राण' कहलाता है। इसमें द्रव्यों का नियन्त्रण नहीं होता।
 2. परिप्रह— विभिन्न आहार द्रव्यों को पृथक्-पृथक् नियंत्रित प्रबोधन द्वारा ग्रहण करना 'परिप्रह' कहलाता है।

(v) देश— आहार द्रव्य की उत्तराधि किस प्रदेश में हुई है? देशसाहस्र या आदि का विचार 'देश' की दृष्टि से किया जाता है। देश पुण के विचार द्वारा बहला है देश साम्य होता है यथा आपूर्वदेश में जाणा द्रव्य, जागत द्वारा लिप्त द्रव्य देश साम्य होते हैं। उसी प्रकार हिमालय में तत्त्व दीप्ति द्वारा होती है। देश से तात्पर्य आहार द्रव्य के "Place of Origin" से है।

(vi) काल— ग्रन्थ साम्य के अनुसार काहार सेवन, रोग की विचार (नाश द्वारा व्यापक आदि) तथा रोगी की आयु (वाल्पनिकावृद्धि) आदि के अनुसार ही आहा ग्रहण करना चाहिए। काल के निष्ठा द्वारा भेद है—

'काल' से जटिल Season, state of disease and age of patient में है।

(vii) उपयोग संस्था— उपयोग संस्था से आचार्य Rules of USO में है। एवं करने के नियम वौ "उपयोग संस्था" कहते हैं। इसके लिये अचार्य द्वारा ने "द्वादश असाम विचार" वा अचार्य खाले ने "आहार प्रियि गिपन" बर्जन किया है।

१. देश: पुराना, एवं उत्तमकालीनदर्शक देशाभ्यास चाहते। (प्रश्न १)
 २. वर्षों में विकासात्मक विकासात्मकों विकासात्मकों, विकासात् विकासात्मकों। (प्रश्न २)
 ३. विकासात्मक विकासात्मकों, विकासात् विकासात्मकों। (प्रश्न ३)

(vii) उपयोगीता - भौतिक प्रकार करने वाले को "उपयोगी" कहते हैं। उपयोगी को अपने सभी प्रयोग माध्यम के अनुभव भौतिक करना चाहिए। उपयोगी में गारंटी है "User".

आमा खिपि खिपानः

आशार्थ चरक ने अल्लाह ग्रहण करने के नियम विषय इन्हन मूल के द्वादश अध्ययन में शारीरिक किए हैं-

1. दल्ल 2. विषय 3. नवाखैक

4. पूर्वज्ञात भोजन के पाव बने पर

5. अविरुद्ध वीर्य (जो इच्छा परम्परा वीर्य विकास न हो)

6. हितकार स्थान ने चैटकर

7. हितकार उपकरणों के माय

8. नाति शोप्र

9. नाति विहान्य

10. भोजन काल में न बोलते हुए।

11. न हंसते हुये।

12. अबनो "अद्य बल" के समझकर धनदा के अनुकूल भोजन छड़न।

13. एकाग्रधित होकर हितकारी पदार्थों का सेवन करन चाहिए।

द्वादश आशान विचार

आचार्य सुशुद्ध ने भोजन के 12 प्रकार के विवरणों का बनाने किया है, जो निम्न प्रकार है—

 - (I) शोत आहार—उच्चाता, यद इसे तुम्हा पौरीत को रोक आहार या सेवन करायें।
 - (II) उच्चा आहार—कफ—वाताव दोनों में, खेंचो, गिरिक व्याकुं या उच्च वीर्य आहार का सेवन करायें।
 - (III) विषय आहार—गात प्रकृति में, वात घासीप रोटी, एवं कुरा व दुर्बत्त खाली में विषय आहार का प्रयोग करायें।

- उपर्युक्त पुस्तकालयात्पुरुष, उपर्युक्तकालय ग्रन्थालयादीर्घि विनियोगी बनावटी बनावट
। (पृ. 122)
 - उन्हीं, शिवाय, साकार, तोंडी, सोंदीलदार, तोंडे देवी, साकारांगी, दोंडी,
महालिलाली, प्राचारा, भवती, दगडी पूजा, अक्षयार्धप्रसाद इत्यहृ । (पृ. 124)
 - भगवान्नपुराणालय कालय विनायक : १३ विनियोगालयात्पुरुषविनियोगी-
विनियोगालयात्पुरुषविनियोगीविनियोगालयात्पुरुष । (पृ. 125)

- (iv) रुक्ष आहार—ऐदस्ती, वर्षाज रोगों में, प्रभेही फो, कफ प्रमुखों के आपात्कृति में रुक्ष आहार का प्रयोग।
- (v) इष्व आहार—शुक्र शरीर यांत्रे, एवं पीड़िया, दुर्बल शरीर यांत्रे अर्थात् को इष्व आहार है।
- (vi) शुक्र आहार—कुछ, निसर्ग से विनका शरीर विलन हो, प्रभेही तो ये शुक्र (विना घो, वेत) आहार देना चाहिए।
- (vii) एक कालिक आहार—दुर्बल जराग्नि को बृद्धि के लिए रोगी को 24 घण्टे में एक समय भोजन देना चाहिए।
- (viii) द्विकालिक आहार—विस व्यक्ति की अग्नि सम हो, उसे द्विकालिक आहार है।
- (ix) औषधपुक्त आहार—अौषध द्वेषी पुरुष को आहार में ही औषध पिलकर देना चाहिए।
- (x) मात्राहीन आहार—विनकी व्याडशापि मंद हो, रोगी हो, उसे मात्राय व्यक्ति को भोजन की मात्रा की अपेक्षा कम मात्रा में भोजन देना चाहिए।
- (xi) प्रशमन कालक आहार—विस ज्वर में विस दोष का संबंध एवं प्रकारेष इतने हैं उस ज्वर में उस दोष को नष्ट करने वाला आहार दोष प्रशमन कालक कहलाता है।
- (xii) स्वस्थवृत्ति प्रयोजक—स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य के संरक्षणार्थ सर्वांग पुरुष ज्वर देना चाहिए। “नित्यं सर्वसाभ्यासः स्वस्थाधिक्यमृतामृतौ॥”

6. आपथ्य

जो आहार या औषध दोषों को अपने स्थान से उभार दे, चलायमान कर दे एवं जांते में बाहर न निकले, वह विरोधी आहार होता है एवं वही आहार अहितकर एवं अपन बनने किया है। आचार्य चारक ने निम्न 18 प्रकार के विरुद्ध आहार (Incompatible diets) वा

1. देश विरुद्ध (Contrary to climate)—आनूप देश में लिख्य एवं शैत पदार्थों का सेवन।
2. काल विरुद्ध (Contrary to season)—शीत ज्वर में शीतात एवं रुक्ष आहार एवं औषध द्रव्यों का प्रयोग।

स्वप्नपि रोक्षस्तुप्रदृष्टव्यविनियोगः। सीक्षणात् धौर्यात् फोडायस्ताक्षर्मैषि॥
गोदागोपद्युप्तं चाचारं मनोगतोऽपि य। विश्वदं तथा न हितं इत्यपद्युपिभिर्य यत्॥ (प.ग. 26/56-57)

3. अग्नि विरुद्ध (Contrary to digestive power)—दुर्बलाग्नि पुरुष द्वारा गुरु-व्याप्त आहार सेवन करना।
4. मात्रा विरुद्ध (Contrary to measure)—मधु व पूजा का समानात्र में सेवन विष तुल्य है।
5. सात्य विरुद्ध (Contrary to adaptability)—विस करु रस अ ऊर्णवीर्य आहार सात्य हो उसे मधुर रस व रान वैवर्य अहार सात्य विरुद्ध है।
6. दोष विरुद्ध (Contrary to body humours)—त्रिदोष के सनात गुण यांत्रे व अन्यास विरुद्ध औषध, आहार करने का सेवन करना दोष विरुद्ध है।
7. संस्कार विरुद्ध (Contrary to preparations)—दून्द की लकड़ी में छेद कर भूता हुआ मंत्र का नांस विष तुल्य होता है।
8. वीर्य विरुद्ध (Contrary to potency)—दूप (रातं वीर्यं) द्वय मूली (ऊर्णवीर्यं) द्रव्यों को एक साथ याता।
9. कोषु विरुद्ध (Contrary to bowel habit)—कुषु फोटो व्यक्ति को गुरु या मात्रा में अधिक व विरोदक द्रव्यों का प्रयोग।
10. अवस्था विरुद्ध (Contrary to state of patient)—जलते एवं आएग-तात्त्वी व्यक्ति को कठ वर्षक आहार सेवन करना।
11. क्रम विरुद्ध (Contrary to order of eating)—मल-मूत्र लाग किए विना भूख लाने पर या अधिक भूख लाने पर भोजन करना।
12. परिहार विरुद्ध (Contrary to avoided things)—सुअर का मांस खाकर दृष्टि बलुओं का सेवन करना।
13. उपचार विरुद्ध (Contrary to treatment)—सेहपान करने के तुरन्त चाद शोतूल बलपान करना।
14. पाक विरुद्ध (Contrary to cooking)—बता हुआ अन सेवन करना, या पूर्ण पाक हुये विना हो अत्र का सेवन करना।
15. संयोग विरुद्ध (Contrary to combination)—दूप के साथ अन्य रस (इमली) का सेवन करना।
16. हुद्य विरुद्ध (Contrary to palatability)—जो आहार मनेतुकूल न हो उसे सेवन करना।

काष-चिकित्सा

320

17. संपर्द विरुद्ध (Contrary to richness of quality) — इसमें उचित रूप से ऐसे उत्पन्न न हुआ हो, जो अतिक्रान्त रसा हो गए। इनमें से कई फरारी हैं।
18. विप्रि विरुद्ध (Contrary to rules of meals) — आहार रेखांनी ने विप्रियी बताई है उनका पाहतन न करते हुए भोजन करना चिप्पी नहीं कहता है।

इन 18 प्रकारों के विरुद्ध आहारों का सेवन शरीर के लिए अहितकर होता है ताकि इनके दोषों को उत्तीर्ण होती है जो निम्न हैं—

विरुद्ध आहार सेवन जन्य रोगः

मन्त्रान्तरः विरुद्ध आहार सेवन से नर्समस्तका, अंशापन, विसर्प, जलोदर, विकृ, पत्तन्तर, भन्तर, नूचां, नद, आधान, गलप्रह, पाण्डु, आपविष, किलास, मुद्र छहनी, रोध, अस्तरिय, न्यू, पीनस एवं हृतानों में द्वेष आदि रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

विरुद्ध आहार चनित (अपच्यज) रोगों की चिकित्सा^१

1. बनन
2. विरेवन
3. विरुद्ध गुण वाले द्रव्यों का सेवन
4. विलदाहार जन्य व्यापि के विरुद्ध उपचार
5. रमायन सेवन करना।

विलदाहार भी चाहीं

1. सागारार सेवन किया जाए तो ओक्सारव्य हो जाता है।
2. अन्तनामा में सेवन किया जाता है तो हानिप्रद नहीं होता।
3. पुरुष की जानकारी तीस्रा हो तो विलदाहार को पचा देती है।
4. पुरुष युक्तव्यामा में हो व नित्य व्यायाम करता हो,
5. सैदैय पूत्र सेवन करता हो,
6. बत्तवान हो, तो गांड के लिए हानिप्रद नहीं होता।

1. दान्तन्त्रवर्णनीय
2. रेखा यान्त्रोदय च वैर्दीपिकार्तिप्रदान व्यापित्यामियं भयः प्रतिकार व्यापितः। गदाया-यान्त्रा विवरणं च। अट्टोपितीय इवाचारं संत्यग्यात्यनुवर्णेणः, वैर्दीपिकै इत्यैः पूर्वोपायामव्याप्तिर्विवरणात्। (प.ग. 26/102-103)
3. यान्त्र्यांगस्वर्णाद्यानि देवदुर्लभायाम च। तिन्नपञ्चवर्णामव्याप्तिर्विवरणात् विवरण व्याप्तिर्विवरणात्। (प.ग. 26/104)

7. आत्मविकार अवस्था में प्रयुक्त आयुर्वेदीय औषध योग

आत्मविकार या अर्थात् जब अन्तर्गत जो चिकित्सा जीव जाती है तब "अन्तर्गत चिकित्सा" (Emergency Treatment) कहते हैं। जिसी भी रोग के प्रत्यक्ष लक्षण (Cardinal sign / symptoms) ही योगदानिक के मुख्य लक्षण रहते हैं। इनमें ही प्रत्यक्ष लक्षण उपर्युक्त रूप में हो जाते हैं तथा आत्मविकार अवस्था कहलाती है। कई जारी रोग के उपर्युक्त भी आत्मविकार अवस्था उत्पन्न कर देते हैं। उदाहरण यहां निम्न उपलब्ध आत्मविकार जानी जा सकती है—

1. तीव्र ज्वर (Hyper Pyrexia)
2. गोद्र अतिसार (Acute Diarrhoea)
3. तीव्र घमन वा छर्दि (Projectile Vomittings)
4. जलालपता (Dehydration)
5. दाघ (Burn & Scald)
6. गोद्र रक्तस्राव (Acute Haemorrhage)
7. तीव्र उदरशूल (Acute Colics)
8. तीव्र शासकातिय (Acute Dyspnoea)
9. मूत्रवरोध (Suppression of Urine)
10. अंगूठा (Angina Pectoris)
11. निम्न रक्तदाव (Hypotension)
12. मूर्छा व सन्धास (Syncope & Coma)
13. तीव्र विवाकाता (Acute Poisoning)
14. आघातव ज्ञान (Accidental Injury)
15. प्रताप (Delirium)

उपर्युक्त आत्मविकार अवस्थाओं में उस समय उपतत्व किसी भी चिकित्सा पद्धति की सहायता फलदायक औषध दी जा सकती है, क्योंकि उस समय आत्मविकार की जीवन को हो बचाना चिकित्सक का मुख्य कर्तव्य होता है।

आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति में निम्न औषधियों को आत्मविकार अवस्था में सहायता फलदायी औषधियों के रूप में प्रयुक्त कर सकते हैं—

(अ) जीवन रक्षक औषधियों

- | | |
|---------------------|------------------------------|
| 1. रस सिद्धर | 2. हेमाप्रक तिन्दू |
| 3. हेमाभेपोट्टली रस | 4. सिद्धपकरभाज रस |
| 5. सगीरप्रसाग रस | 6. युहत यात्रिचित्तामर्पण रस |

7. शोणेर रस
9. कृष्णगुप्ती रस
11. दृढ़ भस्म
(म) साधः वस्त्राद औरधियाँ
1. कस्तुरभैरव रस
3. स्वर्णब्रह्मनामाली रस
5. महालक्ष्मीविलास रस
7. बल्लभिन्नू
9. स्वर्णसूत्रशेखर रस
11. बहुता पिण्डी
13. स्वर्ण दुक चाहो चटी
(न) रोग प्रतिकारक औरधियाँ
1. हंडोदनो चटी
3. कर्म रस
5. अर्द्धांशकधिनो रस
7. दौधवत्ती रस
9. छटीरितु रस
11. रुद्रेन्द मांदी
13. अन्दभैरव रस
15. वृक्षगृह्णालाक चटी
17. कुटदयन चटी
19. कंदवैद चटी
21. नीमबल
23. दिगुकर्म चटी
25. नूषिकाभाष रस

८. आदर्श आतुरवृत्त पत्रक (Patient Case History Sheet)

ज्ञान का इतिवृत्त (History) जात करना एक कला है जिसे चिकित्सक यर्जन के अनुपत्ति के दृष्टित्रै जान कर चाहता है। आतुरीय इतिवृत्त (Patient Case History Sheet) आतुर से सम्बन्धित चिकित्सकीय व स्थानीय सम्बन्धी घटनाओं का सेवा-योग्य है ऐसे कि एक विशेष झेमण्डल रूप में लिखा जाता है। अनुमानत: 80% आतुरों में व्याप्त विनियोग (Diagnosis) मर्तीक इतिवृत्त (History) जात करने से ही हो जाता है। अतः आतुर के रोग वा इतिवृत्त लिखना व जानना चिकित्सक का महत्वपूर्ण गोपनीय कर्तव्य है। अतः एक आदर्श इतिवृत्त (Ideal Case History Sheet) यिन्

8. रसराज रस
10. प्रसात फिटी
12. आगरगुन्दरी चटी
2. ब्रैलोवयचिनामाली रस
4. शासकासचिनामाली रस
6. जयगंगल रस
8. वातकुलालाक रस
10. शतपुटी अप्रक भस्म
12. जहर मोहरा
14. अमृतोज चूर्ण
2. अर्कधारित गोदनी भाष्म
4. अमृत धारा
6. रामबाण रस
8. बमनकुलार रस
10. मधुरपिच्छ भस्म
12. हिंगुलेश्वर रस
14. बोलचढ़ रस
16. सर्पगंधा चन चटी
18. अचिन्पशक्ति रस
20. कतकासव
22. अहिफेन्नासव
24. निशेदय रस
26. आयुष-64 (विषम चवर)

जिन्होंने के आधार पर झग्गानुसार नोट करना चाहिए—

१. आतुर सामान्य परिचय (Biodata of the Patient)

आतुर नाम	चहिरदृश्य झग्गान
पितृ/पति नाम	अन्तरदृश्य झग्गान
यथा (घरों में)	गम्भीर झग्गान
तिक्क	प्रयोग दिनांक
जाति/धर्म	निर्गम दिनांक
	अव्याहृत यथाधिक विनियोग
पता	परिवार

२. आतुरोक प्रमुख व्यवाय-सायदि (Chief Complaints with duration)

नोट—आतुर को सामान्य भाषा में ही लिखना चाहिए। Medical Terms का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

- i)
- ii)
- iii)
- iv)
- v)
- vi)

३. चर्तमान रोग इतिवृत्त (History of present illness)



१. पूर्व रोग इतिवृत्त (History of past illness)

५. परिवारिक इतिवृत्त (Family History)

प्राप्ति
दादा/दादी
जना/नानी
भाई/बहनी
सुज़ि/जुज़ी
भाई/बहिन

६. व्यक्तिकृत इतिवृत्त (Personal History)

जन्म स्थान-आनन्दपुर/बांगल/पर्वतीय/साधारण प्रदेश
प्राची निवास स्थान-आनन्द/बांगल/पर्वतीय/साधारण प्रदेश
शैक्षणिक स्तर-अधिकारी/प्राथमिक/माध्यमिक/स्नातक/स्नातकोत्तर
व्यवसाय-अधिकारी साध्य/श्रम साध्य/अश्रम साध्य/निजी/राजकीय/एवं निजी
सामाजिक आर्थिक स्थिति-निज/मध्यम/ठुच वर्ग
वैवाहिक स्थिति-विवाहित/अविवाहित/विभृत/विधवा
आहार स्थिति-शाकाहारी/मांसाहारी/व्याप्रिश्र (Mixed)-प्रवर/मध्य/अल्प (भावनुग्रह) फॉस्टफूट/मधुमेहीजन
निर्दारित स्थिति-सम्यक/अति/अल्प/नाश
कोण स्थिति-कृप/मध्य/मुकु
अग्नि स्थिति-सम/विषम/दीषण/मन्द
स्तरांतर स्थिति-मेदस्तरी/कृश/मध्य/सामान्य काय
व्यसन-चाप/कर्फी/पृष्ठान/भय/तम्प्याकृ/अन्य

७. आर्तीय इतिवृत्त (Menstrual History in Females)

स्त्रोदर्शन आपु
स्त्रोनिवृत्ति आपु
मासिक स्नाव अवधि (Periodicity) (e.g. 4/28)
आर्तीय चक्र-नियमित/अनार्तीय/कटार्डीय/डीनर्डीय/अल्पतर्तीय आदि।
अनियम मासिक स्नाव (LMP)

८. प्रसूति इतिवृत्त (Obstetric History in Females)

विवाह की आयु (Age at Marriage)
बन्ध्यत्व समय (Any Period of infertility)
गर्भ नियोगीक प्रयोग (Any Contraceptive use)
पूर्व शिशु (Previous children)-

- i) Age at Present
- ii) Weight at birth
- iii) Term / Preterm
- iv) Vaginal / Caesarean
- v) Associated Complications (DM, PPH)
- vi) Any congenital anomalies

९. चिकित्सकीय-औषधीय इतिवृत्त (Treatment or Drug History)

चिकित्सा प्रकार-आधुनिक/आधुनिक/होमोपैथिक/अन्य
औषध सेवन-स्ट्रीराइट्स/अनूर्वतारोधी औषध/गर्भ नियोगीक औषध/मूशत औषध
रक्तचाप नियापक इव्व/निहाय औषध/अन्य (_____)

१०. अ) सामान्य भौतिक परीक्षा (General Physical Examination)

काय प्रकार (शरीर)-कृश (Thin)/मध्य (Moderate)/स्फूत (Obese)

रक्ताल्पता (Anaemia)—(Grade +, ++, +++, +++++)

स्थायता (Cyanosis)—(Grade +, ++, +++, +++++)

फामल्ता (Jaundice)—(Grade +, ++, +++, +++++)

नखचिपिट्टा (Kollonychia)

नखपुदगता (Clubbing)

ओडेमा (Oedema)—एकाहू/सर्वाहू/दबाव सहित (Pitting)/ दबाव नहिं
(Non Pitting)/हाइड्रो/युक जन्य/यन्त्रजन्य।

पाख

त्वक्

का. चि.- 22

जीवन चिह्न (Vital Signs)

क्रमांक	चिह्न	चिकित्सा पूर्व	चिकित्सा पश्चात्
1.	नाड़ी गति प्रति मिनट		
2.	स्फुरन गति प्रति मिनट		
3.	तापकम ($^{\circ}\text{F/C}$)		
4.	रुक्षदाब (in mm Hg)		
5.	खोरे भार (in Kg)		

(ब) अष्टविध परीक्षा (रोग बल: प्रणाणार्थ)

I) नाड़ी परीक्षा

दोषज—जातज/पित्तज/कफज/वातपित्तज/वातकफज/पित्तकफज/त्रिदोषज
सादृश्य गति—जलीक/सर्प/धातक/मण्डूक/काक/हंस

अन्य—सब/विषम/दुर्ब/विलम्बित

—मद/मध्य/तीव्र

यति—सम/विषम

संहति—कठिन/मृदु

आकृति—कृश/स्थूल

अन्य

II) सूत परीक्षा

मात्रा—ml/प्रतिदिन (24 Hours)

प्रवृत्ति—दिन में.... यार, रात्रि में..... चार

वर्ण—पीत/कृष्ण/रङ्गाप/सींधाप/आविल/.....

स्वरूप—संपूर्ण/संकृप्त/संतुक्त/संरक्ष/संरक्ष/विन्दूवत/डिपरालन
निराम/.....

स्पर्श—शीत/ठम्म/हङ्क/स्तिघ/.....

रंथ—तीव्र/अत्य/.....

प्रतिक्रिया—अम्लाद्य/क्षारीय

विशिष्ट गुणता

अन्य

III) मल परीक्षा

मात्रा—अत्य/वहूल/सामान्य

प्रवृत्ति—..... यार/प्रतिदिन

वर्ण—भेताप/वसाप/कृष्ण/हरित/रङ्गाप/पीताप/तिलपिण्डिनिम

स्वरूप—मृदु/कठिन/व्रिक्षा/सद्रव/मक्क/मरक/मङ्गी.....

प्रकृति—साप/निराम/जलमान/बलत/संकेन/.....

रंथ—सामान्य/तीव्र/अत्य/.....

IV) जिहा परीक्षा

वर्ण—रङ्गाप/धेताप/पीताप/नीलाप/कृष्णाप

स्वरूप—सक्तम/कृश/स्थूल/आइ/तुक्र/कंटकपुक/प्राच्यत/सडपुक/उपमलावृत

स्वच्छ/साम/निराम/.....

अन्य.....

V) शब्द परीक्षा

स्वरूप—अन्तर्कृतन/कञ्चकूवन/संप्रित्तुटन/गर्दभवन/बोध (मृक)/निर्मित्तगदाद
गुरु/सानुनासिक/.....

अन्य.....

VI) स्पर्श परीक्षा (त्वक्)

स्वरूप—मृदु/कठोर/शीत/उष्ण/तुक्र/आइ/स्थूल/स्तिघ/सराद/सरूप/सकन्द
स्वस्त्र/संताप/.....

अन्य.....

VII) दृष्टि परीक्षा (नेत्र)

वर्ण—धूधवर्ण/रक्तवर्ण/जाम्बवर्ण/हारिद्र/धैरु/योद्ध/.....

स्वरूप—सदाह/सामु/सकण्ड/सरोक्कर्प/निमोलिक/प्रकल्पा तहिन्दु/प्रकाशप/सहिन्दु

अन्तःप्रविद/वाहिकोटा/सिद्ध/.....

दृष्टि दोष—निरुद्दिष्टोप/दूरदृष्टिदोष/जावन्य दोष/तिरंतरो (Cataract)

अन्य

VIII) आकृति परीक्षा

स्वरूप—कृश/स्थूल/हस्त/दीर्घ/सामान्य/.....

अन्य.....

(स) दशविध परीक्षा (आतुर घल प्रमाणार्थ)

i) एकृति

श्लारीरिक—चातुर्विज्ञ/श्लोभल्ट/वात विज्ञ/वातकफज/गितक/कृति/.....
मानसिक—सामिक/राजस/तापसी/....

ii) विकृति—प्रकृति सब समवाय/विकृति विषय समवाय

iii) सार—त्वक्/रक्त/मांस/मेद/अस्थि/मज्जा/शुक्र/सत्त्वसार

iv) संहवन—प्रवा (सुसंहव)/वध्य/अवर

v) प्रवाण—सम/मध्यम/हीन

vi) सात्य (वषशय)—एक रस/मध्य रस (2 से 5 रस)/सर्वास/रक्त/रक्तिनिष्ठा

vii) सत्त्व—प्रवायम्य/अवर

viii) आहार शक्ति

(अ) अध्यवहण शक्ति—प्रवाय/मध्यम/अवर

(ब) जरां शक्ति—प्रवाय/मध्यम/अवर

ix) व्यायाम शक्ति—प्रवाय/मध्य/अवर/अव्यायामी

x) वय (आवाय सुश्रुतानुसार)

व्यायावस्था—1 से 16 वर्ष तक

द्युवावस्था (विवर्धमानावस्था)—17 से 30 वर्ष

प्रांड्यावस्था (प्रध्यम अवस्था)—31 से 60 वर्ष

दृढ़ावस्था (जीर्णावस्था)—60 वर्ष से ऊपर

11. (अ) स्वोत्तम् परीक्षा

i) प्राणवह स्वोत्तम् (हृदय, फुफ्फुस, रसवाही धमनी)

हृदय—कठाना/सर्गूल/सशाद्व/सितमिह/भारित/....

फुफ्फुस—अवराद्वमार्ग/कफपूर्ण/शोधयुक्त/सशाद्वधास/ग्रन्थियुक्त/सर्गूल/यस्माद्युक्त/....

ii) उदकवह स्वोत्तम् (तालू, घलोप)

विद्धातोप/वातुरोप/कण्ठरोप/ओष्ठरोप/अविधिपिपासा/अपिपासा/जलोदाद/....

iii) अव्रवह स्वोत्तम् (आमाशय, अव्यायामी धमनी)

आमाशय—आन्त्रादि—सर्गूल/सार्वुद/मृदु/कठिन/सोदावर्त/विषय/सर्वा इति/ग्रस्ता/....

अन्य—धुपा वृद्धि/आप्यान/अन्तुष्ठ/छर्टि/तृष्णा/ध्रम/अहचि/अविपाक/....

iv) रसवह स्वोत्तम् (हृदय, रसवहधमनी, गिरा)

रोष/रुद्रपथ/सप्तनिय/सर्गूल/प्रतिचय-युक्त/मृदु/कठिन/इलास/गौचर/तद्रु/अंगमई/व्यात्प/पाण्डु/प्रतिचय/वली/पलित/अहचि/अरसहना/....

v) रक्तवह स्वोत्तम् (यकृत, प्लीहा, रक्तवाही धमनी)

यकृत—सर्गूल/सार्वुद/अपक्रान्त (Fatty degeneration)/रुद्रपथ/संकुचित (Cinthesis)/वृद्धि (Megaly)/....

प्लीहा—सर्गूल/सार्वुद/संकुचित/वृद्धि/....

vi) मांसवह स्वोत्तम् (स्नायु, त्वचा, रक्तवाही धमनी)

सरोथ/मांसस्रोप (Dystrophy)/अधिमांस/मृदु/मांसकोत्त/पूर्विनांस/गतगण्ड/गण्डमाला/उपांचालिका/....

vii) मेदोवह स्वोत्तम् (कटि, वृक्क)

स्वेषणमन/स्वेषणधिक्य/तालुरोप/पिपासा/अतीकृत/अविस्तृत/अविदीर्घ/अलोम/अतिलोम/धुपातुरुप/सुद्रास/तद्रु/प्रनेह/स्त्रिकस्त्रनोदरत्तनन्दन/नैमुन तानस्थ हीन/....

viii) अस्थिवह स्वोत्तम्

अस्थिस्थि/अधिदन्त/दन्तभेद/दन्तसर्गूल/अस्थिपेट/अस्थिसर्गूल/दन्तविवर्तन/आमन्यात/स्त्रियात/वातरक्त/अस्थिसुधिरत/....

ix) मज्जावह स्वोत्तम्

भ्रम/मूर्छा/तमोदर्शन/लक्षण्यण्णा/....

x) शुक्रवह स्वोत्तम् (वृषण, सत्त्व)

प्लीया/अहर्णीण/शुक्रअप्रवृचियैधुनअराई/सरल शुक्रसरूप शुक्रसूत्र शुक्रगुक्त विलम्ब प्रवृत्ति/गर्भस्त्रव/गर्भसात/....

x1) मूर्खवह स्वोत्तम् (बीसि, मेदू)

मूर्खमिरोध/मूर्खक्षय/सर्गूल/सलाह/अविस्तृत/अतिवदु/अस्तमो/अठोला/मृदु/मसोक्त/अतिरुद्रपथ/संवृच्छा/....

x2) पुरीपवह स्वोत्तम् (पक्वाशय, गुद)

आगाह/पलांगीर्ण/मलापांचिपाशूल मलप्रवृत्ति सरलमत/स्कृमि नल/सकर नल/आगाह/पलांगीर्ण/मलापांचिपाशूल मलप्रवृत्ति सरलमत/स्कृमि नल/सकर नल/अगाह/गुद/वहूल/विषयन्ध/वदावर्त/अरांकुर (बाल/आपांतर)/जुनःपुरः/....

xiii) स्वेदवह स्रोतस्

उत्तरवेदन/अलिश्योदवात्प्रवालव्य/अतिशतश्ण/त्वकदाह/रोमाच/स्नान।-ऐप्पार्टमेंट।

xiv) आर्तवद्वह स्रोतस् (गर्भाशय, आर्तवद्वाही पथनी)

मध्यमत्व (Infertility)/मैमुनसाहित्य/अनार्थव/अत्यार्थव/कृच्छर्तव/....

(c) साम्यानिक परीक्षा (Systemic Examination)

निम्न संस्थानों का 5 बिन्दुओं के आधार पर परीक्षण करते हैं—

i) दर्तन परीक्षा (Inspection)

ii) संस्तन (Palpation)

iii) अनुलिंगाद्धन (टेपण) (Percussion)

iv) श्रवण (उरः य उदार) (Auscultation)

v) प्रश्न (Interrogation)

संस्थान—(विवरण परीक्षण अनिवार्यतः करना चाहिए)

1. पाचनवह संस्थान (Gastro Intestinal Tract)

2. रक्तवह संस्थान (Cardiovascular System)

3. व्यासनवह संस्थान (Respiratory System)

4. मूत्रजलन संस्थान (Urogenital System)

5. केन्द्रीय न्यूरिका संस्थान (Central Nervous System)

6. परिस्तरीय न्यूरिका संस्थान (Peripheral Nervous System)

7. अस्थि/स्तनिक संस्थान (Locomotor System)

8. अन्तःस्रावी ग्रन्थि संस्थान (Endocrinological System)

9. अन्य.....

12. निदान पंचक परीक्षा (रोग परीक्षा)

i) निदान

(अ) सामान्य निदान...

(ब) विशिष्ट निदान...

ii) पूर्वकृप

(अ) सामान्य पूर्वकृप...

(ब) विशिष्ट पूर्वकृप...

iii) रूप या लक्षण

(अ) सामान्य रूप...

(ब) विशिष्ट रूप...

(स) प्रत्यारूप रूप...

(द) भेदानुसार/दोषानुसार रूप...

iv) उपशय/अनुपशय (सत्त्व-असत्त्व)

v) सारेषु निदान

vi) सम्प्राप्ति घटक

(अ) सामान्य सम्प्राप्ति...

(ब) विशिष्ट सम्प्राप्ति...

दोष....

दूष....

अपिड्डन....

स्रोतोदृष्टि लक्षण-अतिप्रगृह्णि/संग्रहित्यागमन/सिरागृह्णि

आम....

ओव....

ब्याप्ति स्वभाव—होड़/चिरकारी

vii) साध्यासाध्यता

viii) i) उपद्रव

ii) अरिष्ट लक्षण

ix) प्रयोगशालीय परीक्षण

(i) Blood-Hb%, ESR, TC, DC

(ii) Urine-Routine/Microscopic

(iii) Stool-Ova/Cyst

(iv) X Ray Chest (PA view)

(v) Ultra Sonography

(vi) Any Other relevant Investigations

13. चिकित्सा मूल एवं सिद्धान्त

14. चिकित्सा

- (अ) शोधन
 (ब) शमन — रस/भस्म/पिण्ठी/लौह/मण्डूर
 — चटी/घटक/मोदक
 — चूनी/कल्प
 — क्षाय/स्वरस
 — आसव/अरिह
 — पृतु/तैत
 — पाक/अवलोह
 — रसायन

(स) कल्प चिकित्सा—e.g. जलोदर में—
 कल्प

पंचदश अध्याय

विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों के सामान्य सिद्धान्त

विश्व में स्थान्यक के क्षेत्र में अनेक चिकित्सा पद्धतियाँ अपनायी जा रही हैं। ये चिकित्सा पद्धतियाँ परम्परागत, और परम्परागत, आयुर्विज्ञ व वैज्ञानिक अनेक नामों से जानी जाती हैं। कई चिकित्सा पद्धतियाँ क्षेत्रीय या गटांश्व आधार पर एक-दो देशों में ही सीमित थीं जैसे आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति भारत ये नेपाल में, युक्तानी चिकित्सा पद्धति अथवा देश व खाड़ी देशों में, होम्योपैथी जर्मनी में, तिब्ब्य चिकित्सा पद्धति तिब्बत ये भूटान में, एक्स्प्रेसर चीन व हांगकांग में। लेकिन आज के बदलते परिवर्णण एवं वैश्वांकरण (Globalisation) के दौर में ये चिकित्सा पद्धतियाँ अपने देशों को संतोषायं लापकर सम्पूर्ण विश्व में सफलता का परचम फहरा रहे हैं। अतः आयुर्वेद के चिकित्सक को इन सभी चिकित्सा पद्धतियों के सामान्य चिकित्सा लिङ्गम् जानना आवश्यक है। वर्तनान समय में प्रचलित मूल्य चिकित्सा पद्धतियाँ निभ्रन्तुराह हैं—

1. योग चिकित्सा (Yoga Therapy)
 2. नैर्सिंग (प्राकृतिक) चिकित्सा (Naturopathy)
 3. युनानी व तिब्बी चिकित्सा (Unani & Tibbi medicine)
 4. सिद्ध चिकित्सा (Siddha Medicine)
 5. होम्योपैथी (Homeopathy)
 6. आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति (Ayurvedic Medicine)
 7. रेकी चिकित्सा (Reiki Therapy)
 8. चुम्बकोय चिकित्सा (Magnetic Therapy)
 9. रंग चिकित्सा (Colour Therapy)
 10. संगीत चिकित्सा (Music Therapy)
 11. सूखंष चिकित्सा (Aroma Therapy)
 12. एस्यूप्रेशर व एक्यूपूंपर (Accupressure & Acupuncture)
 13. हास्य चिकित्सा (Laughing Therapy)

14. प्रणिक चिकित्सा (Pranic Therapy)
15. हाती चिकित्सा (Clapping Therapy)
16. स्मृति चिकित्सा (Hypnotism Therapy)
17. बायोकेमिक चिकित्सा (Bio-chemic Therapy)

ठस्टुक चिकित्सा पद्धतियों में से भारतवर्ष में प्रचलित चिकित्सा पद्धतियों "सम्प्रभु एवं परिवार कल्याण विभाग" (Health and Family Welfare Department) रे अयुष (Ayush) विभागनालि निन चिकित्सा पद्धतियों समाविष्ट हैं—

- | | |
|-----|------------------------|
| A - | Ayurveda |
| Y - | Yoga & Naturopathy |
| U - | Unani & Tibbi Medicine |
| S - | Siddha Medicine |
| H - | Homeopathy |

ठस्टुक समन चिकित्सा पद्धतियों के सामान्य चिकित्सा सिद्धान्तों को यहां प्रकाश दिया जा रहा है—

1. योग चिकित्सा पद्धति (Yoga Therapy)

प्रासादना—मनुष्य ईश्वर की सर्वोर्चम कृति है जो पदार्थ एवं परमात्मा से जना है। सर्वोर्चम युक्ति निर्माण क्रम में पैदा हन्तात्राओं से पंचमहाभूत निर्मित हुए। आत्मा के मंडों से निर्गोब पंचमहाभूत सर्वोर्चम त्रिदोषों ने चरस्ते, जीवन प्रारम्भ हुआ, मनुष्य विकास हुआ। इस मनुष्य के मूल घटक दोष-धातु-मल एवं सूक्ष्म घटक अत्याण-इन्द्रिय-मन परम्परा इन संदर्भों में है कि मूल अनुभव हो जाता है व सूक्ष्म शरीर ही आत्मा है। जीवन के विकास की जड़ों पर ज्ञान विगत से भावना प्रधान जगत के बनने की गाथा है। शरीर के मूल व सूक्ष्म घटकों का मूल मन व आहंकार है। यह मन स्थूल भावों (दोष-भाटु-मल) से भोग करता है तो सूक्ष्म भावों (आत्मा-इन्द्रिय-मन) से योग।

अवकृत यह मन भोग की जाफ ज्यादा दिखाई देता है एवं विषयों में लिता रहता है जिसमें विषयान्तर्छ, क्षय, प्रांप, संज्ञाह, स्मृति विभ्रम, युद्धितात्त्व, विनाश की प्रतिव अवकृत बतता रहता है। यह प्रक्रिया सभी दुःखों का कारण है। चित जीवन की वृत्तियों अनिवार्यता व विषय भोग परक हो जाता है जिससे दुःख उत्पन्न होते हैं। अतः दुःखों ने बनने का उपाय योग के माध्यम से 'चित्तानुनिरोध' कहकर वर्णित किया गया है।

योग व अयुर्वेद एक दूसरे के पूर्व, पाँपक व प्रेरक हैं। योग से मन को एवं अयुर्वेद से शरीर को स्वस्थ व प्रसान्न रखा जा सकता है। आयुर्वेद आयु वा वेद है। आयु जीवन का

नाम है। आयु जो हितायु, अहितायु, सूक्ष्मायु, दुःखायु इस प्रकार विभक किया जाता है। सुखायु-दुःखायु व्यक्ति परक है जबकि हितायु-अहितायु समाजपरक है। व्यक्ति स्वयं स्वस्त रहे (सुखायु) और समाज को भी सुखी रखे (हितायु) वह आज के समाज की आवश्यकता है। दुःखायु और अहितायु बैकारिक हैं। अतएव योग मानव जीवन की साधारण उपलब्धि है। सुखार्थ चतुर्थ (धर्म-अर्थ-ज्ञान-मोक्ष) को प्राप्ति य अवाति का साधन योग ही है। अतः आयुर्वेद के अध्येता को 'योग' एवं इसके सिद्धान्तों का ज्ञान होना अति आवश्यक है।

योग शब्द की व्युत्पत्ति व निष्पत्ति

(i) योग शब्द रुधादिगणीय युज् धातु से संयोगार्थ में बनता है। 'सुविर योगे'- संयोग अर्थ में युज् धातु का प्रयोग होता है। 'युञ्जते असी इति योगः' यह योग की व्युत्पत्ति होती है, अर्थात् जो आत्मा को परमात्मा से बिन्दाये उस प्रक्रिया को योग कहते हैं।

करण कारक में युज् धातु से 'युञ्जते अनेन इति योगः' यह व्युत्पत्ति भी बनती है, अर्थात् जिस प्रक्रिया से आत्मा परमात्मा से संयुक्त हो जाए उसे योग कहते हैं। योग जोड़ता है तोड़ता नहीं। यह बात अलग है कि जिन दूरे दूरे से जुड़ा नहीं जा सकता। वह प्रक्रिया विससे चित (मन) अवनी वृत्तियों को इन्द्रिय विषयों से हटाकर परमात्मा को जोड़ लगाव, परमात्मा से जोड़े उसे योग कहते हैं।

(ii) योग शब्द सुखादिगणीय युज् धातु से भी बनता है जो संयमन के अर्थ में है। 'युञ्जते रुद्र इति योगः'-कर्म कारक में वनी इस व्युत्पत्ति से यह भाव निकलता है कि योग मन की वह अवस्था है जब उसकी वृत्तियों में एकाक्रान्ति आ जाती है। एकाक्रान्ति आने से चंचल मन वश में आ जाता है और तब ध्यान तथा समाधि द्वारा उसे परमात्मा पर केन्द्रित किया जा सकता है। 'संयमन' का अर्थ 'वश में करना' है। योग 'युज् संयमने' से बनता है।

(iii) 'दिवालीगणीय युज् समाधी' यानु से भो योग शब्द बनता है। 'सुन्यते ऐस्मिन इति योगः' इस व्युत्पत्ति से अधिकरण कारक में योग का अर्थ 'समाधि' होता है। जिसमें (परमात्मा में) मन ताजापा जाये उसे (उसकी प्रक्रिया में) योग कहते हैं। समाधि का अर्थ है-मन का (परमात्मा में) सम्पर्क स्थापन। बहर्षि ध्यान ने 'योगःसमाधि' कहकर योग का अर्थ समाधि बना है।

इस प्रवार ठस्टुक लोगों व्युत्पत्तियों में योग शब्द 'युजिर योगो', 'युज् संयमने' तथा 'युज् समाधी' भागुओं से बनता है। इसतिये योग का अर्थ जिन प्रकार किया जा सकता है—

- | | | |
|----|--------------|------------|
| १. | समाधि | २. संसोजन |
| ३. | स्वीपना | ४. जोड़ना |
| ५. | संयोग या भेल | ६. व्याप |
| ७. | ठपाई | ८. समृद्धि |
| ९. | साधन | १०. गुणिक |

इम द्वितीय दोष का अर्थ (साम्बिक) हुआ-जुहुआ। योग चीज़ ये: अद्वितीय पाणी रक्षा क्षमता, जल न रेतास, सूर्य य चन्द्रमा, जीवानन्दा य परमात्मा आदि निमित्त गुण के एकौनम को योग कहते हैं। योग मानसिक, शारीरिक तथा आध्यात्मिक विकास का इम है।

प्रोग संरिभाषा

भगवान् गौतम में विभिन्न सन्दर्भों में योग को भिन्न-भिन्न परिपायों द्वारा विवेचने से जिन लाभ नहीं होते हैं—

1. दुर्घट संदेश के विदेश को "योग" कहा है। अधीक्षित वेदाना से सर्वथ मुझे हो जाता।
 2. "देव" कहने में कुहलता का नाम है। कर्म-कौशल का अभिवाय यह कि कर्म इस राह किए जाएं कि वे चर्यन का कारण न बने। यही कर्मदेव कहलता है।
 3. पन की तृष्णा से गहित होकर किए जाने वाले कर्मों की सिद्धि और आज्ञान के लक्षण यही "योग" है।

संग्रहालय के उम्मीदवारों द्वारा 'पात्रन्वल योग दर्शन' के अनुसार चित्रवृत्तियों के नियम हों एवं 'योग' कहने हैं। चित्रवृत्ति का वात्पर्य चित्र या मन के विषयवार वर्णनमय में है।

前言

योगदान के मौलिक गुण, उपनिषद्, भगवद्गीता य पातञ्जल योग दर्शन के अन्यथा संघर्ष के लिए हैं।

1. ज्ञान योग
3. कर्म योग
2. धृष्टि योग
4. मन्त्र योग

१. योगः गोवन्तं देवप्रकाशमहान्मुद्रिष्टः।
२. ते विप्रिलिप्तु य भवेत् विकल्पं देवार्थादित्वा।
३. योगः बहुमूर्त्यु धर्मलभ्य।
४. अस्मन् यत्त उच्चयः।
५. योर्जिहृषीकृष्णं वित्तं।

धिभित्र धिगितरा पद्मनियां के मासान्य सिद्धान्त

- | | |
|---------------|---------------|
| 5. लग योग | 6. हठ योग |
| 7. राज योग | 8. अद्यन योग |
| 9. अभ्यास योग | 10. ज्ञान योग |
| 11. खोला योग | |

अन्य ग्रन्थों में समापि योग, लिङ्गयोग, हंसयोग, मुहूर्त योग आदि का भी उल्लेख दिलाता है। आधुनिक साधन में यहर्वंशी अधिनिक के पूर्ण योग, यहात्मा गौधी के अक्षरसाहि योग, चं. गोपी कृष्ण के कुण्डलिनी योग हथा नहर्वंश योग के घट्यावदित घात्य योग का भी यही उल्लेख करना आवश्यक है।

उपर्युक्त सभी बेटों को मुख्यतः इन योग, कर्म योग, भक्ति योग ने शिष्टक फिला जाता है। मुख्यतः योग की दो धाराएँ हैं जिनका गौणिक विकल्प से लिंग सम्बन्ध है। ये दो धाराएँ निन्हीं हैं—

- ### D) एडवॉय्स-जारीकिक चौपा

- ## ii) राजनीति-आध्यात्मिक चौपा

गढ़पोरा वाली दुकान कोडि का खेत बाज़ रहा है।

五

हठ शब्द में 'ह' अक्षर से सूर्य नाड़ी या विंगला नाड़ी एवं 'ठ' अक्षर से चन्द्रनाड़ी या इड़ा नाड़ी अभियंत्र है। इस प्रकार सूर्य व चन्द्र के योग ने हठयोग बनाया है। जो पिण्ड (शरीर) में है वह ग्राहाण्ड (आदा जगत्) में है एवं जो चन्द्राण्ड में है वह निन्द में है। इस तरह पिण्ड व चन्द्राण्ड के सम्बन्धों में मनुष्य पर आदा जगत् के पद्धतें वाले प्रभावों का संकेत है। चन्द्र संतर्पक ये सूर्य अपलापक भाव है। चन्द्र कफ व सूर्य पिण्ड है। ऐ दोनों मानव शरीर में वायु (योगवाही) द्वारा नियंत्रित होते हैं। प्रायवायु को हम प्रदण करते हैं व अनावायु का नियन्त्रण करते हैं। हठयोग में प्राण-अयान को क्रिया का सम्पूर्ण नियमन किया जाता है। प्राण-नियोग से मन का नियोग करना हठयोग कहलाता है। हमारे शरीर में इडा व विंगला नाड़ियाँ हैं तथा कई नाड़ी चक्र हैं। इन सभी के प्रभाव से कुण्डलिनी शक्ति को आगृह करके भूतायात चक्र (अंचल) से कम्बनः जल आज्ञा चक्र तक से जागे की विधियाँ हठयोग में अली हैं। किभीज जास्त एवं मुद्राओं वर अभ्यास इठयोग गें किया जाता है। शरीर व मन परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। शरीर के प्रायाम से गत गो प्रभावित करके चित्तात्मि नियोग करना ही हठयोग है। अतः हठयोग शरीर साधना प्रधान बद्धता है। इसे चार्जयोग या प्राप्ति के उत्तम ये स्त्रीकर किया जाता है।

- इकारा: घोरित: सूर्य: उत्काशवद् उच्चोः। मूलवेदगाहोरीगृहः इत्योर्विशिष्टोः॥ (उत्काश ग्रन्थिका)
 - प्राप्तिकृति विवरणात् गाहोरी ग्रहं विवरणात् गाहोरी॥ (गाहोरी ग्रन्थिका १६७)

हठयोग के अंग
हठयोग के निम्न अंग हैं—

७. नदीमुखान
इसके अन्तर्गत यूडि के लिये प्रदर्शनों का प्रयोग किया जाता है। अप्स से शहर में दृढ़, स्पिला य समर्थन की यूडि होती है। प्राणायाम रे. १५३ धन्य व इक्कि बचती है। नुज-महानुदा च चर्चों के अध्यात्म से शहीर सुनोर्गंगा, रुद्र एवं निर्वाचित होकर राघवोग की साधना के लोक्य बन जाता है।

हुद्योग च पद्मर्थ

जिस इकारे सम्पुर्णदीप चिकित्सा पदगति में शारीर के शोधन के लिये पंथकरण या प्रयोग बहुता नहीं है, लेकिन रसायन, घावीकरण व शमन चिकित्सा का प्रयोग करने के लिये उचित बहुता नहीं है। उसी प्रकार शरीर साधना प्रधान हठयोग, में भी जैव शरीर के लिये गुणवत्ता व स्वभाव होता है। उसी प्रकार शरीर साधना प्रधान हठयोग, में भी जैव शरीर के लिये गुणवत्ता व स्वभाव होता है। इससे काया का गोपन होता है। इनमें किसी विशेष दल या ऐवंपी की आवश्यकता नहीं होती है। जिन जापकर्मों के शरीर में कान दोष (हस्तेन्द्रा दोष) व मंद पातु की वृद्धि हो उनमें पदकर्मों वा प्रयोग काया चढ़ते हैं। जिसके लिये वे दैन-पूर्व-पूर्व को सानावस्था हो उठें यह कर्म अवश्यक नहीं।

१८५

- | | |
|---|---|
| 1. नैतिकर्म
3. वैतिकर्म
5. कल्पभारि | 2. पौष्टिकर्म
4. नेतिकर्म
6. जाटक |
|---|---|

1. चौराजिकार्म

यह कर्म उदार प्रदेश की पैशियों व अङ्गों का ज्ञानाम है। इस कर्म के समूह अपास पा हो जन्मत्वर्क ए बड़ोली किया आपारिता है। यह कर्म 'उद्धीयान नन' के ज्ञानाम में किया जाता है। इस दस्य में उदार की Rectus abdominus मांसतंत्रों व शीलक यंगुडुन किया जाता है। उद्धीयान दस्य में उदार को उसके सम्पूर्ण प्रांगण (प्रांग-प्लांग-आपासाथ-रितासाथ-आनासाथ-आज्ञ) सहित अधिक वे अधिक पैं

१. ये स्त्रीहरिता, पूर्ण रुक्षान्तर गम वर्णन। अन्यानु नामांशु तथा देशानु रसायावलः ।
 २. चौपाईवार्ता वेष्टवर्तं देखिक्षा एव। उच्चापात्रिविविहारि चक्रमर्गिणि प्रवदयतः ।

गी और (Posteriority) यहीं जाता है। इस प्रकार के मंकोवन द्वारा उदार को पेशियों से संचालन किया जाता है, यहीं नैति कर्म की मौलिक अवधारणा है।

四

प्रातःकाल शिष्य कोष्ठ योगी अवस्था में इधे करते हैं। दोनों पर्शों को एक हाथ को दूरी पर रखकर छाँटे ही रहता था। आगे की ओर सुकरन दोनों इच्छित्वों को दोनों पुष्टों के क्षण पर टिका दें, जिससे यंत्राओं पर शासीर का भार आ जाये। गर्दन व कहनों को सीधा रहें। अब नमुनों से साम को बाहर निकाल दें। किन गर्दन को योद्धा नीचे सुकाकर उठाएं की ऐश्वियों को शिखित फर पांछे की ओर से जान चाहिए। नापक को उठाकर अपने प्रत्यक्षों को दर्श-यापे भी सर्वांकित करता चाहिए।

四

नैतिकर्म सम्पूर्ण लक्षण खोलन् (महालंगड) को नवन्य रखता है। उदाहरण कोषाङ्गो की क्रिया को गतिशील बनाता है। इसके नियामन प्रयोग से नवर्णन, अज्ञान, उदावर्त आदि रोग दूर होते हैं। प्रबन्ध संस्थान पर भी प्रभाव पड़ता है, जातिक घर्म सम्बन्धी विकास दूर होता है। जनकाङ्गो की क्रियारोलंगता बढ़ती है। अतः नैतिकर्म को समर्पित हर कठा गंया है²।

निषेद्धः

वैज्ञानिकों द्वारा उत्तीर्ण करने की ज़िख़र है—

1. चालौस वर्ष से अधिक आयु होने पर योग-विकल्प करने जल्दी से करें।
 2. चौदह वर्ष से कम की आयु के बीच (बच्चे) इन न करें।
 3. आन्त शय (Intestinal Tuberculosis)
 4. जीर्ण आन्तपुच्छराह (Chronic Appendicitis)
 5. उदारता (Ascites, Hepato splenomegaly)
 6. उच्च रक्तचाप (Hypertension)
 7. भोजन करने के दस्तावेज बढ़ाव
 8. उत्ताप य अत्यस्तक को अवश्या में

¹ *अस्त्रोनॉमिकल इन्डस्ट्रीज़ लिमिटेड*, एक संस्थान जो अंतर्राष्ट्रीय रूप से अस्त्रोनॉमिकल उत्पादन का वित्तीय संचयन करता है।

(हरयोग अदीतिका ३०३)

३. पर्याप्तीकरणात्मकता दिखावाये ॥८५॥

2. धैरि कर्म

यह कर्म आपाशय प्रशालन पर शोधन भी विधि है। इसमें गुणांगा फिल्टर करने कर्म का भाग है फिर यहाँ निवालन का आपाशय शोधन किया जाता है। इसके मुख्यतः निम्न दो खेद होते हैं—

1. वस्त्र धैरि

2. बल धैरि या दण्ड धैरि

धैरि कर्म के अन्य खेद भी वर्णित हैं यद्या—

1. दल धैरि

3. कपातान्य धैरि

5. विहा धैरि

1. वस्त्र धैरि

2. नासिका धैरि

4. कर्णरन्ध्र धैरि

6. गजकरणी।

वस्त्र धैरि में सापक मृदु स्वच्छ (Aseptic) 21 हंच लम्बे व 2.5 हंच लंबे स्वच्छण्ड या धैरि को पीठ-धैरि मुख मार्ग से निकालता है। इस वस्त्र का एक ऊपर चढ़ा रखना चाहिये। धैरि या वस्त्र भाषण के 10 मिनट बाद नीलि चालन करना चाहिये। उपचार बल्लभान्ड को बाहर निकाल देना चाहिये। इस क्रिया को शान में छड़े हाँकर ही करना चाहिये। इस प्रक्रिया को साझाह में एक बार नित्रिंज खोए ही करा चाहिये।

लाभ—इस प्रक्रिया में शेष्या (कफ) व मूकूस वस्त्र के साथ दिलकरा बहा निकल आते हैं और आपाशय का शोधन हो जाता है।

2. जल धैरि

इसमें सुखोंच लवणोदक को भरपेट पिलाकर उदर में मुखमार्ग से रक्त को निकाला जाता है। इस क्रिया को 'दण्ड धैरि' इसलिये कहते हैं जिसमें काल में विसी युध की पतली, मृदु टहनी को गले भैं डालकर जल को भह निकाला जाता था। इसमें लवणोदक द्वारा आपाशय का प्रशालन होकर शेष्या व मूकूस रुकार के बाहर निकल आता है।

लाभ—जल धैरि के नियापत अप्यास से कफ पिण्ड विकर, अम्लपिता, वर्ती-वानाशय के रुग्ण शान होते हैं।

जिस प्रकार हाथी अपनी हस्त मूण्ड से जल खीचकर घुनः याहर फैल देता है उसे प्रकार हठयोगी भी 'गजकरणी' कहता है।

निपेद—धैरि वर्ग को अन्तर्वृच्छाशीष, अकृत्याशीष, जलोदर, परिणामशूल, अस्त्र शूल, उदारवं, पतोदीप, उदा-शोथ, उदायारणकलाशीष व उदरशूल की अवस्था में नहीं करना चाहिये।

3. वस्त्र कर्म

महालंगाम (पावनगहमंसव्यान) के अपोभाग व पकाशय का शोधन करने की विधि वस्त्र कर्म है। इठोंग में इसके निम्न दो खेद वर्णित हैं—

1. वस्त्र वस्त्रि

2. बल वस्त्रि

1. वस्त्र वस्त्रि

पूर्व में वर्णित नीलि कर्म द्वारा अपान वायु (अपो वायु) को कम को और ऊपरी वृक्ष उपका संचालन करना ही 'वस्त्र वस्त्रि' है। वस्त्र वस्त्रि वा अपान ढांचे में ही बाने के पास ही जल वस्त्रि करना आवश्यक होता है, क्योंकि बल वस्त्रि अपानवायु के महार ही वृक्ष ऊपरी वायु जाता है।

2. जल वस्त्रि

जल वस्त्रि में 6 अंगुल लम्बी एवं अन्दर जो कलिङ्गा अंगुली वायर इवेश धाय छिद्र बाली रखर या धातु की नली ली जाती है विनी चौलनेत्र कहते हैं। इन चौलनेत्र में पूर्व पा वैसा तागाकर लिप्त कर लिया जाता है विनी वह अंगुली से गुदा में प्रविष्ट हो जाती है। अब इसे 4 अंगुल तब गुदा में प्रविष्ट करना जाता है जिस व्यक्ति को एक गुदा व स्वच्छ (Aseptic) जल से भैं दूध में इस दृष्टि उकड़ दैवत्य जल है कि यह जल में वहकी नाभि गक का धाग दूब जाय। अब उकड़े दूध निकलने विधि से जल डार आन्दों की ओर दौड़ा जाता है। इस तरह जल डार जड़ जायेगा। जिस नीलि कर्म द्वारा उदर सेष्यों का संचालन कर जल को बाहर निकलता दिया जाता है। इस विधि से आपाशय व अपान प्रशालन को ही "जल वस्त्रि" कहते हैं। जल को बाहर निकलने के लिये उपकरण में पश्चिमोत्तरासन में घड़ा करना चाहिये।

होध

उपर्युक्त दोनों वस्त्रियों के प्रयोग में जल, अन्दोर, कृषि, अम्लविष, मूकूस, सेष्या याहर निकलते जाते हैं। इससे गुल्मीण, एटोडीप, कृषि देह, मर्मिनन्दी एवं वद्याल दृष्टि होता है।

निपेद

वस्त्रि कर्म को सोणहनी, आनन्दग, अर्दा, भाद्रा, उद्वशय, गुदज्ञ, गुलशय, गुलगिरा, ऐतिक विकर, तागक धात्र एवं जान में वही करना चाहिये।

4. वेतिकर्म

वेतिकर्म से नासिका, उर्ध्व श्वासय व उर्ध्व गुदात भाँते का शोधन होता है। इसके निम्न दो खेद वर्णित हैं—

पा. नि.- 23

1. जलनेति
2. सूखनेति

जलनेति में धातु या प्लास्टिक का पात्र (Poi) लेकर उसमें आग से एक शुद्ध स्वच्छ (Aseptic) बत भरकर, इस जल को दायें नासा मार्ग से गोरी के कम्फ को और छाँचा जाता है। तत्पश्चात् बायें नासा मार्ग से उस जल को शरोर रो जाहर निकल देना चाहिये। इसके पश्चात् विपरीत नासा मार्ग से भी क्रमशः यही प्रक्रिया दोहारावे। जलनेति को 'जलनेति' कहते हैं।

लाभ

जलनेति के नियमित अभ्यास करने से नेत्र ज्योति का वर्धन होता है। उष्णतावापियाँ दूर होती हैं।

निषेध

दौब (Acute) नेत्र रोगों, आमूल्यित तथा अधारावस्था में जलनेति का निषेध करें।

2. सूखनेति

सूखनेति में कपड़े या धागे के एक शुद्ध, स्वच्छ (Aseptic) सूत्र या फले रस्ते कैथेटर (No.6) का प्रयोग किया जाता है। सूत्र या कैथेटर को दायें नासा मार्ग से जाहोर छाँच द्वारा छाँच बायें नासा मार्ग को अंगुली से बन्द करके खास ऊर को और छाँच से वह गलमार्ग में चला जाता है। फिर उसे मुँह से खोचकर उसके दोनों अंतिम छोरों के पकड़कर घर्षन करता चाहिये। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को बुनः बायें नासा मार्ग से कर चाहिये।

लाभ

इससे कागत शुद्ध होती है, दृष्टि का प्रसादन होता है और उर्ध्व जत्राज्ञ रोग नहीं होते।

निषेध

सूखनेति के दोनों नासा स्रोत, नवप्रतिशयाय, नासापाक, एवं दाह की अवस्था में न करें।

5. कपालभाति कर्म

यह प्रायः प्रयोग का ही एक प्रकार है। इसमें रेचक-पूरक प्राणायाम को तुहां के भव्य (भावी) के स्थान तेज गति से सम्पादित किया जाता है।

लाभ

इसके नियमित अभ्यास से प्राणवह स्रोतस् युक्तका प्रयोग करना चाहिये।

1. प्राणवह स्रोतस् युक्तका प्रयोग करना चाहिये।

जाता है। युक्तका सबल होते हैं। इससे यातनादी मंस्तन या पाचन मंस्तन को भी बल निलगा है एवं याचन शांक बढ़ती है।

निषेध

ठाक्षत, क्षतक्षीण, राजपथस्मा, रक्तपित, अमूल्यित, छाँच, इम्स, स्वामेद, अन्द्रा, ज्वर एवं हृद दीर्घत्य आदि रोगों में कपालभाति कर्म का अभ्यास न करें।

6. त्राटक कर्म

किसी शान्त स्थान पर एकाग्र मन से किसी मूँह वल्लु को लगातार अशुद्ध होने तक देखो रहना "त्राटक" कहलाता है। इसके निन तीन भेद वर्णित हैं—

1. आन्तर त्राटक

क्रेत्रों को बन्द कर व मन को एकाग्र कर हृदय या धूनम प्रदेश पर एकटक घटन हानने को आन्तर त्राटक कहा जाता है।

2. बाह्य त्राटक

सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र विशेष या किसी दूरस्थ लक्ष्य पर दृष्टि कर एकटक घटन हानने को बाह्य त्राटक कहते हैं।

3. मध्य त्राटक

खेत क्षेत्र पर लिखे आश्रम (अ०), स्वास्तिक (अ०) या किसी अन्य चिह्न पर अथवा नासिकाग्र समोपस्थ किसी स्थान पर दृष्टि को एकटक तानने को प्रक्रिया को मध्य त्राटक कहा जाता है।

त्राटक के अभ्यास के पूर्व नेत्र व्यायाम करना हितकर होता है। इसके कारण इस कर्म का अभ्यास करना चाहिये।

लाभ

निरन्तर एक वर्ष तक त्राटक का अभ्यास करने से संकट्य तिक्ति होने लगती है और व्यक्ति को दिव्यदृष्टि भी प्राप्त होने लगती है।

निषेध

त्राटक कर्म को नासिकाग्र दीर्घत्य, नेत्रदाह, नासिकादाह, अग्निपुर्वस्त्र एवं जांग रोगों में न करें।

हठयोग य यन्त्र, मुद्रा, महामुद्रा

पद्धकर्म के अतिरिक्त तीन प्रकार के यन्त्र, याह प्रकार को मुद्रा एवं दग प्रकार की

1. निषेधित्राटक सूखतार्थ स्वर्णकृति। अग्निपुर्वस्त्र एवं जांग रोगों के लिए। (हठयोग य यन्त्र)

महसुद वे नोग शास्त्र में गठित हैं।

बच्चे
तिकित अपों के मार्ग की पांचपरिलियों के संकोषन द्वारा बच्चे नोग की वज्र सहायता है। हास्का उट्टरेन मृगुला (Spinal Cord) के द्वारा को देखा जाता है। यह बुन्हीतरी गठित हो जाता कहता है। बच्चों में निम्न लोन बच्चे प्रमुख हैं—

1. उद्धवान बच्चे

इस बच्चे लड़े होकर किंगा जाता है। इसमें साथक आपे को अंत तक बुन्हीतरी पेशी (Diaphragm) को अच्छा और खींचते हुये रूपर को अंत तक बुन्हीतरी करता है। इसमें उद्धा की रास्ते पेशी न मालार्पयी पेशी का व्यापार होता है। इसमें बच्चे इस द्वारा जीवन द्वारा ही डूँढ़ जाता है। प्राण के उद्धवान का हेतु होने से इसे उद्धवान बच्चे बनता है। इनके नियन्त्रित अध्यात्म ते अग्निकृष्ण, नाभिशोधन एवं वायु शुद्धि होती है। इन उद्धवान ने जाता जीवन्त, एक बह संस्कार व प्राणवाह संसार पर प्रभाव देता है।

2. भूत बच्चे

यह बच्चों के अपों पापा (अपान देह) में सम्पादित किये जाने वाला बच्चा है। इस बच्चे को अध्यात्म लापक को सहेय "सिद्धासन" द्वारा स्थान में ही करना चाहिए। इन बच्चों के द्वारा संपोषण की एकियों को गुणामार्ग व जननैनिद्रा के चौथे द्वारा हुए संपोषण की एकुणक को अग्नवानु को उच्च भाव जो ओर भेजा जाता है। इसमें निम्न सम्प्रय से अग्नवानु उर्ध्वामार्ग को प्राप्त होकर समाप्त वायु व पाचक किया जाता है, एवं उद्धव वहांनि प्रवीष करता है। जटारीन प्रवीषि पक्षात् कुण्ठाली भोज रखता है।

3. जातन्त्र बच्चे

यह बच्चों के उच्च भाव (उद्दन देह) में सम्पादित किये जाने वाला बच्चा है। इस बच्चे की जातन्त्रता में ही कुण्ठक प्राणशाम किया जाता है। इस बच्चे में गत उच्च (उद्दन लापक, उच्च वास पथ) का आकुंचन करते हुए हनु को वश रख किया जाता है। इसमें मृगुला के द्वारा को ढेकर कुण्ठाली शक्ति को जागर रखना चाहिए। इन्हें उद्धवान्दिकलात् ने इस बच्चे को वरानरण नाशक कहा है।

मृदाम्भी में जानमुदा, लिंगमुदा, योगमुदा, योनिमुदा, खेच्ची मुदा, गहन मुदा शामुदा है।

यहां पर संघोः स्वकर्मो व वर्त्त्यों का वर्त्तन किया गया है। ऊपर, इनमें मालामुदा, मुदा का विलृप्त रूपन घोग-शास्त्र के ग्रन्थों में देखें। ग्रन्थ विलृप्त को देखें हुए इनका वर्णन वहां संक्षेपमें किया जा रहा है।

1. मृगुला लापकमें वृद्धिनियम देखो। उद्धवान मृदुक्षयवर्णनो जातन्त्राभिमः। वर्ष्ये विशेषज्ञ वर्षों वृद्ध वासपथ। इदं पृष्ठद्वारा वृद्ध वासपथ। (उद्देश्यात्मकः।)
2. बच्चे दें मृगुला का जानन्त्रीयों दें। जानन्त्रीयप्राणांत्रं वैशिष्ट्यः। मृगुला: ५ (उद्देश्यात्मकः।) वैशिष्ट्यप्राणांत्रं वैशिष्ट्यं वैशिष्ट्यं वैशिष्ट्यं। जानन्त्रीयकृप्य मृगुलाप्राणांत्रितियः।
3. अग्नवानुहाने वृद्धांत्रं वृद्धपथ। वर्षे जातन्त्राक्षोर्ज्ञं जानन्त्रीयवासपथः।।। (उद्देश्यात्मकः।)
4. अग्नवानुहाने वृद्धांत्रं वृद्धपथ। वर्षे जातन्त्राक्षोर्ज्ञं जानन्त्रीयवासपथः।।। (उद्देश्यात्मकः।)

राजयोग

राजयोग को ही आध्यात्मिक योग कहा जाता है। इसे करने के पूर्व हठयोग में निष्पात व वारंगत होना आवश्यक है। यह नाना के अन्नःज्ञन, ये निहित जानमूदा के द्वारा अपनी संवर्धनशील, प्रसादपूर्ण कर्मान्वयन ने मनसिंही करता है। मृगुला के दीवान को मुषुमय और शातिष्य यनाने के लिए मानव मन में अन्तर्भीकृत गतियों का रहस्यमानांकन करना और नन में शिव संकल्पों का भरण फरना आवश्यक है। इसमें मनुष्य एक आध्यात्मिक प्राणी के रूप में उठित होता है, तब उसमें चारानन्दिं व मन्त्रनि का अधिनिवेश होता है। लापवासू, व्यक्ति विषय, पांचजन्म, दद्वार्क जन्मन, महाकर्ता, लक्ष्मी, रात्मा, दद्दी, अर्दिमरु, सत्यवाचा, अक्षोर्ग, त्यागी, दद्वन्त, जोन्म, देवस्त्री, क्षमाशील एवं धैर्यवत देह-मन का हो जाता है। इस सामृद्धिक नियम के संक्षिप्त से नन निर्विकार होता है और ऐसे नन को बदा में रखने की जो विर्य है उसे "गृजदेन" कहते हैं। जैसे- शारीरिक स्वास्थ्य के संतुलन की पद्धति हठयोग है ये से ही नान्दिनीक व्यास्थ्य के संतुलन की पद्धति राजयोग है। कुछ अचारों ने "मन" को इंद्रियों का संगमं जानते हुए नन के दोग (राज) अर्थात् मनो विजय को राजनेंग जाना है। वन्मुदा, वहांनि जातन्त्र द्वारा प्रतिमादित व्याङ्ग योग ही राजयोग है। यह अद्याक्ष देव राजयोग की जापन के कहता है। इस अद्याक्ष योग में समाधि को उच्चात्रम उपलब्ध जाना जाता है। यह अद्याक्ष योग निष्प्र है।

अद्याक्ष योग

योग के आठ अह निष्प्र प्रकार हैं—

- | | |
|-------|--------------------------------|
| 1. यप | नियम] Ethical Practices |
| 2. | आसन] Physical practices |
| 3. | प्राणशाम] Sensorial practices |
| 4. | धारणा] |
| 5. | ध्यान] Meditative practices |
| 6. | सनाधि] |

उपर्युक्त में यप, नियम, आसन व प्राणशाम को बहिरंग योग (External yoga) या पारग, ध्यान व सनाधि को अंतर्गंग योग (Internal yoga) कहते हैं। इन गोंत्रों को

- | | | |
|--|---------|--------------------------|
| 1. अप्यवे | धारणा 4 | (सूत्र 15/1-3) |
| 2. यप-नियम-आसन-प्राणशाम-धारणा-ध्यान-सनाधि-जातन्त्रहान्त्री । | | (जातन्त्र देव दर्शन 224) |

मन्दप भी कहा जाता है। प्रत्याहार को दोरों के बीच योगी पद महात्मागुरु के नीचे लाइ गया है। महर्षि पठार्जित ने इस विषय पर भगवन् देवे तुष नहाए है कि अहिंसक वर्ण के बदले द्वितीय स्तुति प्रत्याहार के अंतर्गत योग साधना साधन नहीं है। पद देव सत्यन प्रियदुर्ग चतुर्थ होने से साप्तर्षी मानव ल्यातिता में सुप्राप्त साधन नहीं होता है। (As a preventive medicine) अर्थात् योग साधना यह [निर्वात] साधन होते हैं जो दोषधात्र का महत्वपूर्ण उपचार हो सकता है, यह भी विशेष रूप से वास्तव व्यष्टि-प्रदोषीक (Psycho-somatic disorders) दोरों पर लिखा है। अतः योग वो पूर्व साधन के लिए इन आठों अङ्गों का जन्मसा: अभ्यास आवश्यक है। इन गोंपा का अनुज्ञात करने निष्प्रकर है—

1. यम

यह उच्च सत्ता का मन-वचन व कार्य से किया जाने याला शिष्टाचार है। यह उच्च देव का अध्ययन सोचत है। महर्षि पठार्जित ने इसके निष्प्र पौच्छ भेद बताये हैं—

(i) लहिंसा	—	हिंसा न करना
(ii) सत्य	—	सदैव सच बोलना
(iii) अस्तेय	—	चोरी न करना
(iv) ब्रह्मचर्य	—	ईरिय नियंत्रण
(v) अर्चात्यह	—	संचय प्रवृत्ति वा लोभ का अभाव।

(i) अहिंसा—प्रवाद के योग से बोवमात्र के प्राणों का हरण करना हिंसा है औ उल्लेख विशेष अहिंसा। दूसरे शब्दों में किसी भी प्राणी की हिंसा न करना अहिंसा है। अर्थात् प्राणी भाव से सुख प्रदान करती है। मन, वचन व कार्य से अहिंसा का जलन इत्येक चीज़ की करना चाहिए। किसी को बाधा से भी कष्ट पहुँचाना हिंसा है। किसी के ग्रन्थ मन में बुद्धि सोचना भी हिंसा है। अहिंसा ही परम धर्म है क्वांटिक धर्म की यापन संर्पण में होती है (शांतमार्थ शतुर्घर्षसाधनम्) और अहिंसा से शरीर भी रक्षा होती है। अहिंसा बलवानों का अपेक्षण है। हिंसा का भाव रज व राम गुण के प्रभाव से आया है। अतः अहिंसा महात्मागुरु के प्रभाव से ही सम्भव है। अतः अहिंसक बनने के लिए गण्डि गृह दोनों अवस्थाएः अहिंसक है। मन में राम-ड्वेष न हो तो उसे वश में रुद्धा जा सकता है औ योग के लिए की प्रक्रियावै समर्पित की जा सकती है। वलाश्य यम में अहिंसा व प्रथम स्थान प्राप्त है। भगवान् यामीर, महात्मा बुद्ध से लेकर महात्मा गांधी ने यी मन और अहिंसा की अपेक्षन सा आधार बनाया और उसे प्रायोगिक रूप भी दिया। बहारी

1. अध्ययन एवं विशेष वर्णन विशेष विवरण।
2. अहिंसा विवरण विवरण।

(पृष्ठा 37 वि)
(पात्रात्मक दर्शन 35)

पठार्जित ने कहा है कि यदि अहिंसा प्रतिष्ठित हो जाय, मन सी जाय तो उस अहिंसक चीज़ के लिए ही भाव उपस्थित हो जाता है। अहिंसक वर्णन के लिए यैठने पर विश्वास भाव सत्ता समाप्त हो जाते हैं।

(ii) सत्य—सत्य का अर्थ है— सच बोलना। मन का अर्थ है कि बैठो पी उपस्थिति में है, उसे उसी रूप में समझना। उस, काट, चोरी अहिंस में दूष बोलते हैं। सत्य पर भी अन्य चम-विषयों का बोलन निर्भर है। मन बोलन कहन बढ़ा बोलन है ऐसे दूष बोलना करता है। सत्य तो बातों की बोला, वर्ष व निवास है। उसी मन बोलों जो शिय हो, जिससे किसी को कष्ट हो वह सत्य न बोले। इसका अर्थ यह कि बोलने से सत्य बोलें अन्यथा न बोलें। अंतिम सत्य तो ब्रह्म हो है। “ब्रह्म मनं त्रायति निष्पा”।

उच्च सत्ता में सच और दूष सापेख है। सच बोलने से मन चिन्तित होता है। मन नानिवक्ता जन्म लेता है। दूष की अवस्था में सत्य की ही विवरण होती है। “मनवं उद्यो नवृत्पु” अर्थात् सच ही जीतता है दूष नहीं। महर्षि पठार्जित ने कहा है कि सत्य और प्रतिष्ठा होने पर योगी में क्रियाकल का अवश्यकत्व या जाता है अर्थात् वह क्रिया के नत को जा लेता है। बाणी से निष्प्र चार पाप बदाये गये हैं—

1. निष्प्र करना
2. अस्तीताता
3. पित्त्या भावण
4. चुणत्खोरी करना।

अतः इन चारों पापों से बचना चाहिए। चुणत्खोर नई विष से भी अधिक विवैता होता है। महात्मा गांधी ने सत्य पर विशेष बत दिया और सत्य को ही मनों कार्य दृढ़ता का मुख्य हीयपार बनाया। तत्प्रथात् भारत देश को त्वांत्रिता दिलायी। किसी विद्वान् ने कहा है कि “ब्रह्म सत्य जूते पहन रहा होता है तब उक्त दूष आपे दुष्मित्र का चक्कर साझा सेता है”। अतः सत्य को स्वाप्नित करने में समय लगता है।

(iii) अस्तेय— चोरी न करना अस्तेय कहलाता है। दूसरे के भ्र. मनु या विषाणु का अपने हित में प्रयोग की प्रवृत्ति से वित रहा ही अस्तेय है। इसे “अस्तेय” भी कहते हैं। चोरी एक अल्पिकार चेता है। अपकर न देन, युगो अप्य न करना, दिव टिकट देन या बद्ध में यात्रा करना आदि भी चोरी में सम्भवित है। अतः मन-यज्ञ-कर्म से गिरी दूषरों को बस्तु थो, जो अपनों न हो, नहीं सेवा चाहिए। सामर्पित व अविकाश अवश्य भगवान् रखने के हित अस्तेय एक छत्र है। महर्षि पठार्जित ने कहा है कि अस्तेय फी ग्रातिष्ठा वा शिद्धि होने पर तभी रक्षा उपलब्ध हो जाते हैं। चोरी मन को बोलती है।

1. अहिंसा विवरण एवं विवरण।
2. अस्तेय विवरण।

(वाक्ता दो दर्शन 25)
(वाक्ता दो दर्शन 26)

निर्भत न सालिक मन अस्तोग प्रत गाला होता है।

(iv) ब्रह्मचर्य—आहार, स्नान (निदा) व ब्रह्मचर्य इन्हें आरोग्य के लिये जीवन का अभाव है। ब्रह्मचर्य सातिक जीवन का अभाव है। ब्रह्मचर्य सिद्ध होने पर अनुभूति नहीं पूर्ण होती है, साथार्थ प्राप्त होता है। योई भी मनोविकार उत्पन्न नहीं होता है परं वह इन्द्रियों सभी निर्भत रहते हैं। ब्रह्मचर्य से ओज, तेज, कानिं, बल आदि गुणों की वृद्धि होती है। मन-बद्धन-काय से होने वाले सभी प्रकार के ग्रीष्मों का सभी उत्पन्न तथा करके सभी प्रकार से 'वीर्य' की रक्षा करना 'ब्रह्मचर्य' है। वीर्य (शुक्र) प्रयोगवाला का सार अंत है। शुक्र का भी सारभूत अंश ओज कहलाता है जो रोग प्रतिरोधक शुक्र (Immunity) के लिये उत्तरायणी है।

ब्रह्मचर्य पालन से वीर्य वर्धनापी होकर प्राण व समान को बल देता है। अन्य को क्षम्य सप्तम में घृदि होती है। अतः स्वास्थ्य रक्षण के लिये ब्रह्मचर्य गात्रन का प्रयोग है।

(v) अपरिग्रह—सभी और से सबकुछ (धन-दीलत) संग्रह करने का कर्मिण है और ऐसा न करना अपरिग्रह है। अपने स्वार्थ के लिये भगवान्तक का सम्मति, धोग-दधोग की सामग्री का संचय करना परिग्रह है। परिग्रह से लैप तेप व अनेक स्वार्थों को बढ़ते हैं। जायाग्रे बहुत यद्या नीतिक और सामाजिक अपराध है। अग्रहिता, सत्य, अस्त्रेय, ब्रह्मचर्य का ठीक पालन होगा तभी अपरिग्रह की प्रवृत्ति प्राप्त होना चाहिए। परिग्रह से हिंसा प्रचलित है। परिग्रह भी एक प्रकार की चोरी है। अतः हमें अपरिग्रह बनाना चाहिए।

उपर्युक्त यम के खात्रों प्रकार जाति-देश-काल और निर्भत को सोमा से एवं सार्वभीम होने पर "महाब्रह्म" कहलाते हैं।

2. नियम

परमात्मा या परम तत्व में मतात अनुरूपि (पालन) को नियम कहते हैं। नियमों से पालन करने से पुनर्जन्म करने वाले संस्कार निर्भत नहीं होते हैं। यम के द्वारा जाति को 'ब्रह्म प्रवृत्तियों' पर नियन्त्रण होता है। नियम के द्वारा 'अन्तः प्रवृत्तियों' पर नियन्त्रण होता है।

1. ब्राह्मदीप्तिस्त्राय तर्वांसाम्बन्धः ॥
2. ब्रह्मचर्यंद्वाय वीर्यं स्वप्नः ॥
3. अपरिग्रहार्थं जन्माभ्यन्तरादेः ॥
4. वर्णिदंतामामपानवृक्षात् वर्णपीण्यं यादाप्रतिप ॥
5. अनुरूपः चो तत्वं सर्वं निष्कृतं भूतः ॥

- (प्रातुरुपं देवता ॥)
- (पातञ्जलीयं देवता ॥)
- (चतुर्मात्रा देवता ॥)
- (पातञ्जलीयं देवता ॥)
- (प्रितिविभूतिरौता ॥)

विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों के सामाज्य मिळाल

१। महर्षि वत्सलि ने नियम के निम्न पाँच भेद बताए हैं—

- i. शीघ्र—कार्यिक, वाचिक व मानसिक सुचिता
- ii. संतोष—तुष्णा रहित होना
- iii. तप—निश्चित ध्येय के लिये प्रयत्न
- iv. स्वाध्याय—पाचित्र मन से धार्मिक ग्रन्थ पठन
- v. ईश्वर प्रणिधान—ईश्वर के शरणागत हो जाना

i) शीघ्र

जीवन के शारीरिक व मानसिक क्रिया करना प्रत्येक क्षेत्र में शुद्धता का अभाव ही शीघ्र है। जल, फैनक, मिट्टी से शरीर, धन्त्र व आवास आदि के मन की दूर करना बाह्यरूप है। आत्मतत्त्व के चिन्तन-दूरन-अनुशोलन से मन को व्यवहार को जाती है, यही परम शीघ्र है। यह शुद्ध मन-बद्धन-करने से होनी चाहिए। महर्षि वत्सलि ने कहा है कि शीघ्र का पालन करने से अपने शरीर के द्वारा वैराग्य हो जाता है और अन्यों से संसार न करने की इच्छा उत्पन्न होती है। यद्य प्रातीर से नोह रुट जाता है तब मन को शरीरपक्ष व्यासार्थ समाप्त हो जाती है। मानसिक शुद्धि (अन्तः शुद्धि) से झलकार को शुद्ध होती है मन प्रसन्न रहता है, चित्र एकाग्र होता है और ईन्द्रियों नियन्त्रण में रहती है।

ii) संतोष

कर्त्तव्य-कर्म का पालन करते हुए उत्तक जो दर्शनान हो तथा प्रत्यक्ष के अनुसार स्वयं जो खुछ प्राप्त हो तथा चित्र परिस्थिति में रहना पड़े उसे संतुष्ट रहना और अन्य विस्तीर्ण प्रकार की कामना न करना 'संतोष' है। खांतिक दौड़ जा अन्त जाते हैं। मन एक इच्छा पूरी होते ही दूसरी इच्छा को जन्म देता है और इस प्रकार उसको इच्छाएं बढ़ती हो जाती हैं, कभी पूर्ण नहीं होती। उसी से उसका असन्तोष बढ़ता जाता है। बल्लत से ज्यादा नहीं रखना वही अपरिग्रह है और इसी का रूपनाम संतोष है। संतोष ही परम सुख है। संतोष से अद्वितीय सुख प्राप्त होता है।

iii) तप

स्वधर्मपालन के लिये ब्रह्म, उपरात्म, पूजा, जल आदि कार्य करना चाहे है। इसके अभ्यास से शरीर, ईन्द्रिय, मन का भल नहीं होता है। आचार रत्नाय भी इसी से सामंजस्य रखता है। ध्येय की प्राप्ति में आने वाले विज्ञों का शुकावस्था करना चाहे है। प्रतिदिन देवता, गोमाता, गंगा, गोता, चाहाणा, गुरु, आपार्य को सेवा में तप्तर रहना चाहिए। शरीर व मन को कष्ट देकर साधना करना ही तप है। इच्छाओं से मन विचलित रहता है और उनका शमन करना ही तप है। तप में दिनवर्षी का पूर्ण पालन, भोजन पर नियन्त्रण, उपवास, शमन करना ही तप है। तप में दिनवर्षी का पूर्ण पालन, भोजन पर नियन्त्रण, उपवास, शमन करना ही तप है।

1. शैषणनेत्रवत्: यात्पादेष्वर्त्ताप्रविनियमः ॥

(प्रात्यक्ष देवता दर्शन 2/32)

2. शीघ्रः स्वाहानुपात वीतांशर्गः ॥

(प्रात्यक्ष देवता दर्शन 2/4)

3. सन्तोषपाद्युत्पातः ॥

(प्रात्यक्ष देवता दर्शन 2/42)

प्र० ईश्र भारि का समलोरा होता है। जब शरीर साध जाय तो वह अव्याप्ति नहीं बनता और तब यह कोई साधना में लगाया जा सकता है। ताप तीव्र प्रदूषक होता है तो निम्न है—

1. कार्यिक ताप
2. चार्यिक ताप
3. मानसिक ताप

ये तीन ताप से शरीर-मन-बाणी-बुद्धि और चरित्र को शुद्ध कर अपनी शक्ति बढ़ाता है।

५) स्वाध्याय

अपना अध्ययन ही स्वाध्याय है। अपने द्वारा किया गया अपना (स्व का) अध्ययन स्वाध्याय है। विहान व सबन पुरुषों से ज्ञान की चर्चा करना, पुस्तक-प्रथ्य-पुराण-ठर्विद-ठर्विद-योद आदि पढ़ना, भाषापुरुषों के जीवन का अनुभव (आत्मकथा) पढ़ना, रुद्रक्षों को साधनारूपों और डफलाख्यों को पढ़ना ये सभी स्वाध्याय के अन्तर्गत आते हैं। विद्या ज्ञान के लिये है और ज्ञान वास्तविक तभी है जब वह आजमा और परमात्मा के बीच की जड़ करे। महर्वि परम्पराने के अनुसार स्वाध्याय से इष्टदेव का साधारकार होता है।

६) ईश्र प्रणिधान

ईश्र को ठपासन ही ईश्र प्रणिधान है। सर्व कर्मों के फल ईश्र को समर्पित करे, निष्काम करने करते रहे, कर्मकार बनें यही ईश्र प्रणिधान है। परमात्मा में शरणात्म होने से विन हट जाने हैं और योगी का मन समाधि लगाने में सक्षम हो जाता है।

३. आसन

मुख्यमूर्त्ति सिद्ध बैठने को आसन कहा जाता है^१। योगाभ्यास के लिये बैठना पड़ता है। बैठना एक शारीरिक विधि है। विस तरह आमुर्वेद में व्याधायम का विधान है उसी वरह योग में असनों का विधान है। इससे शरीर घणघृत होता है और साधक मेरुरण्ड को सीधा रुद्धिकर विचाहित-हुते बही देर तक एक ही स्थिति में बैठकर ध्यान कर सकत है। इसने शरीर के अवश्यक, अङ्ग-प्रत्यक्ष, मांस पेशियाँ, स्त्रियाँ स्वस्थ रहते हैं। आसन का प्रभाव शरीर के मध्ये अंगों पर पड़ता है, जबकि व्याधायम से केवल मांसपेशियाँ सुख होती हैं। असन प्रति काल कोष्ठगुद्धि के पथात करें। स्थूल रूप से योगासनों को निम्न तीन वर्गों में विभक्त किया गया है—

- | | |
|------------------------------------|--------------------------|
| १. व्याधिप्रत्यक्षाद्युद्धायम् ॥ | (पातञ्जल योग दर्शन २/४३) |
| २. अव्याधिप्रत्यक्षाद्युद्धायम् ॥ | (पातञ्जल योगदर्शन २/४४) |
| ३. ० व्याधिप्रत्यक्षाद्युद्धायम् ॥ | (पातञ्जल योग दर्शन २/४५) |
| ४. ० व्याधिप्रत्यक्षाद्युद्धायम् ॥ | (पातञ्जल योग दर्शन २/४५) |
| | (पातञ्जल योग दर्शन २/४६) |

विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों के समान्य सिद्धान्त

१) ध्यानात्मक (Meditative) आसन

इन आसनों का अभ्यास 'ध्यान' के गूर्व करना चाहिये। इनी आसनों में नियर होकर ध्यान किया जाता है।

जैसे—सिद्धासन, पद्मासन, भद्रासन, वैद्रासन, स्वस्तिकामन आदि।

२) विश्रान्तिकर (Relaxative) आसन

जिन आसनों के अभ्यास से शरीर को विश्रान्ति मिलता है उन्हें विश्रान्तिकर आसन कहते हैं जैसे—शवासन, मुद्रासन।

३) शरीर संवर्धनात्मक (Somatic Promotive) आसन—

इन आसनों का अभ्यास शारीरिक विकास के लिये किया जाता है। ये आसन अनेक प्रकार के हैं जिनमें से कुछ प्रमुख आसन निम्न हैं—

- | | |
|--------------------|---------------|
| १. सिंहासन | १२. कूरांसन |
| २. गौमुखासन | १३. मण्डूकासन |
| ३. बौद्धासन | १४. गृह्णासन |
| ४. घनुरासन | १५. शतभासन |
| ५. गत्स्यासन | १६. मकरासन |
| ६. पश्चिमोत्तासन | १७. भुजंगासन |
| ७. मत्स्येन्द्रासन | १८. संक्षासन |
| ८. गोरक्षासन | १९. शोषासन |
| ९. ढल्कासन | २०. वृक्षासन |
| १०. मधूरासन | २१. चक्रासन |
| ११. कुरुकुटासन | २२. उद्धासन |

भगवान शंकर ने 84 आसनों का वर्णन किया है। विभिन्न भासन छहे होकर, बैठकर या चित्त सेटकर किये जा सकते हैं जैसा कि निम्न वर्णन से स्पष्ट है—

(अ) छहे होकर (Standing Position) किये जाने वाले आसन

तादासन उद्धासन

चिकोणासन बोरासन

सप्तरात्मासन (उल्टे छहे होकर)

शोषासन आदि (उल्टे छहे होकर)

(ब) बैठकर (Sitting Position) किए जाने वाले आसन

मधूरासन वृक्षासन

एकन भुक्तासन सिंहासन

पर्याप्ति	प्रिहासन
भद्रासन	आर्म भत्तेन्द्रासन
कुम्भासन	गोमुखासन
स्वर्णिकासन	गोमुखासन आदि।
(स) चित्त सेटका (Lying down Position) किए जाने वाले आसन—	
शबासन	परिचमोत्तासन
शतभासन	चक्रासन
मत्स्यासन	मुमुक्षासन
भुजंगासन	धनुरासन आदि।

आसनों का शीर व मन पर प्रभावः

दर्शनक वस्त्रों का प्रभाव शीर के विभिन्न अंगों पर पड़ता है। शीर में विभिन्न प्रकार के स्टेनोकॉपियालक (Physiological), जीव रासायनिक (Biochemical) तथा फ़ैल्गिक (Psychological) परिवर्तन होते रहते हैं। इन सभी पर आसनों का प्रभाव दहल है। अन्तर्जालीय ग्राह्यियों (Endocrine glands) पर भी आसनों का प्रभाव दहल है। नासोरेकोपी दूषित विकास (Complete Relaxation) की अवस्था में आ जाते हैं। ज्ञानांक से शीर पर (Body Weight) में कमी, शास गति में कमी, दृष्टि स्तर के विस्तार (Chest Expansion) में बढ़ि, कुम्भुकों के प्रसार व संकोर (Inspiration & Expiration) में बढ़ि, रक्तात शर्करा (Blood Sugar) में कमी, रक्तात घट (Cholesterol & Triglycerides) में कमी, रसगत ग्लोबिन (Immunoglobulins) में बढ़ि होती है। बुद्धि गणक (Intelligence Quotient) व स्मृति गणक (Memory Quotient) में बढ़ि होती है। उच्चतरोपाय, हृदयरोग, मधुमेह, स्थील्स, डम गो, गतिगड, कटिशूल, गुधमी, अवसाद, तनाव आदि रोगों में योगासन बहुत ही उपयोग संवित हो सकते हैं। स्वस्थ शीर में ही स्वस्थ मन रहता है। आसनों के नियन्त्रण अभ्यास में विभिन्न अंत-प्रत्यक्ष-अवयवों का कार्य सुचारू रूप से होता रहता है। जिन भय, झांप, हँसक आदि मानसिक अवस्थाओं का व्याधियों के साथ सम्बन्ध है। ऐसे रोगों को मनोदैर्धिक (Psychosomatic Disorders) रोग कहा जाता है। इस तरह वे अवयवों में पिट्युर्हॉ व एंटीनल ग्राह्यियों से संबंधित हामोन सामान्य से ज्यादा हो जाते हैं और वे ही बृद्ध हामोन रोगोंतर्फ़ में सहायक होते हैं। योगासनों से हामोन स्वास्थ का सम्पूर्ण शीर व मन पर पड़ता है। अतः योगासनों पर प्रभाव

4. प्राणायाम

- प्राण को खेलना ही प्राणायाम है। प्राणवायु प्राण का संचार करता है। प्राणवायु—
1. धैर्य एवं विनियोग विकास।

(पृष्ठ प्रमाणक 31) सेव्या ग्रंथि

गीर में प्रविष्ट होना शास और बाहर निकालना प्रश्नास कहलाता है। शास-प्रश्नास क्रिया का एक होना प्राणायाम का सामान्य स्थिति है। यातु जो आयु भी कठा गया है। यह एक लाठ का बुन्दुकीय व्यायाम (Lung Exercise) है। आधार रूप से व्यायाम के निम्न रूप भी हैं—

- (i) पूरक—शास को अन्दर लेना
- (ii) कुम्भक—शास को रोके रखना
- (iii) रेचक—शास को बाहर छोड़ना

(i) पूरक प्राणायाम

इसे आप्यानार वृत्ति भी कहा जाता है। प्राणवायु को नासानार में जरीर में द्वा शक्ति अन्दर से जाकर रोके रखना ही 'पूरक' प्राणायाम है। इसमें प्राणवायु को जरीर के अन्दर रक्षित करके रोका जाता है। अतः कुछ आचार इसे 'अन्तः कुम्भक' भी कहते हैं। अन्दर रक्षित करके रोका जाता है। अतः कुछ आचार इसे 'अन्तः कुम्भक' भी कहते हैं।

(ii) कुम्भक प्राणायाम

इसे 'स्तंभवृत्ति' भी कहते हैं। प्राणवायु को रेचक वा पूरक के बाद योकना कुम्भक प्राणायाम कहलाता है। निरन्तर अभ्यास से यह प्राणायाम दोष एवं नूस होना जल्द जाता है। ये साधक कुम्भक का अभ्यास करने में सकाल ही जाता है उसको कुम्भासन रात्रि कागज ही जाती है। इसके भी निम्न दो भेद वर्णित हैं—

- (a) सहित कुम्भक—जब कुम्भक के पूर्व पूरक और योक के रेचक किया जाता है।

- (b) रहित कुम्भक—जब पूरक वा रेचक किये जाते हैं ताकि बानु को स्वयं करके कुम्भक किया जाय।

- (iii) रेचक प्राणायाम—इसमें प्राणवायु के व्यासार्थीक व्यासान्वय तक रहित से बाहर निकाला जाता है। कुछ लोग इसे 'चाढ़ा कुम्भक' भी कहते हैं। महाविं पद्मनाभने इसे 'चाढ़ावृत्ति' प्राणायाम भी कहा है।

ये तीनों प्राणायाम देश-काल एवं रंगांक से उत्पन्न होते हैं। स्वास्थ्य: पूरक, कुम्भक, रेचक के साधय का अनुपात 1:4:2 रखा जाता है।

प्राणायाम के धूर्य कर्म

- प्राणायाम करने का स्थान स्वच्छ, शान्त, शुद्ध होना चाहिये।

- सामन्तरीय शासकालकोंविरुद्धः प्रश्नास।
- प्राणायामात्तर्क्षम्भूतिरेतासामान्यः चाहौ दीर्घायुः ॥

(सामन्तरीय 2.47)

(सामन्तरीय 2.50)

२. विद्वायन में वैत्तक धोवा, भेरुदण्ड ग कटि को रीभा रखना चाहिए।
३. प्राणयाम के पूर्व तीन बच्चों (मूल, उड़ानांन, जालान्पर) पर अप्पा ग।
४. दृष्टि को नासान या धूधध में ठिकायें।
५. ज्ञन मुद्रा का ढीक से अध्यास करें।
६. स्नान के बाद ही प्रतःकाल अध्यास करें।

कुम्भक प्राणयाम के अध्यकार

कुम्भक प्राणयाम के निम्न आठ प्रकार हैं—

१. सूर्यभेदन—इसमें दौहिने नासारन्ध (सूर्यनाडी) से प्राणयामु को अच्छे खोककर कुम्भक करते हैं। इसमें मस्तिष्क शुद्धि, बातशमन, कृपि दोंपं का नाश होता है।
२. उच्चार्या—इसमें दोहिने नासारन्धों से अन्तःश्सन द्वारा फूफ़कुमों में अधिकाय प्राणयामु भरते हैं। फिर कुम्भक करते हैं। तत्प्रात् चाम नासारन्ध पर थों-थों दात्त छोड़ते हैं। इसमें श्लोभादोष का शमन, नाड़ी विक्रम व लोहों द्वारा होते हैं। बदरानि प्रदोष होती है।
३. सौन्तकारी—अन्तःश्सन लेते समय इनने जोर से खींचे कि हीलकर अच्छे मुच्छ दे। बद्धात् कुम्भक करें। बाद में धीर-धीर बाह्य श्सन करें। इनके शूष्य, तृष्ण, निद्रा, आत्मन दूर होते हैं। सत्यगुण को शुद्धि होती है।
४. शीताती—बिहू को बाहर निकालकर तत्प्रात् दोष अन्तःश्सन करें। फिर कुम्भक कर धीर-धीर बाहर निकालें। इसमें गुल्म, स्लोलरेण, ज्वर, धूप, शूष्य, विष व विक्रम का शमन होता है।
५. धार्मिका—धीकनों को तरह जोर-जोर से अन्तःश्सन और चर्हीं; ध्यान लों और जब यक लाये तब सूर्यनाडी से बायु को अन्दर ले, कुम्भक करें ओर चद्रनाडी से बाहर निकालें। इसमें त्रिदोष शमन होता है।
६. धार्मी—धीर के शुमान शब्द करते हुये अन्तःश्सन करें। फिर जालान्पर नन्ध बोधकर शर्मी—शर्मी; रेचक प्राणयाम करें। यह कठिन होने के कारण 'मूर्छा' कहलाता है। इसमें मन मूर्छित हो जाता है।
७. मूर्छा—प्रथमतः दोष अन्तःश्सन करें। फिर जालान्पर नन्ध बोधकर शर्मी—शर्मी; रेचक प्राणयाम करें। यह कठिन होने के कारण 'मूर्छा' कहलाता है।

१. मूर्खेन्द्रनुकूलको मौनांनी संज्ञान गत। धार्मिका प्राणय पूर्णा विवरणमयकृपामात्। (प्राचीन दृष्टिः २०१०)

८. व्याधिनी—पूरक प्राणयाम से उद्धर को कुलाकर पश्चात् रेचक द्वारा धीर-धीर बहिर्घटन करें। इसमें गरीब में हल्कान आता है। तनाव भी कम होता है।

यह सामस्त प्राणयाम अधिनवर्धक या आयुर्वर्धक है। इसके नियमित अध्यास से शरीरप्रियामक विकास तथा बोनेहित रानिं शम होती है।

५. प्रत्याहार

इन्द्रियों की बाह्य वृत्ति को सब ओर से संपर्कर भन वें विनाय करने के अध्यास का नाम 'प्रत्याहार' है। प्रत्याहार 'स्वनियन्त्रण' को प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति अन्तीं इन्द्रियों को उनके विषयों से पृथक् रखता है। यहाँ पर्यावरण के अनुकूल वय इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क न रहे, वे चित का पूरा अनुसरण करे तब इन लिंगिं को प्रत्याहार कहते हैं।

वस्तुतः प्रत्याहार अहाङ्क योग में बहिरंग (दम-नियन्त्र-आसन-ज्ञानयाम) तथा अन्तरंग (धारणा-ध्यान-सामाधि) अवस्थाओं में सेतुलप है।

प्रत्याहार भनेनिरोप एवं इन्द्रिय व्यापार से मन को अलग करने की प्रक्रिया है। वस्तुतः प्रत्याहार द्वारा योगी अपने मन को स्वयं में केन्द्रित कर इन्द्रियों से पृथक् कर लेता है। विसका मन सात्त्विक इकृति का होता है वह अपेक्ष-चर्चा, भास-क्रोध-सोभ-ईर्ष्ण-द्वेष रहित, विनप्र, दमात्, संदेशों होता है। वह 'देश-कात' को देखकर सर्वदा अनुकूल अवहार करता है। अपने ज्ञानप्र देव पर सतत ज्ञान खनन का अध्यास करें तो प्रत्याहार भी सध जाता है।

६. धारणा

धारणा, ध्यान, समाधि (अनांग योग) को संदेश भी कहा जाता है। धारण एक प्रकार की मानसिक प्रक्रिया है जिसमें मन को एक विशिष्ट धेन में संकेतित कर लियर रखा जाता है। बाहर की वस्तुओं (आकाश, तृप्ति, चक्र आदि) या शरीर के भोवर के (हृदय, नाभि, धूमप, नासिकाप आदि) अंगों में कहीं भी किसी एक स्थान पर मन का ठहराये धारणा है। एक केन्द्र विन्दू पर मन का नियन्त्रण करना धारणा है। यह समाधि का पूर्वकर्म धारणा है। यज यज में सत्यगुण की अधिकता रहती है तो वह किंतु एक विषय या केन्द्र पर लियर हो जाता है। जिस देश (नाभि, हृदय, अकाश, सूर्य आदि) पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है, उस देश में रहने वाली शक्ति या उत्तर ध्ययल हो जाती है। वैसे-कपात प्रदेश पर ध्यान केन्द्रित करने से धी-धी-मृति यज जाते हैं। शक्ति पर ध्यान केन्द्रित करने से धारण लगता ताक समस्त होता, शुभा य विषयों पर नियन्त्रण होता। धारणा में मन की बाह्य घावन लगता समस्त होता, शुभा य विषयों पर नियन्त्रण होता।

१. मानवद्वयाद्वयेऽप्यन्तरान्तर्भवेद्वय व्याप्तः।

२. देवाप्यर्थामन्त्र वाता।

(सामस्त योग दृष्टिः २५४)

(सामस्त योग दृष्टिः ३१)

पुराणे अन्यत्रूपी गोकरण एक व्यापार विशेषण पाए जान्दे हैं।

7. अध्यान

१० सातवीं

इन निर्देश में व्यापा-व्याप-प्रयोग एकाकार हो जाते, उनकी पृष्ठक सत्ता अनुभूति है, नउ पृष्ठ का एकाकार हो, वही अवस्था समाधि है। मन का आदमी के मन द्वारा बदल होना ही नरपति है। समाधि पर की सप्तसूत्रियों के निरोध या विनाश इसका है। व्यवहार का परमाणु का साथ संयोग की समाधि कहा गया है। अवस्था करने-करने अवस्था-घटना (Disappearance of Self Awareness) का प्राप्तीभाव हो जाने पर नरपति मिथ्या हो जाती है। यह अवस्था गहन शान्ति की अवस्था है। योगी या योगिक परिवर्त व्याप में चला जाता है और नियम में विलीन हो जाता है। साधन करने-करने जब सप्तसूत्रियों पर विषय प्राप्त कर लेता है, अधारात् चित में ऐसी व्यायाम प्राप्त करने हैं वह व्यायाम पर विषय में घड़ संयम करना चाहे, उसी में तत्काल संयम हो जाता है, उसमें अन्तर्काल छलकार्कि (प्रश्न) आ जाती है, पश्चात् योक्ष प्राप्त हो जाता है। योग का यो अनुभव उद्दीपन समाधि है। समाधि के निम्न दो भेट हैं—

(अ) समाधान-

(अ) संस्कृत वाची

(ब) अपार्वना

(अ) मध्यग्राम समाप्ति—इसे मध्यिकाल मर्मापि भी कहते हैं। इसमें मन किसी अल्पविवरण (भाषा-भाषा-भाषा-भेद-मूर्ति) के पश्चात् मर्मापि मौजा है। यह को अस्ता भी जान रहता है और धेय या भी जान ही जाता है। आप्य-प्रयत्न के बाद भी कुछ सम्भव यादी जागृत् में रह जाता है, जो दूसरे दृष्टि स्थूलता उत्तम, वह सम्भवतः नहीं है।

(c) असमाधान समाधि—यह दोनों की चर्चा अवश्य है। इनमें साधक और साधन के विषय का अन्तर समान हो जाता है। इनमें व्यक्ति कल्पना वाला व्याकरण समान हो जाते हैं। इसमें मैत्रजाति के बीच भी नहीं गड़ते। अब, यह निर्विकल्प एवं निर्विज नमाधि कहलाती है। इसके निम्नतर असमाधि में शोश्य प्राप्ति हो सकती है। परमाणु संसाधका की वही अवस्था है।

आयुर्वेद व योग

आयुर्वेद, आयु अन्यात् जीवन का चिकित्सा है, उसमें संतोष, इन्ड्रिय, जल, ऊरज के संतोष को आयु कहा जाता है। आयुर्वेद, जीव व अद्वितीय शास्त्र ये दोनों विषयों क्षमता; स्त्री, मन व यात्रा की सुधार के लिये महाप्रभु चतुर्वर्णीति के द्वारा विकल्प ले गये हैं। अद्वितीय चरक ने योग का मोक्ष प्रयत्नक कहा है। धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष की प्रति आयुर्वेद का मूल नियम है। अतः आयुर्वेद व योग में ऐन बिन्दुओं के आधार पर सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है—

आपदा

४८

- | | |
|---|--|
| 1. यह स्पस्य के स्वास्थ्य को रक्षा व आनुरूप के रोग का प्रशस्तन करता है। | 1. यह चित्र (मन) धृति के निरोध द्वारा स्पस्य दर्शन व मन के निर्माण का विकल्प है। |
| 2. यह घेदना की आवश्यनिक चिह्नित कर भौतिक प्राप्ति की ओर अप्रसर करता है। | 2. यह जीवनसाधन व परामर्शदाता के संयोग वर्ग मार्ग बदलाव और प्राप्ति की ओर अद्वितीय करता है। |
| 3. इसके प्रयोगकाल भगवान् भव्यतारी हैं। | 3. इनके प्रयोगकाल नहर्षि फलब्धित हैं। |
| 4. इसमें पञ्चकर्म द्वारा शरीर शुद्धि बहतरणीयी है। | 4. इसमें पटकर्म द्वारा काषा वा हृष्टि शोधन बहतरात्मा है। |
| 5. आपर्युष के आव अंग हैं। | 5. इसके भी जल अङ्ग (जलाङ्ग योग) हैं। |

३. ग्रन्तिवाचकात्मकी परीक्षा

२. खोगे खेत प्रयासः ।

३. विद्यार्थीकामप्रेक्षालयकोर्प मुद्राप्रकल्प।

四 附-24

(四四)

ג'נ'ט

ג'ג

६. यह दैवत्यवाचक, मुक्ति-स्वाक्षर्य एवं सत्त्वारबद्ध विकितस्त्रा द्वारा गोप शापन बताता है।
 ७. अनुरोद विकितस्त्र (पित्रह) की जला नृत्यादी बतातायी गई है।
 ८. सद्यम्, लक्ष्यात् रसायन्, दिव्यार्थी-श्रुत्यादी का बताता है।
 ९. विद्योप (गात्र-पित्त-कफ) एवं सत्त्व-रज-लय का समर्पण ही आनुरोद है।
 १०. मनस रोगों के उच्चार में हानि, विज्ञान, धैर्य, स्मृति, सम्पादित को समर्पण बताता है।
 ११. विक्षम्बन्द के लक्षणों संबंधित के लिये सत्त्वारबद्ध का बताता है।
 १२. इसमें गौडीय, घनव, ज्वा, विषा, विषाधि द्वारा विकित भवतारणी बताती है।
 १३. गैरी, वरणा, मुद्रिता, उत्तेजा वा विष प्रसादादन के लिये बताता गया है।
 १४. यम-गिरियम वैष दशभोदी गति बताता है।
 १५. सुख-दुःख, रज-रोतास, लोपास-परमाहमा वैष एकत्व ही गोप है।
 १६. अविद्या, अस्मिता, राग-द्वैप के कानों से बचने के लिये अटाद्रूप गोप बताता है।
 १७. हठयोग में शरीर व मन का गोपन आसनों से बताया है।

२. नैर्मिंगक (प्राकृतिक) चिकित्सा पद्धति (Naturopathy)

प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति (Naturopathy) का मुख्य आधार यह है कि मन इसी पञ्चवात्मक से जिनित है। बाह्य वर्गत (ब्रह्माण्ड) भी इन्हीं पञ्चमहात्मों ये का हूँच है। 'यद् निष्ठे दद् ब्रह्माण्डे' इस नियन के अनुसार जो पिण्ड (शरीर) में है का ब्रह्माण्ड ने है औ इसी द्रष्टव्य जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड (शरीर) में है। अतः जूने के पञ्चवात्मकों में विषमता से विषयित रोग उत्पन्न होते हैं। अतः रोगों का उपचार पूर्ण ही पञ्चवात्मकों के काल्पनों से करना चाहिये। यही निषर्गोपचार या प्राकृतिक चिकित्सा (Naturopathy) का मानान्वय सिद्धान्त है।

निकान्द्रेश्वर में न्यास्य को बनाये रखने के लिये आहार-विहार-ऋगु-दिदा-आपा का वर्षन है। इनमें मनुष्य के बल पश्च (अनुकूल आहार-विहार) के आधार पर ही यिन विस्तों और प्रतिक्रिया की महापाता से व्यापि से युक्त हो सकता है। यहां आपावेद वा "स्वधारोपयम्" एवं "हंतु-व्याधि विपरीत आहार-विहार" (उपराम भेद) चिकित्सा है। प्रकृति के वरदांक या निकट रहकर ही प्रकृति के पदार्थों से ही चिकित्सा बनना नियमोंपचात है। जिन कारणों में शारीरिक खातुओं (Body Tissues) की पूरी होती है। यदि उन कारणों में विषमता आ जाती है तो शारीरिक खातुओं में भी विषमता उड़ जाती है। यदि उन कारणों में समस्ता शहनी है तो दंड-धातुओं में भी समस्ता शहनी है। इन धातुओं वा भास

— ३८ —

आता: रातीरिक धारुओं के विषय होने के बीच काला है उनके लक्ष में और धारुओं के साम होने के बीच काला है उनका देखन करने में गहरा विषय धारुओं सम हो जाता है।

आगे उपर्युक्त सारी विन्दुओं को ध्यान में रखते हुये प्रकृतिक विनियमों के विचारणा शिदानन्द है विवक्षा विनाश पालन करने से प्राप्ति उद्देश स्थाप्य का प्रयत्न कर रहा है-

1. पहला प्रारंभिक से विविधता

मानव दृष्टी आकाश, यातु, वरिंग, जल, पृथ्वी इन पञ्चमहापूर्णों के अस्त्रों के संयोग से निर्भित हुआ है। दैनिक जीवन में हम जो भी व्याहार उठाने करते हैं वह भी इन्हीं पञ्चमहापूर्णों से निर्भित है। अतः इन दोनों (शास्त्रार्थिक व धाराम-विद्वान्-द्वय) पञ्चमहापूर्णों में विषयता होने से गो उत्तम होते हैं। अतः दोनों को विज्ञान में निर्दृष्टि, जल, वरिंग (सार्व), यातु, आकाश का प्रयोग ब्रह्मपुरुष लघ में फलन करते हैं।

शरीर के घटक द्रव्य (दोष-पातु मत्त आदि) भी इनी वस्त्र-वस्त्रों से निपत्त हैं। प्रत्येक कोशिका, ऊतक, अवयव, संस्तान, वहलोत्रम् चक्रवर्णाद्य द्वारा है। प्रत्येक वस्त्र-द्रव्य भी पात्रभौतिक है। अतः आप्सोद के वस्त्रवर्षक निन इतन है—

पञ्चपंचक पद्धतिक वालिका (उप ४)

पञ्चम इन्द्रिय	पञ्चम इन्द्रिय	पञ्चम इन्द्रिय अधिकार	पञ्चम इन्द्रिय अर्थ	पञ्चम इन्द्रिय कुल
श्रोत्र	आकाश	कर्म	रस्ता	जीव कुल
स्पर्शमान	वायु	त्वचा	स्वर्ग	स्वर्ग कुल
चक्षु	जग्नि	आँखि	रुद	चक्षुकुल
रसना	जल	जिह्वा	रस	रसनकुल
प्राण	पृथ्वी	नाभा	गंभीर	प्राणकुल

अतः उपर्युक्त लक्षितका से वह लक्ष है कि मानव शरीर प्रबन्धनाभूती से दिनिर्मित है। आहार या विधार को विवरण से शरीर के अवधारों में प्रवाहाभूती को अधिकता हो जाने से उस भूत की अधिकता याते अवधार को बढ़ि होती है जिससे वह प्रवृत्त हो जाता है। इसके विपरीत किसी महाभूत की अवधार जल्दी होने से उस व्यवस्था से बदल

1. जारी होने वाले सम्प्रदाय के देशों में, उनमें सबसे अधिक सम्प्रदाय भारत, जहाँ १५२ (१२.२८) २. समाजिक विचारों में सबसे अधिक दृष्टि भारत, जहाँ १५३ (१२.३०)

• [View Details](#) • [Edit](#) • [Delete](#) • [Print](#)



अनेक लैंग हो जाता है जिससे गह अपना स्वास्थ्यविकास (प्राकृति) करता है। और इसी रोपणकला हो जाता है। अतः प्राकृतिक चिकित्सा में शिराहना-नामा-मामा-प्राप्ति की विवरण में उस भाष्यको अधिकार पाला आहार-पिण्डार देना चाहिए। इनमें भाष्यको विवरण में उस भाष्यको अधिकार पाला आहार-पिण्डार देना चाहिए। इनमें भाष्यको विवरण में उस भाष्यको अधिकार पाला आहार-पिण्डार देना चाहिए। इनमें भाष्यको विवरण में उस भाष्यको अधिकार पाला आहार-पिण्डार देना चाहिए। इनमें भाष्यको विवरण में उस भाष्यको अधिकार पाला आहार-पिण्डार देना चाहिए। इनमें भाष्यको विवरण में उस भाष्यको अधिकार पाला आहार-पिण्डार देना चाहिए।

2. विधिप्रभावभूतों से उत्पन्न प्राकृतिक चिकित्सा

प्राकृतिक वैज्ञानिक अधिकार का मूल कोई एक घटना ही होता है। ऐसा घटना प्राकृतिक विवरण से अलग आइस्टीन ने येदु से नीचे गिरते हुए रोब कल को 'उत्पन्न युक्तवाक्यन' को देखा की थी। उसी तरह प्रिसनिज नामक आनंदननन कीजिए ने एक हित जो अपने भान हुयी राखा (Leg) को कोचड में रखता हुआ देखा। तुरा दिनों के अवक्षेपन के पश्चात् पापा कि यह दृढ़ी शास्त्र प्राप्त: तुरा एवं दुर्दनावसा कुछ सम्पर्क विसनिज की पर्याकार्य (HIBS) दूर गयी। उन्होंने अपके ऊपर सौंहत जल को चौहड़ी रखकर पर्याकार्यों को ठीक किया। इस तरह भूक्ति व जल चिकित्सा का अधिकार हुआ। प्रिसनिज के अनुसार रोग प्रतिरोधक शक्ति को नहीं कर देने से यदि बाहर निकल जाता है।

जैसे निष्ठा नामक अस्त्रियन वैज्ञानिक शोत्र व उत्त्य जल (व्यत्यास क्रम में) व चौहड़ी रखकर चिकित्सा करने में निष्पुण था।

उत्त्य चिकित्सा के द्वारा अनांतर्ल रिक्ती नामक व्याजानिक ने शात्रु जीवन बदल किया।

वर्षों के लुई कुने ने गोंद प्रकार के स्नान द्वारा चिकित्सा मिहान बताया। ये निम्न हैं—

1. भाव स्नान
2. कटि स्नान
3. मेहन स्नान

एंटोलक जल्द ने मृदा लेप द्वारा विद्युत के प्रयोग पर अधिक धूल देकर प्रकृति को और (टिटर्न दूनेवर) जलक प्रसिद्ध कृति लिखी।

प्राकृतिक चिकित्सा के सिद्धान्तानुसार योगों का कारण कीटाणुवाद नहीं है।

3. प्रकृति का चिकित्सकत्व

टी. टायप निर्देश के अनुसार प्रत्येक रोग योगी के उत्तीर में स्फायख्य लागि तांके लिए प्रकृति के प्रयत्न के अतीतीक और कुछ भी नहीं है। यद्य परार के अन्दर कोई अनावश्यक विज्ञानीय तत्त्व (Allergen or Antigen-आमदोष) या आपाविष थीं। ए

1. सर्वत सर्वानुसार व्यवहार वृद्धिकरण, इत्यानुरूपितोऽप्य ग्रन्थिभाष्यम्।

(पृष्ठ 14)

विधिप्रभावभूतों के सामान्य सिद्धान्त

जला है यो प्राकृति उसे शरीर से बाहर निकालने के लिए रोग छद्मज करती है। इस सिद्धान्त के अनुसार रोग हमारे परम विष है। शरीर से विचलीय द्रव्य बाहर निकालने के लिए योग्य मात्रा ही है—

- (I) गुदमार्ग—जैसे अतिसार, प्रवाहिका, प्रहृष्टी, हैना (कोलेट) आदि योगों में।
- (II) मूख मार्ग—जैसे मधुमेह, ज्वर आदि योगों में।
- (III) श्वास (नासिका) मार्ग—जैसे प्रतिश्वास, नुकान, छात, कास आदि योगों में।

(IV) त्वचा मार्ग—जैसे ज्वर, कुष्ठ, विसर्जन, दौध अवृद्धि रोगों में।

(V) मुख मार्ग—जैसे छार्टि, अन्तर्मित व विपाक्तियाँ में।

अतः रोग की प्रारंभावस्था में इन विजातीय द्रव्यों द्वारा शरीर से बाहर निकलने रहने देना चाहिए।

4. रोग प्रतिरोधक क्षमता (जीवनीय शक्ति) वृद्धान्त

प्राकृतिक चिकित्सा में लंगी की रोग ज्वर को निकालने की क्षमता (Immunopotency) वृद्धान्त पर विशेष जोर दिया जाता है। इसे ही आयुर्वेद में लहज व पुष्टिकृत जल कहा जाता है। बुले आकाश में व प्रदुषण रहित वातावरण में नुस्खा यात्रा का योग्य जलना चाहिए। युक्त ग्रागायाम, व्यायाम, आसन प्रत्योगा से प्रतिरोधक क्षमता वृद्ध होती है। युक्त ग्रागायाम (खनिज जल) के जलन करने से बाहर के भीतरी भूमि को तदा जलन करने से यात्रा यात्रा (खनिज जल) की युक्ति होता जीवनीय शक्ति वृद्धती है। युक्त ग्रागायाम के निकालने से ज्वर ज्वर की दूषित भूमि व अनांतर की वृद्धती है। शरीर ज्वर के निकालने से प्रकृति से साक्षात्कार होता है। शरीर ज्वर के निकालने से प्रकृति से साक्षात्कार होता है। नदुर ज्वर (Sunbath) से आकाश-यात्रा-अग्नि (पूर्व-जल-दूषों (रोग) इन प्रदुषणाद्यूत्यै से शरीर का समन्वय बनता है व रोग प्रतिरोधक शक्ति वृद्ध होती है।

5. प्राकृतिक आहार सेवन

प्राकृतिक चिकित्सा का आधार ही शाकाहार है। अजहर सतीक, गुद, विष्य, रुचिका, आपूर्वक वर्धक, युक्ति वर्धक एवं सुखार्थक होना चाहिए। अजहर इन तीनों कज्जे व अंकुरित हो सेना चाहिए। और से वरकर होने से जीवननेन दृष्टि (Vitaminoids & minerals) नहीं हो जाते व नहीं होते ही से। अजहर द्रव्य व कठोरी की चोकार-छिलके सहित ही गहण करें। इनमें इनको लौटिका बनी रहती है व यहाँ में रेतों (fibres) की वृत्ति होती रहती है। एक दिन (24 घण्टे) में स्वस्थ शक्ति की ग्रागायाम की भूमि ही भूमि पहुँच करना चाहिए इसीसे शरीर निरोग रहता है।

6. प्राकृतिक विहार व योग्यता

प्राकृतिक चिकित्सा के मिहानुसार योग्य, निर्वास होना व रोगी के लिए रहने

३६२ से उच्च स्तरवर्ग रहा है। आधुनिक साध्यता पर चलनीप्रयासों के में इस गणना नहीं है। अतः ऐसे प्रकृतिक गुणों का पर्याप्त (Natural Fibres) प्रदान करना चाहिए जो वस्तु को सहज बनने देंगे हैं। बोंगट, नदी, पर्वत, झारना आदि प्राकृतिक स्थानों (stations) में ज्यादा से ज्यादा विविध रूपों का प्राप्त होता है।

इस तरह निम्न ईनिक जीवन में प्रयुक्त समस्या लिया-जलाप प्रायुक्तिया। विद्यार्थी के सम्मान मिलता है। प्राकृतिक चिकित्सा के अनुसार सभी रोगों का योग्य विशेषज्ञ जीवन-चर्चा है। इससे बदवटोधर्वस होकर यामु, वदक, देश, वाल दूषिया और विशेषज्ञ नहानियों को दृढ़ करते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा शारीर व मन दोनों को आवश्यक बना करती है। प्राकृतिक चिकित्सा कोई डपद्रव्य पैदा नहीं करती है। इसलिए इसे विशेषज्ञ नियन्त्रे का फलन करते हुए एवं तदुकूल दिनचर्या-रात्रिचर्या-ज्युत्तुचर्या व भौतिक विधि के द्वारा इनका जीवन व्यक्ति करना चाहिए।

प्राकृतिक चिकित्सा के प्रकार व विधि—प्राकृतिक चिकित्सा के नियम प्रयोग
करने में दैनंदिन है—

1. बत्त चिकित्सा
 2. निहो चिकित्सा
 3. अवन चिकित्सा / सुर्य चिकित्सा
 4. वायु चिकित्सा
 5. अद्यह चिकित्सा
 6. उपवात चिकित्सा

1. जल चिकित्सा (Hydro Therapy)—सर्वप्रथम ‘जल चिकित्सा’ ने जलविकार चिकित्सा प्रणाली को आधार दिया है। इसमें शीत-ठण्ण तथा बात्तु-झापंदा जल का प्रयोग होता है।

(म) बाह्य जल चिकित्सा- बाह्य रूप में जल चिकित्सा के अंतर्गत निम्न शब्द वर्णित हैं-

- (i) कटिखान (Hip Bath)
 - (ii) भेटन खान (Schitz Bath)
 - (iii) अरप स्थान (Sun Bath)
 - (iv) पाद प्रक्षतलन (Foot Bath)
 - (v) सिंडलों स्थान (Calf Bath)
 - (vi) शृङ्खला स्थान (Spinal Bath)
 - (vii) धाप स्थान (Steam Bath)
 - (viii) हृष्ण स्थान (Hot Bath)
 - (ix) लवाहार स्थान (Tub bath)

परिप्रदेश पर उल्लं जल यान नियन्त है। अप: सोरी का यान उल्लं रस्ते से किया जाता है। धारी-धारी से क्रमारा: शोता-ठण्ण जल यान से गहरा की एकवाहिनियाँ (Blood vessels) संकुचित य उत्तरायित होती हैं, त्वचा के गंभीर युग्म व यंद होती है। इसी प्रभावितों (Arteries) सर्वोत्तम बनी रहती है एवं भवन्ति प्रवर्तनय या भवन्ति कठिन्य (Arteriosclerosis) दूर होता है। तीव्र ऊपर के खें की रुक करने के लिए, या नीरी प्रदेश पर शोत जल लिया जाता है। कफ या आम में उत्तराय विकल्पों को दूर करने के लिए, चरतायगणन (Swimming) कगाया जाता है। इसमें जल के मार्ग में आमों के बाहर निकलती हुई उष्ण अंदर ही रुक जलती है तिसकी उक्तता में आम का जलव कोकर कफ का विलयन होता है। उत्तराय रोग में इम निष्ठात या उत्तराय दिया जाता है। यान करने से जटायगि प्रदीप होती है। आम में वृक्षाया, आनु, उत्तर, चन घड़ता है, त्वचा के मल, कूपि, स्वेद, काण्ड, नष्ट होते हैं, तंद्रा, तून, दाढ़ भी दूर होते हैं।

स्थान निषेध—ज्वर, अतिसार, आम्राश, अदौर्न, चैन्स, देह दीर्घ, ज्वर दीर्घ, औद्यन के प्रभाव आदि में स्थान नहीं करना चाहिए।

- (i) कट्टि लान (Hip Bath)—इस लान के लिए एक ऐसा ठंडा त्रिंगल बैठा जा सके, पश्चात् उसमें इतना जल भरें कि नाभि तक वा भान हृदय रहे वे पर छह निकले रहें। अब थोटे लौलिये से नाभि के नीचे सम्पूर्ण नाई प्रदेश में राखियर थोड़े हैं। इन विधि को प्रतिदिन 10 मिनट तक करना चाहिए। जल तामाज़ तां पर होना चाहिए। इसके निरतर अभ्यास से विद्युत, उदारवत्, मन्दाग्नि, कठिराल, चट्टन्ह के दोष, अर्द्धभान्दर, परिकर्तिका आदि रोग दूर हो सकते हैं।

(ii) शेहन खान (Schiltz Bath)—शीरल बत से भैरे टब में उन्हें घोंचे-
घोंच एक लकड़ी की पट्टी रखकर उस पर निर्वास्त होकर व वैठकर एक घैंडे, सेवेट
होलिया को पानी से भिगो-भिगोका बार-बार बन्दौर्धन्य को छान करने। यह खान
मुद्रुता से व सावधानी से 20 से 30 मिनट तक करना चाहिए। इस खान के बहाव हवा
लायु व्यायाम करें। व्यायाम पद्धाति गुलामगरण (भारी वज्र वैठक-कम्बल जारी) प्रोटक्स
शारीर को गर्म कर देना चाहिए। इससे शरीर को अतिरिक्त ऊर्जा बाहर निकल जाती है।
नापोर्टेशन जल डोपी है, जन्मौर्धन्य व कर्ण प्रदेश के रोग दूर होते हैं।

- (iii) आतप स्वान (Sun Bath)—सूर्योदय के तमन का फैलाव जैसे एवं सेवन से कई रोग दूर होते हैं। इसका विशेष लाभ आगे सूर्य चिकित्सा में किया जाता है।

(iv) पाद प्रश्वासात्मन (Foot Bath)—प्राकृतिक चिकित्सा में गर्व जल (मुखोष्ण)

1. शीर्षक प्रबन्धालयांचा वार्ताचा कायदा। (प्राप्तिकाऱ्यावरीला वार्ता कृत करण्याचा कायदा)



वे ऐसे को धोना चाहता है। शम्पो पाद यांत्र के बाद ऐसे धोने से खाली है, जो इसे दूर होती है। धोने पूर्व पाद उद्धालन से अधः कायं की उम्मा उर्ध्वगामी होता है। उद्धालन को उद्दीप कहती है। पाद उद्धालन से चधुः प्रसादन भी होता है।

(v) विषद्वाती या जंघा स्नान (Calf Bath)—याद खान यों हो जाता है कि जो बहन में (बाल्टी अट्टी) बाजु सभी तक जल भरकर उसमें 5 मिनट रहते हैं, तो वे भी उद्धालन करते हैं। इन गह के 3-4 बार प्रयोग करने से जंघा नींद नींद (सोनेवाल, आपत्ति, उद्धालन अट्टी) दूर होती है एवं ऐसे में शक्ति का संरक्षण चाहता है। जल में आवश्यकतानुसार रोल-उडा राखा जा सकता है।

(vi) पृष्ठवंश स्नान (Spinal Bath)—इस स्नान के लिए दोणी (नार) के अन्नान के टप को आवश्यकता होती है। इसकी लम्बाई-चौड़ाई आतुर या नापान व अकान के हिसाब से रहना चाहिए। इन टप में आवश्यकतानुसार शोल-उडा जल भरकर निर्वन्ध हो लेना चाहिए। इन अन्नान में 10 से 20 मिनट रहना चाहिए। फिर उन दो बाहर आजन में से दोपेंटार लैंगिला से गोहल कुछ समय उद्धालन करते हैं। इससे वरिंग्स, पृष्ठरु, Ankylosing Spondylitis, Inter Vertebral Disc Prolapse (IVDP), Osteoarthritis अट्टी रोग दूर होते हैं।

(vii) धाप या वाष्प स्नान (Steam Bath)—इसके भी निष्ठ दो घंटे बर्नित हैं—

(1) सर्वाङ्ग स्नान (Generalised body steam bath)

(2) एकाङ्ग (काढ़ी) वाष्प स्नान (Localised steam bath)

(1) सर्वाङ्गवाष्प स्नान—इस आन का प्रयोग सर्वाङ्गात व्याधियों में करते हैं। इसके लिए प्रकार को लकड़ी की पेटिक बनायी जाती है जिसमें नींदे से नलों के द्वारा बगह-बगह धाप दांड़ा जाती है। योगी को कम्बल या चादर से ढेककर फिर जो बाहर निकालकर उसे जल को चूर्छने से परिपक्व करते हुए रखते हैं। पेटी में प्रवेश करने के दूर योगी को एक स्नान मुर्दाणा जल पिलाया जाता है। व्याधि रूप से स्वेद उन्ने तक रोग जल में 30 मिनट तक यह स्नान करते हैं। पेटिका में से रोगी को निकालकर उसे बगह या कमरे में 10 मिनट तक यह स्नान करते हैं। पेटिका में से रोगी को निकालकर उसे सात दिन में एक बार (स्वस्थ अवस्था में) बहर करना चाहिए। इससे अंति स्थील, पथोफल, आपत्ति, सोनियान अट्टी रोग दूर होते हैं।

(2) चाढ़ी वाष्प स्नान (एकाङ्ग)—किसी एक अंग में स्थानिक रूप से विकृति होने पर इसे किया जाता है। नार्दीपान द्वारा जली की सहायता से रुग्ण अंग का वाष्प स्नान किया जाता है। इस स्नान से उप्रसी, सम्भिता, अंवयातुक, एकाङ्गवाष्प आदि रोगों में लाप्त गिरता है।

(3) आपत्ता जल चिकित्सा—जल हो जीवन है। जीवित रहने के लिए जल

एक अत्यधिक गहरा है। गहरा जल जल देना में ही जल होता है। जल गहरी धोपक तार्ही के निर, मंफालक का कार्य करता है। स्पाइ, विसर्जित, धूकार वदायी को घंटे, गल, नूत्र के द्वारा गहरे में बाहर उद्धालता है। ग्रीष्म ऋतु में जल धूले रहने से तापावात (Heat Stroke) को बचावना कर दूर होती है। तापावात जल धूले रहने में विवर्ण व उद्धालन द्वारा कर दूर होते हैं। बार-बार जल धूले से अति मूल्यवान प्रमाण की मृगाशरीरी भूमि दूर करना निकल जाता है। गर्भिणी स्त्री को अधिक जल विलापा चाहिए जिसमें नामंत्र निरु अन्य चर्चा रहता है। स्वतन्त्रता करानेवाली विवर्णी को भी दुष्प संवर्धन के लिए जल धूले जल धूल चाहिए। जलालपता (Dehydration) को अवस्था में रिहायार्ड द्वारा जल व नमक का धोल दिया जाता है। 24 घंटे में ग्रीष्म ऋतु को शोष जल में 3 से 5 सेंटीग्र व ग्रीष्म ऋतु में 8 से 10 लीटर जल धूल चाहिए।

2. मिट्टी चिकित्सा (Mud Therapy)—मनुष्य के जीवन का अध्यात्म मिट्टी ही है। अतः उसे मिट्टी (पृथ्वी) के सोधे सप्तक में रहना चाहिए। चिकित्सा के द्वयों में मिट्टी साफ, स्वच्छ, चिकनी, चारीक, कंकड़-पत्थर-बालू रीत होना चाहिए। रोग के अनुसार मिट्टी के निम्न भेद विभिन्न हैं जो रोगानुसार प्रयोग करें—

- (i) धीली मिट्टी—इसे मन्दागि, उदार विकार, बकूल लौंग रोग व नमुनेक में प्रयोग करें।
- (ii) श्रेत मिट्टी—इसे बकूल रोग व मस्तिष्क के रोगों में प्रयुक्त करें।
- (iii) कृष्ण मिट्टी—यह लता रोग व विषाणु नाराक है।
- (iv) लाल मिट्टी—इसे शूल, आपत्ति, पश्चवध रोग में प्रयुक्त करें।

मिट्टी के विभिन्न प्रयोग

1. खुले बालावरण में बोंगे पैर चलना, फिलना, चैक्कनन करना, उद्धालन चाहिए। इससे शरीर पुष्ट होता है। वसुधरा जो शक्ति गहरे में जाती है।
2. मिट्टी पर लेटने व सोने से गाचन क्रिया ठोक रहती है, जानेदार के दोनों को अच्छी नींद आती है।
3. मिट्टी के लेप व पट्टियों के प्रयोग से दण, शोष, रुक्त, दाढ़, चंदे रोग (Psoriasis), चोट, चोच, ऊनवर्ण (Burn & Scald) आदि रोग दूर होते हैं।
4. मिट्टी के पुलिस चौथने से शिरगूत, अतिलार, विवर्ण, ब्यां, जर्म, रुक्त आदि रोग दूर होते हैं।

3. आतप/सूर्य चिकित्सा (Hello Therapy)—सूर्य रोशनी अन्वरत नवाक, विश्व प्रकाशक व सभी अदृश्य कृपियों का नाराक है। सूर्य उदय होने से लोकर भूमि होने तक गम्भीर जाता के जोड़-जन्म-पैद-पीपां भोग रुग्ण करता है। उद्धालत पाकूलिक चिकित्सा

विविध—एकान्त ये विविध होकर या हाथे पराहृते पाठ्य-पाठ्यालयों में अन्य समाज की विविध विद्यार्थी एवं विद्यार्थियों को शामुद्र गति पर भूपू यात्रा करना चाहिए। इसके अनुमति १५ में ३२ विनाट तक ही घृष्ण रहने हैं। घृष्ण यात्रा के बीच-बीच में घृष्ण जल खाने वाले यात्री यात्रा दूर्घटना से बचना चाहिए। प्रातः-वाहन या विमान से यात्रा करने वाले यात्री यात्रा दूर्घटना से बचना चाहिए। यात्रा के दौरान यात्री यात्रा को सेवन करना चाहिए। प्रातः-वाहन या विमान से यात्रा करने वाले यात्री यात्रा दूर्घटना से बचना चाहिए।

4. यातु का बाहरी चिकित्सा (Air/Oxygen Therapy) —यातु हो गई समस्त विधियों का फैलक, संचालक एवं नियन्त्रक है। यातु से ही शब्द प्रयोग नहीं होता है। यातु में इनमें से जीवनीय राक्त विलासी है। विषुपदायूष (Oxygen) इसी यातु चिकित्सा में इस होती है। यातु सेवन के लिए प्राणी कान में सार्वजनिक अवयव टप्पुदृढ़ है। अतः कोशधुनिक, महानगरीय, प्रशुल्कित वातावरण यातों विनाशक युद्ध यातु छान होना कठिन हो गया है। अतः महानगरों में आपुणिक प्राणायाम युद्ध (Oxygen Bar) खड़े जा रहे हैं।

5. अभ्यङ्ग चिकित्सा (Massage Therapy) — अध्याह प्राकृतिक चिकित्सा का महत्वपूर्ण भाग है। अभ्यङ्ग या नर्दन से यात रोग (Neurological disorders) दूर होते हैं। अभ्यङ्ग से एक व्यक्ति को दूसरे में उप्पा, ऊर्जा, स्वास्थ्य या जीवनशक्ति दूर कर सकता है, जिसमें मुद्राओं द्वारा हैं, एक संचरण यद्यपि है, एक के संतान (W.B.C.) भी बढ़ते हैं या जीवनशक्ति (Immunity) बढ़ती है। चिकित्साओं में विशेष रूप रूपरूप में आज निकलते हैं। अभ्यङ्ग से Endorphins नामक एसायिनिक तत्त्व हासिर में बढ़ते हैं एवं स्नासास्थ उत्तम बनता है। अभ्यङ्ग से शूल, तनाव भी दूर होता है अभ्यङ्ग के मुद्देशः निन्द्रा औं भूषा होते हैं—

- (i) लिप्त या आई अध्यक्ष—इसमें अनेक प्रकार के तैलों का प्रयोग करते हैं।
 (ii) रुक्ष या गुरुक अध्यक्ष—इसमें सूखे व रुक्ष पदार्थों से मर्दन किया जाता है।

अध्यक्ष के अन्य प्रकार

 - (i) उद्यवर्तन (Applying paste)—इसमें उद्यटन सामान कर अध्ययन करते हैं।
 - (ii) उद्धर्यण (Rubbling)—इसमें राढ़कर अध्यक्ष किया जाता है।
 - (iii) धपधरणा (Tapping)—पच्चों को धीर-धीर चोगलता से धपधरणा करते हैं।

.....**स्ट्रोकिंग** (Stroking)—ठाठा गूँगने के समान अभ्यास कराएँ।

(iv) भारना (Beating)—मुँही बीचकर चीट आदि पर मारना।

(vi) अप्पन (Vibrating) — यिंगें पकाएं की हल्दी-तुँडी अथवा भिकिसा द्वितीय निकिटारक गोणी के गर्भ में हड्डें हाथ वे कमज़ दूर अप्पन रहता है।

दुर्बल आणखी चिकित्सा मे प्रौढा दग्ध (Neck pain), चॅक्यून (Backache), सूंध गोळ (Arthritis), सौंध (Sprain), नुस्का (Numbness), व्याप्ति (Paralysis), शैवाली (Sciatica) आणि गोळ दग्ध हो यावती ही।

**अच्छी तिरेप—फ्रैक्चर (Fracture), खोट, दाढ़, गोद की ब्रह्मणा व शर्करासदा
वे प्रथम त्रिमास (1st Trimester of pregnancy) में फ्रैक्चर नहीं करते जाते।**

6. उपवास परिकल्पना (Fasting Therapy) — अधिकारी जगदे ने इस उपवास के दरम पेटों के अंतर्गत 'डक्साल' परिकल्पना का प्रस्तुत किया है। डक्साल का वैज्ञानिक मूर्ख है 'योग्यता नियाम' अर्थात् दुखों का कौटुम्बन यह दुखों के संबंध में नियम करता ही उपवास है। यह एक धृति भी है। ऐसे उपवास परिकल्पना के अंतर्गत 'उपवास' करने को कहा गया है। उपवास तुष्णीवास, न्यूरोनियास, लापवास, चेटेवास, कांक व आपादैपर है। उपवास से जटिलताएँ जाननावानु को दूरी देती है। दूर नह होती है पर्यंत इसका बाहा ही धैर्यिक नहीं है। उपवास के लिए यह लोगों के—

- (i) सबल उपचार
 - (ii) निर्जल उपचार
 - (iii) निरहार उपचार
 - (iv) फलाहार उपचार

फलाहार में मुनज्जा, किलानिया, अंगोर, नीरियत, रिम्पु, सोरार, सेव, प्रसाद, चम्पाया, अमृत, चीकू आदि फलों का इयोग करते हैं। यह तथ्य जाता है कि उच्चांकन व गौचरांकन अमृत, चीकू आदि फलों का इयोग करते हैं। यह तथ्य जाता है कि उच्चांकन व गौचरांकन अमृत, चीकू आदि फलों का इयोग करते हैं। यह तथ्य जाता है कि उच्चांकन व गौचरांकन अमृत, चीकू आदि फलों का इयोग करते हैं। यह तथ्य जाता है कि उच्चांकन व गौचरांकन अमृत, चीकू आदि फलों का इयोग करते हैं।

कारनी चाहिए। उन्हें वनस्पतियादा या फलसार ही है।

ગુપ્તામ કે દીશાન સારાપજન પાહાનીય હાઈ

१. दौत य सरकार राष्ट्रान् में हों।
 २. एकोनोमिक कों।
 ३. औन था भारत कों।
 ४. बनकावन (गायत्री भृत आदि) हों।
 ५. शास-प्रशास पर नियन्त्रण वत्र प्राणाणाम अभ्यास कों।
 ६. दिव्यान्याय न करों।
 ७. राजीविक य सार्वजनिक क्रांति से चर्चों।
 ८. जोध, ईच्छा, दैव गो तु रहों।
 ९. उनाव य अवसरद से चर्चों।
 १०. प्रस्तुतियां हों।

उपचास के साथ-उपचास से संहारण जन्म रोगों (फक्कज य उम्रमत्र रोग) में साध होता है। जब की प्राणिक अवस्था में भी उपचास (लंघन) कराने से आप दोष चापन होता है। उपचास में विश्व तुर दोष सम होते हैं। स्थीर्य, मधुमेही, मैदोरोग, आमचात, रक्तांशुर, इन्द्रिय रोग आदि में उपचास चिकित्सा से साध हो सकता है।

दृष्टिकोण नियेत्र—कुरा-दुर्घट शोगी, राजव्यक्षमा, क्षत्रज्ञीप, कृष्णपुमेही, भास्यक शंखे ने दृष्टिकोण, गर्भिको, बुद्ध, चालक आदि में दृष्टिकोण तकी फूलाव चारी।

३. यन्त्रानी ये तिलिजि घटकित्वा मन्दत्वि (Unseen & Visible Manodharma)

विष की नमूने पारस्परिक विकिता पढ़तियों से जो पौलिक सम्बन्ध है। कुछ विद्वान् व चिकित्सा के प्रकार ऐसे हैं जो सामान्य प्रत्याने-अवश्योन पद्धतियों में निलंबित हैं। यूनान व भारतवर्ष की विकिता परिक सम्बन्ध है। और (यूनानी) विकिता पढ़ती अप्पुनि विश्वासीन व्यवहार में दूनान व झटत में पारस्परिता है। विद्वान् इक-इसरे के दोनों को यात्रावै क्षमता में दूनान ने खाल अवश्यकन होता था। इसके बहुत से दूनान दोनों के द्वारा निकल विकिताकर प्रभावित दोनों दोनों में घनिह मध्यम स्थापित हुए। गिक्को वायर्कुलानता से प्रभावित होपर अपनी विकिता भी नियुक्त ही और कुछ दोनों को गवर्द्धन भी से गया। चमीरिया और फलस दोनों दोनों में थे। अनेक यूनान वा प्रचलन रहे गया। दोष गिक्को वृत्त, अर्द्ध विकार, विकान आई विषय दोनों गवर्द्धन।

यूनानी या आप्युर्वेद चिकित्सा पद्धतियों में मनवताप्य—यूनानी चिकित्सा पद्धति के विद्वान् आप्युर्वेद के विद्वानों के ही अनुग्रह है। यूनानी चिकित्सा का सून अप्युर्वेद ही है एवं आप्युर्वेद के विद्वानों के आपात पार ही यूनानी चिकित्सा के विद्वान् वर्गित किये जाते हैं। यूनानी और आप्युर्वेदिक चिकित्सा पद्धतियों में निम्न बहुत मनमत्त्व है—

१. भीतिक मिट्टीत - दूराती दार्यालिङ्क चमुचमू (दूर-भीति-चमु-चमू) का निदान भावन है। अनुरोद में एकमहामृत (आकाश-चमु-भीति-दूर-चमू), जो निदान सर्वभावना है। यसमें प्राह्मण्यमूर्ति में भी 'अकाश' मिट्टी व्यवहर होने के कानून द्वारा महामृतों में ही भीतिकाल या गर्वतिकाल होता है। यसके प्राप्त उत्तराय तत्त्व को भी स्वीकार कर पश्चात्य व्योगता किया गया है। प्राह्मण्यमूर्ति चमू या चमू ऐसे स्थान था। उस स्थान पूर्णतः अनुरोदाय दूरभाव या दूरीका अनुरोद में दूराती दार्या पर्याप्त की अवधारणा नाय है। इसके बिंदु विद्युतिकाल अधिकरण है।

चतुर्थ से यानि चारों पक्ष का विद्धीत पौ दूनाती विशेष बनते हैं। उनमें एक से कफ (Phlegm), रक (Blood), निन (Yellow bile) और यां (Black bile) वे चार दोष हैं। आपूर्व में यल-निन-कफ वे विशेष बनते रहते हैं, यद्यपि आपूर्व में ऐसा गत्त मालालय (विहोपकर आवार्द डल्लन) के लिए 'रक' और चारों दोष बनते हैं।

दोपों की सामग्रीमय से व्यवस्था लाता चिकित्सा में दो उत्तर होते हैं। एक दूसरी चिकित्सा पद्धति का एक प्रमुख लिंग है जो अनुचित के निष्ठाते से दूर रहता है।

प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्ट्रु ने चरकोने (सम्बाद प्रवर्तन के नियम) का विवेषण हप से बताया है जो छात्रवृत्ति चरकोने यादवार्णे के 44 पदों से संबंधित रहते हैं।

2. विकृति या सोष विज्ञान—दूसरी त्रै में विकृति विज्ञान में दूसरी के अपरिहक 'आगमदोष' को लक्ष्य रखा गया है। यह कौं उत्तराधिकार, रचनाधिकार, चक्राधिकार साथी गुण हैं जो आगमदोष उत्तराधिकार हैं।

भी परामर्श में दोनों को अवृत्ति, व्यक्ति, दैर्घ्य कानून ग्रन्त करना है। अग्रह (पूर्ण दूसरे लेखन) लिखन में स्वयं 1. दोनों ले लिया है। दोनों को उल्लंघन का विवरण ग्रन्त करना चाहिए वह अवृत्ति व पूर्ण दोनों में बहुत भी दिया है। 2 (Code & Conducts), विधायक और व्यापारीमंडल व्यवस्था लिया गया है।

भी प्रोफेशन में देखे को अप्रृष्ट, शक्ति, देव कान जाहां के समान है। अग्रिम (मूल भूमिका लेखन) विद्यालय में समान 1. देखे के लिए है। रोज़े को जाहांत का विद्युत गतिशील पर अनुरूप व पूर्णांग देखे के बहुत ज़ीरा दिया है। 2 (Code & Conducts), विद्यालय और गवर्नरीम व्यवस्थाएँ किया गया है।

हिन्दूओं से रोग का जन्म गाना है। आचार्य चारक ने जनपदोधर्मी प्रकाश में इनका उल्लंघन किया है। हिन्दूओं के द्वारा प्रमुख आचार विधान (Oaths) आत्मोदेश ग्रन्थ व अथर्व वर हो हैं।

4. दृष्ट्यागुण सम्बन्धी—हिन्दूओं के गोटेरिया भैडिका (निषाद) एवं उद्धव-नामी (उद्धवानामी), जिङ्गोबेर (शुभो-गाहानक), पिपर निशम (पिण्डली व गाहान), देवतिम रिक (रिप्ली नूल), बोसरस (बूल), सफलन (रार्का) और शब्द गाहान-दानों के हो रहाने हैं। पाइक्स इन्डिका नामक औपचार्य में 'इन्हिया' शब्द का बोध होता है। भारत से बूद्ध जानेवालों अन्य वस्तुएँ हस्तिदत्त, स्वर्ण, रत, चन्दन, भौंर आदि भी, शब्दत व शुद्धका का वर्णन अलग से है।

5. क्षाराच्छिकित्सा सम्बन्धी—रोग के विपरीत गुण वाली (व्याप्ति-विपरीत) और्जीपत्रों के प्रयोग से रोगों का संशोधन दोनों ही मानते हैं। गोलेरिया (विषम ज्ञा) व अन्य-मुक्त, दूतायक व चतुर्थक प्रकार, खब, पाण्डु में मुदुभक्षण जन्म पाण्डु दोनों पद्धतियों में समान है। औरध के रूप में अध्यात्म आरोग्य की समृद्धि के लिए शुक्रियुक्त ऊंगा से प्रयोग का इच्छाप करना दोनों पद्धतियों के उचित माना है। चिकित्सा में उपचार (लेपन), संसर्जन, संस्करण, दैवत्याक्राय विधिकित्सा, देवोपासना, पथ्यापल्य ज्वरस्था दोनों विचारज्ञाओं में समान है।

6. प्रसूति व भूषण सम्बन्धी—गर्भ के प्रत्येक अंग की एक ही साथ उत्तरी लकड़ीकर वाली गयी है। शुक्र के विभाजन से युग्म उत्तरी (Twins), युग्म सन्तान का शरीर के द्विहिन भाग से य लाली सन्तान का वाम भाग से सम्बन्ध बताया गया है। अष्टम मास का नर्भ द्वितीय वाला उत्तर सन्तान मास की गर्भ क्षीणायु कहा गया है। मूँहगर्भ व नृतांग को निकालने के सम्बन्ध उत्तर दोनों पद्धतियों में वर्णित हैं।

7. शत्र्यु सम्बन्धी—जलोदर (Ascites) रोग में वाष्पकुशि का व्यधन कर उदक निकालने का विधान दोनों विधाओं में समान है। अस्परी (पथरी) रोग में दोनों में समान शत्र्यकर्म वर्णित है। अन्य रोग चिकित्सा में भी शत्र्य कर्म का उल्लेख है। इष्टके अद्वितीय रक्तमोत्तरण, अग्निकर्म, जलीकावचरण भी समान हैं। अनेक यन्त्रों-शास्त्रों का वर्णन भी समान है।

8. श्वासाक्षय सम्बन्धी—लिङ्गनाश (Cataract) का शास्त्रकर्म दोनों पद्धतियों में समान है। नेत्र के शत्र्यकर्म के समय दक्षिण नेत्र के लिये यामुहस्त का प्रयोग तथा वामनेत्र के लिये दक्षिण हस्त का प्रयोग बताया है। आपुर्वेद में दनतरोगों की उत्तरांति पिता दोष से मानी गयी है। हिन्दूओं के दनामूलशाश्वत व दनत्वेष्टन रोगों को पितादोषव माना है। हिन्दूओं के मुख्योर्ध्वकाशक औपचार्य के नाम या उत्तरेण्य भारतीय औपचार्य (Indian Medicament) शब्द से किया है।

9. अगद तत्त्व व विष सम्बन्धी—सर्वविष सम्बन्धी चिकित्सा का वर्णन दोनों

विधाओं में माना है।

यूनानी चिकित्सा पद्धति के सामान्य सिद्धान्त

यूनानी चिकित्सा पद्धति के सिद्धान्त को "सत चर्चाले" (इह अवश्यक विषय) कहा जाता है। जो निन व्रक्त है—

1) याम्

यामों के लिये अवश्यक वस्तुओं में याम् पक है। उत्तर याम् वह है जिसमें चुहार (पूल-गांड़ी) व युआँ न जिला हो।

याम् हर श्वतु में बदलता है। याम् निन चार है—

(अ) सैक (ग्रीष्म) (ब) नक्त (रोट)

(ब) चरोक (द) रोज़े

हकीनों के विचार में चरोक व रोज़े डेढ़-डेढ़ महीने को य सैक (ग्रीष्म), नक्त (शीत) साथे चार-साथे चार नहीं को होती है।

II) आहार एवं चानपद्धन

यूनानी में गेहूँ, चावल, चान, सूखे, जी, नमूद, अलह, फल, चुक्कर, चोड़, चट्ठ, साला, कोदों का वर्णन है। अलोप्यका ने उत्तर चाने के बजाए खेजने वे अपिकला में घढ़कर कोई खारेव नहीं है। बहुत ने उत्तर के दोन देट के भैं रहने (अलोप्यान) से उत्तर घोड़े होते हैं। सांस का विलूप्त बनते हैं। चुनां, दीदार, ताम, चिंकिंदा, चक्कर एवं चान उत्तम माना है। चीनायों में चक्कर, भेड़, देष्ट, इत्येवं विद्युत्तर इनके दबदों का संस्कृत उत्तम उत्तम माना है। हरिण के मांस में गांड़ी अविकल है। बद्दों का उत्तम उत्तम बनता है। धेजन उत्तम कर्म के है। 2-3 पट्टी चाद यानी चोप अच्छा है। धेजन के गत्तल बद्द चर्चा दोनों ढोक जड़ते हैं।

III) निन एवं चानपद्धन

चारों करवाट सेटांग धेजन दबाने वे हात्पकर हैं। यिन चारों दोनों हैं यह विषयी रखने दियता है। सोरो (ग्रहन-दुर्दृश्य) के लक्षण सोना बदला रेत करता है। भूष वै सोने रखने दियता है। सोने वै चानने में सम्पाद रखना उत्तम है। चारी की क्षीण करता है। भूष वै सोना बदला है। सोने वै चानने में सम्पाद रखना उत्तम है।

IV) वेगपात्रण एवं चेष्टानेश

पात्रण काले दोष शापकर क्षेत्रों को रोकता चाहते हैं एवं उत्तरवाहक घट-भूषादि, देष्टों को शारीर से चारी करना चाहते हैं। भूष वै प्रतिरोद्धर वे चार पद्म त्यागना चाहते हैं, यह आयोग्यता का गृहण है।

V) चानस भाव

चानस भाव, चिन्ह, इन सभी चानसिक विधियों में चारों पर भैं भाव, ग्रोप, इलाता, भूष, चिन्ह, इन सभी चानसिक विधियों में चारों पर भैं भाव

(स्नान) दिया होता है।

v) स्वास्थ्य व विकिरण

शरीर का हिस्ता, द्रुतना, घलना, फिला, रहस्या आदि गमी जाता है जो प्रभावों को विकासता है। अधिक विकास (आप-आहसन) से अवकाश होकर विकास (विकास) आदि होता है। चलते होने से भोजन गोला वा चबूतराम में जाता है। परिश्रम जाने वहाँ पर भोजन भी पथ जाता है। वह परिश्रम विकास समस्त शरीर के अंग पुर्ण रूप से बदल की 'कठिनिया' है। मैथुन कर्म भी एक स्वास्थ्यविकाश प्रयत्न है। जब युक्ति में वह उपस्थित हो और उच्चार स्वीकृत्या देते हों तो मैथुन करना चाहिये। काल और 'पीड़ियाँ' होना अवश्यक है। योर्स का किन्तु मनुष्य का जीवन है, उससे मनुष्य बत्पत्ति होता है, वह शरीर का बल है इसलिये इस व्यापूल्य योर्सी को कुर्सेगति में वर्धन नहीं करें। साथ ही वह दिन से अधिक रसी संपोरा न करें।

अन्य सिद्धान्त

(अ) स्नान (हम्माय)

रक्त प्रकृति (स्वभाव) छले को अधिक स्नान भना है। जबता, अतिरिक्त रोना, जातक, खूब लोट लग्दे जानी से स्नान न करायें। भोजन व सैकून के बाद स्नान करना विद्युद विकास भवा है। बहुत दिनों तक नहीं नहाने से शरीर गन्दा, भद्रा हो जाता है।

(ब) अध्यवस्था व जिल्लत (दोष)

मूर्गानों पद्धति में भी वाहार पाक परिश्रम स्वरूप दोषों की वर्तपति बतातायी है। ये दोष खून (रक्त), बल्नाम (फक या रलेम्या), भेफ्टा (पित्त), एवं सौदा (वायु) कहलाते हैं। मूर्गानों जानुसार आहार-पाक काल में आडार रस से जो फैल स्वरूप भाग ऊपर की ओंग आ जाता है वह सफ्टा (पित्त) है, जो तल में बैठ जाता है वह सौदा है, जो अनि (पाचन) की कमी से अधिकतम व अपवित्र रक्त जाता है वह खून (रक्त) है। इस प्रकार पद्धति में भाग दोषों की वर्तपति होने के बाद सफ्टा व सौदा दो भागों में बैठ जाते हैं, जिनमें कुछ भल्ला पित्ताशय में हथा कुछ सौदा प्लीहा में चला जाता है। वह सफ्टा व सौदा रक्त में पिलकर रक्तवाहिनी में चला जाता है परन्तु बल्नाम के लिये कोई जिल्ला आश्रय नहीं है वह यह दोषों निमनुसार है—

i) रक्त अध्यवस्था

मूर्गानों में रक्त को सर्वांग और प्रथम दोष भागा जाता है। यासी के सभी अध्यवस्था रक्त में पित्त होते हैं। रक्त में रक्त के उपादानों के साथ पीत (पित्त), कूच (सौदा-वायु) और खेत (स्लेषा) भी पाये जाते हैं जिनके साथी अनुकूल (Rheo) में रहने पर अतोरूप

विभिन्न विकिरण पद्धतियों के सामान्य सिद्धान्त

विषय होता है। जब इन अध्यवस्थाओं के युक्त और प्रमाण में अन्तर आ जाता है, तो सेहा उपर आ जाती है।

रक्त प्रकृति—रक्त दृष्टि व निष्पत्ति होता है। यह शरीर को दम्पा का भाव है। यह पोराग व जांबू घटकों की पूर्ति करता है। अनुओं को वृद्धि करता है। त्वचा वै औन्तं व कानिं पैदा करता है।

रक्त के प्रकार—प्राकृत व विकृत भेद से रक्त दो प्रकार जाहाज होता है—

- i) प्राकृत रक्त—इसे 'तज्ज्वर खून' कहते हैं। इसका दर्शन उपक्रम के द्वारा जौमा होता है, यह दुर्गम्य रहित, न अंत तक न सान्द और भयुत् व्यवहार करता होता है।
- ii) विकृत रक्त—इसे 'गैट्टुक्यांद्रून' भी कहा जाता है। इसके दर्शन व प्राकृत रक्त से भिन्न होता है। इसके गैंग अवन्द्रा (भेद) होते हैं जो दिन हैं—

(अ) दमे बल्नाम (स्लेषा दुःख रक्त)

(ब) दमे सौदादी (सौदापुङ्क रक्त)

(स) दमे रक्तादी (निचपुङ रक्त)

ii) बल्नाम अध्यवस्था

प्रकृति—यह शोष, स्निग्ध, खेत एवं लाद होता है। यह शरीर का दोरन, दिलापन, विज्ञालाला पैदा करता है। यह द्रुत, अत ड्राइवी, अव्यवस्था, चाल, चक्क, स्वास्थ्य, शास प्रणाली, कुपुङ्कुस, विकृत एवं गैट्टुक्यांद्रून अंदि के विकास (Mucus-membrane) को अचूपी से तर रखता है।

बल्नाम के प्रकार—प्राकृत और विकृत भेद से यह विन्यस दो इकाई वर्त पर होता है—

- i) प्राकृत बल्नाम—यह रक्त के साथ निता होता है। भूज तालने पर विकर्णी से पारिवत होकर रक्त बन जाता है। इसे ही 'बल्न दर्व' कहते हैं।
- ii) विकृत बल्नाम—यह रक्त में पौर्विक नहीं होता है या बल्निया व दैर से होता है। वैकृत होने पर यह नवर्णी, अस्त, बेल्वाद और कर्हेत्व होता है। इसे ही 'गैट्टुक्यांबल्नाम' कहते हैं।

भौतिक स्थिति अनुसार बल्नाम भेद

(अ) पलाला बल्नाम

(ब) गाढ़ा बल्नाम

(स) पश्चात् वा स्मृत बल्नाम

(द) आप वा कल्पा बल्नाम

सफ्टवर (इलेक्ट्रोनिक्स)

- i) वर्तमान हालांकारी
- ii) सतता असाधारणता
- iii) सतता सहायिता
- iv) सतता अद्वितीयता
- v) जल्दी या सततता इकाईयाँ
- vi) सफ्टवर अद्वितीयता

इसके प्रकार—इसके प्राकृत व विकृत में दो भेद होते हैं—

- i) प्राकृत सफ्टवर—या केशरिया वर्ण, लघु, तोशण, सूख्य, गुरु व अन्य हस्तक होता है। इसे 'हर्षवई सफ्टवर' भी कहते हैं।
- ii) विकृत सफ्टवर—इस के साथ जब कोई बाहरी पदार्थ मिल जाता है तब विकृत होना 'गैस्टरवई सफ्टवर' कहलाता है। यह घनीभूत कफ, फंडू, विद्रूप पदार्थ के साथ मिलता है।

सफ्टवर के (पिण्डज) रोग

- i) सफ्टवर अन्तर्कार-काव्यलय, गाढ़, हलोमक आदि
- ii) हस्तानुत काविद-प्रित्ताननदी
- iii) इसकंसर्वरी
- iv) बुच्चल शमिया
- v) लिंगहठ
- vi) काविद अप्लास
- vii) सफ्टवर अद्वितीयता

अनुरूप यद्युत्तमार धार्य (सौंदर्य), जो उत्तरवाहि प्रक्वाशय में होती है। यह आपने या खोला, होकर द्रव्यांग पृथक हो जाता है, और मल शोष रहता है उस समय कुछ ने दृष्टिहीन होने से खाया द्रव्य रहता होती है। यद्युत्तमारी यूनानी भत्तानुसार आहार रस के पाक के नाम पृथक, जैसे नक्काट को भीतृ नीचे खिल पदार्थ खो खाया कहा गया है। 'सौंदर्य' शब्द अप्लास का है तिनका अर्थ बाक्सा अथवा स्प्रेश है। यह धूमांग पित भी कहलाता है।

प्रकृति—या रोग या स्प्रेश होता है। यह रक्त को सान्द्र व वर्धित बनाता है।

विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों के सामान्य सिद्धान्त

का लोगण कहता है। युक्त सौंदर्य आपात्ताय में जाकर भूत्य बढ़ता है, पोंजन में रुचि वैद्यत होता है।

सौंदर्य के प्रकार—इसके निम्न दो भेद होते हैं—

- i) तवई सौंदर्य—यह सौंदर्य का मूल है, जो कि जूँहोंमें संचित होता है तथा बुद्धि ग्रामण में रक्त के साथ भ्रमण करता है।
- ii) गैर तवई सौंदर्य—सौंदर्य के जलने या रूप परिवर्तित हो जाने से विकृत सौंदर्य जन्म जाता है। इसके निम्न चार भेद हैं—

- (a) श्लैष्मविद्युत्य सौंदर्य-सौंदर्य बलामी
- (b) पित विद्युत्य सौंदर्य-सौंदर्य मक्कानी
- (c) रक्त विद्युत्य सौंदर्य-सौंदर्य दम्यो
- (d) सौंदर्य विद्युत्य सौंदर्य-सौंदर्य सौंदर्यवी

सौंदर्यवी (बातज) रोग

- i) वराज सौंदर्यवी
- ii) जल्दे सौंदर्यवी
- iii) सरलाल सौंदर्यवी
- iv) अक्क सौंदर्यवी
- v) सौंदर्यवी
- vi) अक्क सौंदर्यवी
- vii) अक्क सौंदर्यवी

जिन भूलों से शरीर का निर्माण होता है, वे जैसे जलस्तर निम्न होते हैं है किन्तु उनका अनुपात किसी व्यक्ति में सम और किसी में विवर्द्ध होता है। जब तभी ऐसे अनन्त भूलों में रहते हैं तो यह अस्ति जन्म इकृत होता है। यह या जौदा की अपेक्षा से सौंदर्यवी मिजाज, पित या सफ्टवर को आधिकता से तकरीबी मिजाज, जब या विद्रूप की अधिकता से बहनामी मिजाज व रक्त की अधिकता से रक्तरूपी या घूमी मिजाज कहलाता है।

प्रकृति (मिजाज) के भेद

यह निम्न दो प्रकार का होता है—

- (i) इमिजाज आजाज—जब दो या दो जैसे अधिक यद्युत्तम होते हैं तो उनके सम्बोधने पर उनके युग्मार्थ यद्याज्ञ बने होते हैं जो "इमिजाज आजाज" या प्रकृति सम सम्बोध कहलाता है।
- (ii) इमिजाज हक्कियो—जब एक इस प्रकार नहोता हो कि अन्ये (स्व) युग्मार्थ या स्माधार चरित्वांति का अन्य गुण धूम दृग्म कर सके हो यह "इमिजाज हक्कियो" अव्याप्त विकृति नियम सम्बोध कहलाता है।
- (d) उपरूप धोक्या (सोष-धातु-मल मिजाज)—जिन प्रकार अनुरूप में "दोष-धातु-मल गूहों में ही शोषण" कहकर इनकी शरीर का गूल अप्याय बनता है, उसे तार

यूनानी में उसके अधिकारी लिङ्गों में 'उपुत्र-मौलिक' का रखाग है।

जिन रूप आते हैं—

- i) अस्थान स्वास- (चमुर्भृत चार)
- ii) विजाब-गुण- (इकूति-स्वभाव)
- iii) अस्थान- (चमुर्भृत)
- iv) लाका-उद्दान इव (शरीर रक्षा)
- v) आवाह- (ओज)
- vi) कुपा व कुब्बत- (शक्ति या बल)
- vii) अस्थान-शरीर क्रिया विज्ञान

दर्शक में इष्ट, द्विष्ट, तृष्ट या क्रिया स्थूल घर्षण पूर्व में किया जा चुका है। अन्य रूप बदलने की विधि यह रहा है—

आज्ञा (शरीर-रक्षा विज्ञान)

इसके पै जिन दो भेद हैं—

(अ) आज्ञा सुखका-इसमें जिन रक्षायें आती हैं—

- | | |
|---------------------|--------------------------|
| i) जन्म (अंतिम) | ii) कुर्शी (तरलास्तिथ) |
| iii) अहव (न्यु) | iv) तुरु (कण्डरा) |
| v) विज्ञा (कला) | vi) लहम (मांस) |
| vii) गहरा (बल) | viii) समोफ (पलासी चर्चे) |
| ix) स्वदान (दूर्वा) | x) अविवरका (सिया) |
| xi) मूल्य (मर्या) | xii) लिकान |

(ब) आज्ञा मुखका-शरीर के समस्त अंगों या अववक आज्ञा मुखका बहारने की विद्य-व्यापार, बड़वा, चांद, पक्षवासाय, शुरुक, हृदय आदि।

अरवाह (ओज)

अरवाह को यूनानी में मनन धनुष्यें वह सारभूत सूक्ष्म अंश माना है, जो प्राण का भावर है। शरीर में रह का अस्तित्व इसी पर निर्भर है।

अरवाह के कार्य—यह व्यंग-प्रलंग को बल व ऊर्जा देता है। सर्वशरीर में स्थित, संज-चेहा और प्राण का संदर्भ करता है। यह प्राणशक्ति को समृद्ध बनाता है। मानसिक बल बढ़ाता है एवं शारीरिक बल की वृद्धि करता है।

अरवाह के भेद-इसके निष्ठ रूप भेद होते हैं—

- i) अरवाह अक्षमान्या
- ii) अरवाह ईमानियत
- iii) अरवाह गर्व

कुप्या-कुब्बत (शक्ति या बल)

शरीर के आहा या आध्यात्मा भाग में गवच्छ क्रियाओं का मनन एक अद्वैत शक्ति के हाता होता है उसे 'कुप्या' कहा जाता है।

कुब्बत के भेद—इसके जिन तीन भेद होते हैं—

- i) कुप्या तर्फ़ी
- ii) कुप्या गुरुर्विका
- iii) कुब्बत हैवानी

अफआल (शरीर क्रिया विज्ञान)

यूनानी में कर्म या क्रिया को 'केल' कहते हैं। अक्षमाल अस्थी चार के बीच रख का बहुवचन है। जो कुब्बत या बल से सम्प्रभ होती है उस क्रियाओं को 'केल' कहते हैं। जैसे-शोषण, उत्सर्जन, संचालन आदि।

(इ) यूनानी में गोगी परीक्षा

यूनानी चिकित्सा पद्धति में नाड़ी, मल, मूत्र परोंदा का बनने बहुदायत से निराकार है जो जिन प्रकार है—

(अ) नाड़ी परीक्षा

यूनानी भाषा में नाड़ी को 'नव्य' कहा जाता है। नव्य का जर्चे है—गिरा का गद्दफला। नाड़ी को चाल में, मनुष्य के प्रकृति, देह, काल, चम्पु, स्नान अद्वैत के बीच पित्रिता होती है। नाड़ी को गतियों जिन प्रकार है—

1. बल (सौदा) प्रकोप में गौब (लहर या दांग) को छाड़ चलने वाली 'दीदी' नाड़ी कहलाती है।
2. पित (सफारा) प्रकोप में धूग (हिरण) के बचे जैसे उछसकूद यहाँ कही 'गिजाली' है।
3. कफ (थलाय) या आप दोनों वै कृपि को छाड़ यहाँ यहाँ से चलने वाली नाड़ी 'दूरी' कहलाती है।
4. चीटी या मोर जैसे यादों गति गोप्य मूलु को सूचित करती है। यह 'उम्मो' गति है।
5. आरा ये सम्भव यादों 'विचारो' गति दोय वी अवस्था में विद्यती है।
6. गूणक यी पुष्प वी तरह जिन प्रकोप यादों नाड़ी 'ब्यालास' कहलाती है।
7. यह के नह झोने पर सहारा के आकर को गृह्य यादों 'महो' कहलाती है।
8. विशक्षण (सकारा प्रसाय) दोष यादों आदो यादि 'विशक्षण'

कहती है।

9. रक्तरूप (रुग्नी) जाही 'गुलिकरी' कहती है।
10. तब या कफ गुण यहाँ जाही 'मुन्धचिक्षा' कही गयी है।
11. साथ दुष्प को निवेद जाही को 'धानिमुल्पस्त' कहते हैं।

(ब) मत परीक्षा—मत भी आम या चिराम द्वारा तारा गत भाना गया है। अग्र नींद को प्रवर्णने के लिए 'मुन्धित्र' और पटी जाती है। तारामत्तात मल को आँखों से बाहर निकलने वाली दस्तावर इस 'मुन्धित्र' कहती है। 'तलीय' यह है जो चोड़ने वा अन्त में दिल्ले द्वारा मल को निकालती है। ईसविंगोल को भूली गर्भ मिजाज वालों को दूर करने में देने को कहा गया है। चिकित्सक के प्रशंसनी से ही 'मुन्धित्र' का प्रयोग करते।

(स) घूर परीक्षा (कालरा)—घूर परीक्षा को यूनानी में 'कालरा' परीक्षा कहा जाता है। दैत विन्दु दरोका का भी वर्णन मिलता है।

(द) फट्ट (रक्तोक्त्ता)

फट्ट सबस्त दोषों को निकालता है। यह 12 वर्ष को उम्र से 60 वर्ष के बीच से करना चाहिये।

इन इकाइयों में स्थानीय चिकित्सा पद्धति के सामान्य पिण्डान्त व चिकित्सा लिद्दान्त आमुर्वेद के सिद्धान्तों से मेल खाते हैं। दोनों चिकित्सा पद्धतियों में अनेक समानताएँ हैं। यूनानी तीव्र चिकित्सा पद्धति का विकास विवेचन अध्येताओं ने इन्हें नव्वीनत अन्य द्रव्यों में अवलोकन करना चाहिये।

4. सिद्ध चिकित्सा पद्धति (Siddha Medicine)

रस शास्त्र के उच्चकार्य काल (मध्यकाल-प्रवृत्ती से 16वीं शताब्दी) में सिद्ध समाप्ताय का द्रव्य हुआ। सिद्ध चिकित्सा पद्धति के सभी ग्रन्थ 'तमिल भाषा' में लिखे हुये हैं। शीर्ष सम्प्रदाय के लिद्दों ने कई रसशास्त्रीय औपचारिक बनाकर इस प्रणाली को समृद्ध किया है।

(अ) दैर्घ्य सम्पत् सिद्ध—ये सांसारिक वस्तुओं से मुक्त होकर मोक्षमार्ग में लगा रहते हैं।

(ब) आसुरी सम्पत् सिद्ध—ये मांस, मदिरा वा सेवन कर रसायन में मुर्दे पा वैटकर मन्त्र-ठन्न-जाप से मिद्दियों प्राप्त करते हैं।

(स) औषध सम्पत् सिद्ध—औषध की सहायता से जो सिद्धी मिलती है जैसे-पारद आदि।

उपर्युक्त में से आसुरी सिद्ध पारद से स्वर्ण यनाने में (निम्न भातु को उच्च ग्रन्थि-स्वर्ण, रक्त में बदलने), गन्धया से तैल निकालने में, पारद की गुटिया बनाने

आकाश में उड़ने आदि चालाक या आशय जनक वायों में लगे रहें। अग्र ये पूर्ण 'सिद्ध' कहानाने सारे। आगे चलका यह रम्यैथ, सिद्धैथ कहानाने वायों वा उनके द्वारा प्रचारित चिकित्सा पद्धति भी 'सिद्ध चिकित्सा' कहानाने सारे। दीक्षिण भारतीय ग्रन्थ गवितच्छु में इस पद्धति का प्रचार-प्रसार अधिक है।

सिद्ध

रसायन में 84 सिद्धों का वर्णन मिलता है। लगान्तुन की समानता का उपर्युक्त आशय भाना गया है। अन्य सिद्धों में गोरखनाय, नरवेदनाय, अमादि, लग्नोंथि, लग्नान आदि ग्रीसिद्ध हैं। इस प्रणाली का काल 6वीं शताब्दी से 16वीं शताब्दी (नम्बकल) भाना जाता है।

सिद्धों का प्रयोगन

सिद्धों के निम्न दो प्रयोगन यन्ति हैं—

(अ) देहसिद्धि—पारद के द्वारा रातों को नियन्त्रक करके उग्र, दृग्मुद्रा कर अजर-अमर भाना ही देहसिद्धि है।

(ब) लौह-सिद्धि—लौह धातुओं से स्वर्ण आदि उच्चकृत धातु बनाता ही है सिद्धि है। इसे ही भालुवाद कहा जाता है। क्षानक द्रव्य में इसे 'बलेनस्त्रीटी' कहा है। कीमिया शब्द रसायन (Chemistry) से बना है।

रस चिकित्सा की विशेषता—अल्पन्दात्रा में उच्चुक होने से (Low Dose), अस्विकरन होने से (Palatable) एवं शोषण लाभकारी (Quick Action) होने से बनकर रस चिकित्सा शोषण हो प्रसिद्ध हुयी है।

रस द्रव्य एवं उनके भास्त्रों न दोष को, न दूष को, न देता को, न करता की और न ही रोगी की अपेक्षा करती है। अयोद्धा रस इन्हों का प्रयोग उच्चुक सर्पे पर्याप्त खनों की परीक्षा किये जिना ही किया जा सकता है और जलान्तर संस्करण भी मिलती है।

सिद्ध चिकित्सा अवतारण

सिद्ध चिकित्सा का प्रमुख आधार रस चिकित्सा है। इसके अद्वैत भव्यता वहाँवा शिव से प्रवर्तित है। शिव ने पार्वती को, पार्वती ने नदींका झो, नदींका ने पर्याप्त रूप से प्रसिद्ध किया है।

1. ए च रागान्त्रे द्वारुक्षेत्रेन्द्रि यन्त्रः देवैथ द्वय दुर्वैर ग्रन्थ एवेत्तद्वयः। (संस्कृत लिख)

2. ग्रन्थप्राप्तेवेत्तद्वय एवेत्तद्वयः। विवेच्य एवेत्तद्वयेवेत्तद्वयः। (संस्कृत लिख 1-4)

3. ग देवान् न देवान्तं प दृष्ट्वा शोहन्तः। १ देवान् १ देवान् नामै एवेत्तद्वयः। (संस्कृत लिख 4-29)

- मिठ्ठे को 'सिद्धीकरण' का उपदेश दिया। आगे चतुर्वाहा गह मिठ्ठोग। खानों में भी गहा।
- चाट को शिल्पीर्थ व गवाक वो पार्वीरीज़; गांगा गहा है। अतः चाट को एकाय कर मिठ्ठ करने के लिए में 'सिद्धीविकल्प' गहोभूत गुणी।
- सिद्ध विकिता पद्धति के गांगारभूत विकल्प**
- विषय व इकिता को शुहीदरक भाना गया है एवं विषय को देख। (M. 1)
 - शक्ति का ऊर्जा (Energy) प्रकारों है। संसार में पापे जाने वाले तो कठोर (Solid), द्रव (Fluid), गौण (Gas), और (Fader) ईश (God) प्रत्येक पद्धति में विद्यमान हैं। मनुष्य के दोनों दोनों दान्धारीक भानी हैं।
 - मिठ्ठ प्रकल्पों में भी आयुर्वेद की ताह विद्यो-सामधारु-विषयता गाने वाली में रख की सहयोग गहा गया है।
 - दोनों को अविकृतवस्था में स्वास्थ्य एवं दोनों की विकृतवस्था में राम भानी गयी है।
 - सिद्ध विकिता का मुख्य उद्देश्य "मुक्त होना" है। अतः दोनों को त्वक्य-मुद्रुओं व्यक्त की गयी क्रिकिया से मुक्ति पथ पर ले जाका गुरु लक्ष्य है।
 - सिद्ध विकिता में धातु व खनियों के औषध योगों का विशेष प्रक्रिया है।
 - आयुर्वेद के समान ही रस-गुण-वीर्य-विषयक-प्रधान का वर्णन है।
 - औषध द्रव्यों में लवण (Appu-Lorunam), गांशण (Pashenam), लशम (Lesham), रस (Rasam), उपरस और गवाक (Gandhakam) एवं विशेष प्रयोग होता है।
 - चाट व गवाक के पित्रण (कञ्जली) को कट्टी (Kalli) पा काळ (Kajal) कहते हैं। आयुर्वेद व सिद्ध दोनों पद्धतियों में चाट-गवाक व योगों व उपयोग उद्दृढ़ा से वर्णित हैं।
 - सिद्ध पद्धति में गन-उपरस्तों में प्रवाहत, मुखा, वैदुर्य, वज्र, मुम्राग, मार्णिन, पन्ना, चौलाय, गोमेद, घजार्या, वैक्रमन, स्फटिक और हार्षणिक का योग विलेपन होता है।
 - इव्य गुण के अन्तर्गत 85 प्रवत्ति के जानाय इत्यर्थों का वर्णन है विशेष गति, हरिण, अदि से यद्य इव्य दिखे जाते हैं। आयुर्वेद में भाष्य, धोर, धूत, तिर,

- गहा, भवा जाटि को जाहूम इव्य बताया गया है।
- मनुष्य, चूर्ण, भासा, गुण-दीत, भेंग आदि बहुताये वर्णित हैं।
 - मिठान गही दृष्टि से अद्विष्य परोद्या में जाड़ी, नूत्र, नून, विद्वा, शब्द, स्वर्ण, दृष्टि, आङ्गूष्ठि जा वर्णन है।
 - आयुर्वेद से भिन्नताएं
 - सिद्ध विकिता में व्यक्तिगत स्थान्य रक्त के लिये औषध प्रयोग से अधिक शोधन या बहु दिया गया है।
 - सिद्ध विकिता में मनुष्य की आयु को निन्द गैरि भानों में वीटा गया है—
 - आल्यावस्था—यह पूर्ण आयु का 1/3 भाग है। इसमें वायु की अधिकता रहती है।
 - चुच्चावस्था—यह पूर्ण आयु का 1/3 भाग होता है। इसमें निन्द दोष की अधिकता होती है।
 - युद्धावस्था—यह भी पूर्ण आयु का 1/3 भाग है। इसमें कफ की गृहिणी होती है।

इसके विपरीत आयुर्वेद में बाल्यावस्था में कफ एवं युद्धावस्था में बात दोष की प्रधानता मानी गयी है। सिद्ध दोनों जा मत है कि बाल्यावस्था में शरीर संवर्धन के लिये अंग-प्रदृष्टियों की अधिकता जारी बरता पड़ता है और यह नक्कास वायु द्वारा ही संचालित होता है अतः बाल्यावस्था में यानु जो प्रधानता होती है। युद्धावस्था में शरीर की क्रियावें मन्द पड़ जाती है, अतः कफ कुर्दि परिलक्षित है।

 - प्राणायाम का विशेष नहत्व बहुता गया है एवं वय विधि बाल्यावस्था करने से चुकाये में भी बीच दिखता है।
 - धीण शारीर का लोचन और जुँड़ स्वास्थ्य प्राप्ति कर विलृप्त बनने है।
 - अल्पाहा जीवी दोष जीवन का सोनान बजाया गया है।
 - आयुर्वेद में प्रमुख रूप से औद्योग्य-दृष्टियों (वर्षमासि, यावत्यावस्थ, धोरद, और लक्ष्य) का विकिता में प्रयोग किया जाता है। धोरद, धायु, पस्त, रस, रसायन एवं जानाय इत्यर्थों का भी प्रयोग है। जबकि सिद्ध विकिता चाहों में वानस्पतियों को अवैश्य द्वारा विकास, धायु, रस और विधि का एनुष्ठान से प्रयोग होता है। अतः स्पृष्ट है कि सिद्ध विकिता भाष्य-वर्णिय-रस प्रधान विकिता पद्धति है।
 - भास्म विशेष विकिता में स्वास को भावना व सुट (अर्थात् भेंग) का प्रयोग

वायु-चिकित्सा

- नहीं होता है। सिद्ध वर वैद्य नमक मध्य रोगी विषये गये । १। प्रधेय देवता भास्म बदले हैं। यह शिक्षणीय द्रव्य भस्मों का निषांग रूप है। इस द्रव्य को जूयनियर (Juva Neer) कहते हैं। देता है। इस द्रव्य को उपचार (Rejuvenation) नहीं जाना है। ये औषधियों निम्न हैं—आमलकी, गुडग्नी, स्वर्ण भस्म, घारद जैव गोबि।
८. कायाकल्प-रसायन युग चाही औषधियों के प्रयोग से शरीर जो अवृद्धि दोषोंवाले बनता है। जिसे कायाकल्प (Rejuvenation) नहीं जाना है। ये औषधियों निम्न हैं—आमलकी, गुडग्नी, स्वर्ण भस्म, घारद जैव गोबि।
 ९. शूल चिकित्सा के अन्वर्तन के बहुत विद्वापि के भेदन, शौधन एवं रोपण कम का बदलता है। यथा काल में दशिं भास्म में जैन धर्म का प्रचार-प्रसार होने के कारण अहिंसा को हो दरम धर्म भास्म जाता था। इसलिये भृष्टकाल में शूल विद्या का हास हुआ। कुछ परवर्षणात परिवार-सुख रूप से अधिक औदृष्ट-विद्याने लोग चिकित्सा करते हैं। कुछ लोग युद्धभूमि गर्भीय वर्षों के भृष्टकाल करते हैं।
 १०. तिढ़ चिकित्सा प्रणाली में बात रोग (Paediatrics) को बालचिकित्सा, शैलाक्षण्य (Ophthalmology) को नृपति चिकित्सा, रसायन (Rejuvenation) को कायाकल्प, ज्वान तत्त्व (Toxicology) को नैनमूद कहा जाता है।
 ११. सोन छिद्रान्त का भी बर्जन निलंबित है।

इस प्रकार यह स्टॉट है कि सिद्ध चिकित्सा पद्धति रस-भस्म-खनिज प्रधान चिकित्सा पद्धति है। इस प्रणाली का विवास १८ तिदों ने किया है। 'अगस्तर' इस प्रणाली का दूषित नाम है। यह प्रणाली रोग की अवृद्धि रोगी, प्रकृति, देश, मौसम, ड्रग, लिहू, जाति, मानव स्थिति, नियाम स्थान, पर्यावरण आदि पर भी ध्यान देती है। रोग की अवृद्धि रोगों पर अधिक ध्यान दिया जाता है।

५. होमियोपैथी चिकित्सा पद्धति (Homeopathy)

होमियोपैथी शब्द Homeo एवं Pathy इन दो शब्दों से बना है। इसका अर्थ होता है—समान से समान का शमन। सत्रहवीं शताब्दी में डाक्टर क्रिक्षिप्पन फेडरिक सेम्युअल हेनरीन नायक जर्मन चिकित्सक ने इस चिकित्सा पद्धति का अधिकार किया। इस पद्धति का सामान्य निषांग यह है कि शरीर में जिस तात्त्व की अविकल्पना से कोई रोग होता है, उसी तत्व की कम मात्रा रोगी को देने से रोग शमन होता है। यही समान से शमन की चिकित्सा है। भारत में सन् १८८९ में लाहौर के राजा रणजीत सिंह के खास डाक्टर हानिन वर्गी आये थे तभी से यह पद्धति हमारे देश में प्रचलित हुयी।

सम: समं शामयति (Semilia, Simillibus, Curentur)

यह होमियोपैथी चिकित्सा पद्धति का सर्वामान्य सामान्य निषांग है। आयुर्वेद में

विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों के सामान्य निषांग

इसे 'विवास विवासीयधम्' कहा गया है अर्थात् विष में विष की विवरणा करना। आचार्य चक्रवर्णन ने उपराम (वायरप) के १८ भेद विवरण दिये हैं। उनमें से हेतुविवरीतार्थकारी उपराम का प्रकार इसी निषांग में देखा गया जाता है। इस उपराम में औषध रोगजनक कारण या हेतु (Cause) के समान प्रतीक होता है, जिन् दो वस्तुओं में रोगजनक न होकर रोगजनक होती है। यह निषांग निश्चित है कि उपराम हुआ भाजुवैयाम्य अवृद्धि नहीं हो जाता, क्योंकि उपराम द्रव्य को बाहर निकालने के निमित्त ही रासायनिक अर्निक्याकृप योग्यों की उपराम होती है। धातुवैयाम्य के स्वयं नहीं होने में अधिक समय की अवैश्यक जाय-जाय उपराम होने का भी भय रहता है। अतः व्यापि योगी समान करने के उपराम में अधिक है उपराम के लिये निराम या हेतु के समान द्रव्यों का प्रयोग करना जाता है। यही नृप हेतु विवरण दिया जाता है। इस पद्धति में अधिक में रोग को दृष्टि रोग दोषों या कारणों का निहरण हो जाने से रोग भी गाल हो जाता है। इनके विवरण द्वारा 'देलोपैथी' चिकित्सा पद्धति कार्य करती है। होमियोपैथी चिकित्सा में विभिन्न वैद्यकीय वायरस्टाटिक औषधियों के साल (Mother Tincture or Extracts) के नृप (Alcohol) का आधार बनाकर द्रव रूप में रासायनिक औदृष्ट-द्रौतिलोगी (Pills) में निकाल दिया जाता है। अतः औषध की मात्रा का भाजन रखना बहुत अवश्यक है, स्वयं ही रघ्य पालन (प्याज, लशून, सुगन्धित इव्व निषेध) भी कराना जाता है। आवश्यक इस चिकित्सा पद्धति का प्रचार-प्रतार अधिक हो रहा है। भारत में नैनमूद बैलन उपराम में इसका प्रचलन अधिक है।

६. आधुनिक चिकित्सा पद्धति (Allopathy)

इसे व्याधि विपरीत मा लक्षण प्रत्यनोक चिकित्सा कहते हैं। इस चिकित्सा पद्धति के अनुसार भातु वैष्यकीय की प्रत्याग्या अवश्यक चलते रहने पर भी उसके विवरण करने का आधारन कर दिया जाता है। व्याधि इस पद्धति से भातु वैष्यकीय की विवरण करना दुक्षर है परन्तु धातुवैयाम्य की गति को कम किया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय इसमें भी वैष्यकीय अवश्य होता है। आधुनिक चिकित्सा पद्धति लक्षणीय रूप (Symptomatic) चिकित्सा है। जब सम्पूर्णता विकृति विषय समवेत (जाल के अन्तर्गत) प्रकर को होती है तो योग के उपराम रोधन या शमन किया जाता है। इस निषांग के अनुरूप आवश्यक रूप सामान्य अविकल्पना (Antidiarrhoeal) औषध का उपयोग किया जाता है। जब सम्पूर्णता विषय (Worm Infestation) में विडंग, पाण्डु में लौह या बदू का उपयोग किया जाता है। आधुनिक चिकित्सा पद्धति व्याधि विपरीत उपराम है। इसका प्रयोग व्याधि विवरण या दात्याधिक चिकित्सा के रूप में किया जाता है।

आगुणिक चिकित्सा पद्धति के साथ

1. रोग वा लोगात्मा (Acute Conditions) में हिपकरी है।
2. रोग वा रोगों के दोष-दूष-प्रकृति, देश-वाल आदि जो अधिक है।
3. उपल गत्य चिकित्सा के कारण शल्यसाम्य रोग टीक होते हैं।
4. बैटापूल (Germ Theory) के अनुसार विरोधी (Anti) और विरोधी (Antibiotic), व्यायाम रोधी (Antiviral), विरोधी (Antihelminthics) आदि लाभदायक हैं।
5. औषध देने के विवरण (Various Routes of Drug Administration) उपयोग किये जाते हैं।
6. मूर्च्छन्त्वा में सहायता उपचार किया जाता है।
7. दृष्टि-अपश्य (Dietetic Regimen) का व्यादा ध्यान नहीं पड़ता है।

आगुणिक चिकित्सा पद्धति से हानियाँ

1. आत्म के प्रत्याल लक्षण (Cardinal Signs/Symptoms) वा अनुसार (Associated Signs/Symptoms) के विरुद्ध आत्म-इच्छा औषध देने पड़ती है जैसे-Analgesics, Antipyretics, Anti-inflammatory व Steroid औषधों को शोध की अवस्था में एक फैले हैं।
2. शरीर का संगठन पिण्ड व ग्राहण नियम से पार्वभौमिक है। इस चिकित्सायं अनेक असाम्य, बाहरी संरक्षणित रसायन (पार्वभौमिक फैल) पदार्थ लेने पड़ते हैं जिनसे अनुरोध (Drug Hypersensitivity) उत्पन्न होती है।
3. एक चार प्रयुक्त औषध दोषाता वही रोग होने पर पुनः प्रयुक्त करने पर कान व स्नायकर नहीं होती है (Drug Resistance)।
4. औषध को स्वास्थ्य लेने रहने पर औषध निर्भरता (Drug dependency) उत्पन्न हो जाती है जैसे-Sedative, Antihypertensive आदि।
5. कई सारे रोग उपचार स्वरूप (As a complication, side effects of adverse effects) उत्पन्न हो जाते हैं।
6. एक चार एक निश्चित मात्रा में दो गांव औषध कुछ दिनों के पश्चात उसी मर्द में कारण नहीं होती है। (Dose Dependency)

7. गात्रा अधिक से चार अधिक ग्राम (As a Drug Poisoning) का कार्य फैलती है। इसे ही Lethal dose वा Drug Over dose कहते हैं। जैसे Paracetamol Poisoning, Codeine Poisoning आदि।

7. रेकी चिकित्सा (Reiki Therapy)

रेकी शब्द ये अशब्द 'रे' और 'की' से मिलकर बना है। इसमें 'रे' का अर्थ जुट्टि (Wisdom) का उपल स्वरूप है और 'की' जीवन शक्ति (Vital Force) को बताता है। ये दोनों गिलाकार आप्लाइय ऊर्जा कहलाती हैं। ऊर्जा से उत्पन्न को यह विभिन्न इस विद्यार चार आधारित है कि विद्यारों में ऐसी शक्ति है जिसमें ऊर्जा को नियन्त्रित किया जा सकता है। रेकी जीवनी बौद्ध उपचार पद्धति 'किरणग' ज्ञा हो एक रूप है इसमें ऊर्जावों सदी के प्रारंभ में जापान के डॉ मिकाओ डग्युर्ह ने जीवित किया। यह पद्धति जिनको दवा के (Drugless Therapy) स्पर्श व संकलन शक्ति पर आधारित है। इस पद्धति में चिकित्सक अनुर के फिट कराकर या स्पर्श से स्पैन फैदा करता है। यह चहुआयामी ऊर्जा उपचार विधि है जो रोगों के शरीर, वस्त्रजल गत रोगों को बढ़ से दूर करती है। रेकी चिकित्सा पद्धति के निम्न पांच मुख्य सिद्धान्त हैं—

1. आत्म में दुखी नहीं होऊँगा।
2. आत्म में झोप नहीं करूँगा।
3. दूसरों के साथ उपचार करूँगा।
4. अपना काम तन्मयता से करूँगा।
5. दूसरों को धन्यवाद दूँगा।

प्रतिदिन प्रातःकाल एवं सार्वकाल उपर्युक्त सिद्धान्तों का जाप कर स्मरण रखना चाहिये। शरीर के प्रत्येक अंग में रेकी डाग उपचार किया जाता है। रेकी के अन्तर्गत चिकित्सक ऊर्जाप्रवाह का माध्यम बन जाता है। रेकी के मूलभूत उपचार के अन्दरमें ज्वरस्था में हाथों की विशेष स्थितियाँ होती हैं। इन स्थितियों में प्रमुख आन्तरिक धारा और इस धारी ग्रन्थियाँ अनिवार्य रूप से आती हैं, क्योंकि इनके द्वारा शरीर का रक्ताचानिक सञ्चुलन बना रहता है। विशेष कुछ वर्षों में शरीर के तात सूक्ष्म चक्रों को प्रवर्द्धित करने वाली हस्तमुद्रायें भी तुड़ गई हैं। ये सूक्ष्म चक्र शरीर के ऊर्ध्व न्यूनों में होते हैं, जहाँ सभी रसग्रन्थियाँ होती हैं।

यह पद्धति रोग मुक्ति का असामान्य देकर रोग के मूल कारण को दूर करने को चेष्टा करती है एवं उन दमित भावनाओं और ऊर्जा को पहचान करा देती है जिनके कारण रोगोंरपर्याप्त होती है। रेकी का विशेष आकर्षण है इसको सरताता। इसे किसी भी उच्च फा रोगी सम्मानित कर सकता है। इसमें 10 से 20 पटे का समय लगता है। अतः यह स्पष्ट है कि रेकी चिकित्सा में अद्याहु रोग के अंतर्गत जटक, ध्यान, चोग आदि से नितारे-





COLLECTION OF VARIOUS

- > HINDUISM SCRIPTURES
- > HINDU COMICS
- > AYURVEDA
- > MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with
By

Avinash/Shashi

Icreator of
hinduism
server

जुते कर ही सम्भवित होते हैं।

8. चुम्बकीय चिकित्सा पद्धति (Magnetic Therapy)

चुम्बकीय चिकित्सा या ऐसेनेट थीरी आज के समय में बहुत ही प्रभावित पद्धति है। इसमें चुम्बकीय प्रभाव याते थीरस लोह चुम्बक के दुकड़ों प्राप्त करता है। चुम्बक में उत्पन्न तरंगों (Electromagnetic waves) के माध्यम से जीव तंत्रों को चुम्बकीय तंत्र (CNS) तक पहुंचाने में व्यवधान उत्पन्न नियम कहा जाता है। यह विशेषज्ञ का मानक है कि चुम्बक हर्द या थोथ वाले स्थान पर रक्त संचार योग्य उपचार करती है। चुम्बकीय चंद्रों के उपचार की अधिक रोग पर निर्भर नहीं है। चुम्बकीय चंद्रों पर आठ चंद्र से व्यायाम समय तक सोने की सलाह नहीं दी जाती। चुम्बकीय चंद्रों पर एक रोग, डिफ्रोविलेटर का प्रयोग करने वाले, गर्भवती महिलाओं एवं अनुबंधु चुम्बकीय चंद्रों को इसका प्रयोग नहीं करता चाहिए। इस चिकित्सा पद्धति 91 उपचार योग्य व अनुभवी विशेषज्ञ की देखोख में करता चाहिए।

9. रंग चिकित्सा (Colour Therapy)

इस रंग चिकित्सा का आधार है- नूर की कंजी, नूर्द की किरणों (Rays) के विभिन्न रंग और रंगतों। रंगों में डाक्ताता, शीतलता एवं भार होता है। रंगों की शीतलता एवं डाक्ताता को माना जा सकता है उदाहरणार्थ एक कौच के पारदर्शी गलत में जल भक्षण दरमाने वाले यंत्र (Thermometer) रख दें। फिर उस पर विराणे ढालें, तत्त्व किरणे उपचार एवं नीली किरणे शीतलता प्रदर्शित करेंगी। जैन दर्शन में मूल रंग फैद नहीं है-

- | | |
|----------|---------|
| 1. नीला | 2. लाल |
| 3. काला | 4. पीला |
| 5. चंद्र | |

अन्य रंग इन पाँचों रंगों के मिश्रण रूप होते हैं। नूर किरणों के सात रंगों (इंडप्रिंट) में दोनों रंग लाल, पीला एवं नीला उपर्युक्त मूल रंगों से हैं। शोल (Violet, indigo, green, orange) जहर रंग इनके मिश्रण हैं। नूर किरणों के ने सात रंग, सात प्रकार औंगारीप के रूप में कार्य करते हैं, यानि समस्त व्याधियों का निराकरण इन्हीं से होता है। रंग चिकित्सक को प्रत्येक रंग के उपचार के लिए एक या दो रंगों को चुनना चाहिए है। रंग चिकित्सक को औषधियों का निर्माण यहुत ही सरल व आसान है। सालों रंग की औंगारीप स्वतः (Automatically) हैव्याप को जा सकती है। रंगीन औतलों में साधारण पीने वा बल, गुर्खा दानेदार चीजों तथा तैल डालकर धूप में रख देने से औंगारीप है। अंगारीप के जापार पर चलने वाली चिकित्सा पद्धतियों में रंग-चिकित्सा, सर्वोच्च स्वाभाविक है। इसके मुख्यतः निम्न दो कारण हैं-

1. ग्राही गति गत्यात् गर्भ रंगों है एवं गहरे से दिखने वाले सभी अंगों का रंग अलग-अलग है।
2. शरीर के अंदर भी समस्त अवश्य अलग-अलग रंग लिए हुए हैं। अर्थात् गत्यात् का समस्त गर्भीय रंगों का रिकॉर्ड है। जब चोंडे भी अवश्य व्याधि से प्रसा होता है तो उसके गत्यात्मक द्रव्यों के माय-व्याय रंगों में भी अलगतान आ जाता है। एवं चिकित्सा (Colour therapy) ऐसे गत्यात्मक द्रव्यों एवं रंगों को व्याधि कर देती है, फलस्वरूप रोग नियात हो जाता है। गर्भ में जहाँ वे विकल्पीय इंग्स (Antigens) एकत्रित होकर रोग उत्पन्न करते हैं, रोग चिकित्सा उसे द्रव्यों वाले अल्पतु शरीर के चाहरे नियात कर शोधन प्रभाव उत्पन्न करती है।

रंग चिकित्सा करते समय अपनायी जाने वाली संवादानियाँ-

1. आत्मर की प्रकृति, स्वभाव एवं अल्पतु का व्यान रखना चाहिए।
2. औषधीय रंग नियन्त्रित करते समय प्रदृढ़ित एवं कलत का व्यान रखना चाहिए।
3. अनेक व्याधियाँ एक साथ होने पर गंडों व्याधि की विकासना होते करे।
4. अंगारीप रोग की स्थिति में चिकित्सा न करें।

10. संगीत चिकित्सा (Music Therapy)

संगीत चिकित्सा शब्द शक्ति पर आधारित है। संगीत में जल स्वर (लोरे या न या न) होते हैं। इन सात स्वरों ने सत्य ऊर्जा (Sound energy) अलग-अलग होती है। योगी शरीर के सूक्ष्म ढांचे जो तिराया वैल जाते हैं। नेत्रदण्ड में इस, सिंहता और सुपुत्रा के बारे लगते हैं। जब वायु चंत्र तै संगीत व्याधियों विकल्पों हैं एवं शरीर को व्याधियों से टकराती है तो इस संमर्शण व सम्बन्धन से अनुभव का अंतर्नन्द, बहानेवाल हो जाता है। इन संगीत तांत्रिकों में ज्ञानाधारण शक्ति होती है। चौंकनी दैर्घ्य में संगीत चिकित्सा का प्रयोग प्रथम व द्वितीय विध्युत के दौरान घटन होन्हें के इलाज के लिए किये गया था। चुम्छ के दौरान खायीरिक, मानसिक एवं भवनात्मक रूप में दृष्टि नीनेवालों की संगीत सुनाकर इसे वैकल्पिक चिकित्सा बनाया गया। इसले नीनेवालों ने अनुकूल उपचार पढ़ा। शोधी तो जात हुआ है कि संगीत हनोर शरीर के अदर की भवनाओं (Emotions) को जाग्रत करता है, ये भावनाये महिलाओं वे कई इकार के स्थान महार हैं जो Endorphins का फलतात है। ये रासायन शूलहर (Analgesic), सन्दर्भहर (Anxiolytic) इन योगों वालोंकर (Mood elevators) का काम करते हैं। शरीर को रोग चिकित्सक भवाना (Immunity) यह जाती है। आवरकल संगीत चिकित्सा के गंडोंना संगीत सुनाने से सेकर, धूप बनाने, गीत देतार, धूनों पर पर्याप्त कराय, संगीत रखना वैसी महुत मां चोरों जागिल हो जाती है। संगीत चिकित्सक संवेदन्य वालायों के जरूरे अल्पतु से उसके शाश्वत, गमांद एवं भवनायों को सम्पत्ता है तब उसों के आधार पर उसके इलाज का